विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में तत्त्वमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा

रीडर

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्त्री

रश्मि सिंह

इलाहाबाद

१९९४

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय :

भारत में दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास

द्वितीय अध्याय :

व्यक्तित्व और कृतित्व

तृतीय अध्याय :

आलोच्य दर्शनों में परमसत्ता का स्वरूप

पंचम अध्याय :

आलोच्य दर्शनों में जीव- विचार

(घ) जगत और संसार में भेद

निष्कर्ष ।

सप्तम अध्याय :

आलोच्य दर्शनों में साधना का स्वरूप

भूमिका, भक्ति का मनोविज्ञान ।

(क) रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति -

भक्ति और ध्यान, भक्ति और उपासना, सेवा और भक्ति,

भक्ति के साधन - विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया- कल्याण,

अनवसाद, अनुद्धर्ष ।

भक्तों के प्रकार - आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी

प्रपत्ति मार्ग :

प्रपत्ति का स्वरूप, शरणागति के अंग

भक्ति और प्रपत्ति में भेद

कर्मज्ञान-भक्ति समन्वय

(ख) आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति -

भूमिका, स्वरूप, नवधाभक्ति

पुष्टिमार्ग :

शारीरिक पोषण, आध्यात्मिक पोषण ।

जीवों के कल्याण हेतु तीन मार्ग :

प्रवाह मार्ग, मर्यादा मार्ग, पुष्टि मार्ग

भक्ति के प्रकार :

मर्यादा भक्ति, पुष्टि भक्ति

पुष्टि- पुष्टि भक्ति, शुद्ध पुष्टि भक्ति

तुलनात्मक समीक्षा -

भक्ति का स्वरूप, प्रेम, भगवत्कृपा, शरणागति, सेवा, दैन्य, कर्मज्ञानभक्ति-

सामंजस्य, भक्ति के भेद, भक्ति एवं बाह्याचार ।

अष्टम अध्याय :

आलोच्य दर्शनों में साध्य का स्वरूप :

भूमिका

(क) आचार्य रामानुज के अनुसार साध्य की अवधारणा :

(1) मोक्ष का स्वरूप (2) मोक्ष के अवस्थाभेद : सालोक्यमुक्ति,

सामीप्य मुक्ति, सारूप्य मुक्ति और सायुज्यमुक्ति

(3) जीवन्मुक्ति का खण्डन (4) मुक्तात्मा का स्वरूप ।

(ख) वल्लभाचार्य के अनुसार साध्य की अवधारणा :

(1) साध्य भक्ति : स्वरूप समीक्षा (2) साध्य भक्ति का विकास क्रम -

प्रेम, आसक्ति और व्यसन ।

(3) निर्गुण भक्तियोग (4) साध्य भक्ति की सर्वोच्च अवस्था : सर्वात्मभाव

(5) ज्ञानमार्गीय, मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय साधकों के फल :

प्राक्कथन

==========

विचित्र रूपात्मक जगत् को देखकर मन में सहज ही होने वाले नाना कुतूहलों, प्रश्नों का उत्तर दर्शन में प्राप्त होता है, यह जानकर सदा से ही दर्शन के प्रति मेरे मन में जिज्ञासा व आस्था रही है । अध्ययन-काल के उत्तरार्ध में संस्कृत-वाङ्मय के माध्यम से भारतीय दर्शन का कुछ ज्ञान प्राप्तकर मुझे लगा कि दर्शन का कुछ ज्ञान प्राप्तकर मुझे लगा कि दर्शन तो जीवन का आवश्यक अंग है या यह कह सकते हैं कि जीवन जीने की कला ही दर्शन है ।

भारतीय दर्शन में " वेदान्तदर्शन " और उसमें भी "वैष्णव वेदान्त " का महत्त्व तो सर्वविदित ही है । अतः वैष्णव वेदान्त के दो प्रमुख सम्प्रदायों "विशिष्टाद्वैत" और "शुद्धाद्वैत" पर जब मुझे शोधकार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ तो अत्यधिक प्रसन्नता हुई ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है - " विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में तत्त्वमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन ।" विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत ,वैष्णव वेदान्त के दो अति विशिष्ट मत हैं, जिनका सूत्रपात तो क्रमशः "यामुनाचार्य " और "विष्णुस्वामी" ने किया था किन्तु इनका पल्लवन और स्थापना आचार्य"रामानुज" तथा"वल्लभाचार्य" ने किया है ।

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध में विषय - विस्तार के भय से प्रमुखतः दोनों आचार्यों के मतों की ही तुलनात्मक विवेचना की गयी है, यत्र-तत्र प्रसंगानुसार जहाँ इनके मत से सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों का मतभेद दृष्टिगोचर होता है वहाँ उनका भी उल्लेख किया गया है ।

समस्त वैष्णवाचार्यों के सर्वाधिक प्रबल प्रतिपक्षी आचार्य शंकर हैं अतः रामानुज और वल्लभ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए अधिकांश स्थलों पर शंकर के मत को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया है ।
भेदाभेदवादी भास्कराचार्य आचार्य रामानुज तथा शंकर के बीच की कड़ी माने जाते हैं अतः कतिपय विशिष्ट स्थलों पर प्रसंगवश उनके मत का भी उल्लेख किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य प्रमुखतः इन दो अतिविशिष्ट मतों का तुलनात्मक अनुशीलन है। यद्यपि दोनों आचार्यों की वस्तु-विषयक धारणायें बड़ी सीमा तक एक ही हैं तथापि अनेक सूक्ष्म अन्तर भी हैं, विशेषरूप से अद्वैत की धारणा और साधना पद्धति के सन्दर्भ में दोनों का वैषम्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । जहाँ एक ओर रामानुजाचार्य वैष्णव वेदान्त के प्रवर्तक हैं, वहीं दूसरी ओर वल्लभाचार्य मध्ययुगीन भारत के वैचारिक क्षितिज पर एक ऐसी प्रेरक शक्ति के रूप में उभरे हैं, जिसने कृष्णभक्ति को माध्यम बनाकर धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्रों पर अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ा है । अष्टछाप के समस्त कवि वल्लभाचार्य की ही परम्परा के अनुयायी हैं । सूरदास, नन्ददास आदि तो उनके साक्षात् शिष्य रहे हैं। जहाँ एक ओर रामानुजाचार्य ने भक्ति और प्रपत्ति की स्थापना कर दार्शनिक चिन्तन को एक नई दिशा दी ,वहीं दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तनकर रागानुगा भक्ति की सुदृढ़ स्थापना की । यद्यपि वल्लभाचार्य भी रामानुज की ही भाँति दास्यभाव से ईश्वर- आराधना करते रहे तथापि पुष्टिमार्ग में भक्ति

के विविध रूपों की प्रतिष्ठा हुई और रागानुगा भक्ति अपने समस्त ऐश्वर्य के साथ प्रकट हुई है । साधना पद्धति में अन्तर होने के कारण रामानुज और वल्लभ एक ही दार्शनिक मनोविज्ञान और परम्परा के पोषक होते हुए भी अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लेकर उभरे ।

प्रस्तुत शोधकार्य को पूर्ण करने में मुझे जिन शुभेच्छुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति मैं विनम्र आभार प्रकट करती हूँ ।

सर्वप्रथम मैं अपनी शोध - निर्देशिका डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा, रीडर, संस्कृत विभाग, के प्रति हृदय से आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिनकी स्नेहिल छाया में ही मैं यह कठिन कार्य करने का साहस कर सकी तथा जिन्होंने भगिनीवत् स्नेह से अनेक बार मुझे घोर निराशा के क्षणों में बल प्रदानकर मेरे कार्य को दिशा प्रदान की । इनके विद्वत्तापूर्ण, सारगर्भित कुशल निर्देशन में ही मेरा यह शोध- कार्य पूर्ण हो सका है ।

डॉ० राम किशोर शास्त्री, प्रवक्ता, संस्कृत विभाग के प्रति भी मैं कम आभारी नहीं हूँ जिन्होंने अनेक अनुपलब्ध ग्रन्थों को उपलब्ध कराकर ग्रन्थाभाव के कारण अवरुद्ध मेरे शोधकार्य को गति प्रदान की । उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

डॉ० आलोक कुमार सिंह (मेरे पति) के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ इनकी प्रेरणा से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका ।

इसके अतिरिक्त समस्त मित्रजनों एवं परिवारजनों, विशेषतः अपने माता-पिता के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने सहानुभूतिपूर्ण प्रोत्साहन के साथ ही साथ मेरी छोटी सी बच्ची को सम्भालकर अशावधि मातृत्व के गुरुतर दायित्व से मुझे मुक्त रखा, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन सम्भवतः मेरे प्रति उनके अतिशय स्नेह की अवमानना होगी । साथ ही अपनी नन्ही बेटी "अपूर्वा" के प्रति भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ, जिसके अक्षय स्नेहक्षणों की उपेक्षा का ही प्रतिफल प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है। अग्रजा डॉ० पद्मजा सिंह का स्नेह और सहयोग सदैव मेरा मार्गदर्शन करता रहा, एतदर्थ मैं उनकी अत्यन्त आभारी हूँ ।

श्री सी०पी०सिंह तथा डा० नन्द लाल शुक्ला जी के प्रति भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनका सहयोग मुझे पग- पग पर प्राप्त होता रहा ।

शोध प्रबन्ध के टंककर्ता श्री राकेश कुमार शुक्ल को मैं अनेकशः धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने अस्वस्थ होने पर भी अथक परिश्रम द्वारा अत्यल्प समय में इसका टंकण कार्य पूर्ण किया है । इसके अतिरिक्त सर गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, पब्लिक लायब्रेरी इलाहाबाद तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की जनरल लायब्रेरी के कर्मचारियों के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर मुझे बहुमुखी सहायता प्रदान की ।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगी कि इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हैं वे मेरी हैं तथा जो कुछ ठीक बन पड़ा है वह गुरुजनों व सुधीजनों का आशीर्वाद व प्रताप है, अतः सुधीजनों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे मेरे इस शोध प्रबन्ध का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययनकर उसमें जो कुछ भी न्यूनताएं रह गयी हों उनसे मुझे अवगत कराकर मेरा मार्ग दर्शन करें ।

जुलाई, 1994

शोधकर्त्री

रश्मि सिंह

(रश्मि सिंह)

प्रथम अध्याय

भारत में दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास

मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है । अपने दृष्टि पटल पर पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु के सन्दर्भ में वह विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । मनुष्य की इसी सहज प्रवृत्ति से एक ओर अनेकानेक वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं आविष्कारों तथा दूसरी ओर दर्शन का जन्म होता है । किसी पदार्थ को देखकर उसके विषय में जानने की इच्छा, उससे सम्बन्धित प्रयोग एवं नव निर्माण से भौतिक विज्ञान का जन्म होता है, किन्तु मानव - जिज्ञासा केवल बाह्य जगत के पदार्थों के ज्ञान से ही सन्तुष्ट होकर आध्यात्मिक प्रश्नों से भी उद्वेलित होती रही है । इन प्रश्नों का उत्तर हमें दर्शन से प्राप्त होता है ।

दृश धातु में ल्युट प्रत्यय के योग से उत्पन्न "दर्शन" शब्द का तात्पर्य है "विचार करना" । विश्व में हम जो कुछ भी देखते और जानते हैं या जानने की इच्छा रखते हैं उसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, एक है - "तथ्य समूह" और दूसरा "मूल्य जगत" [1] यहाँ तथ्यों से हमारा तात्पर्य बाह्य जगत या दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों से सम्बन्धित वास्तविकताएं हैं । तथ्य जगत अथवा वस्तुओं का संसार वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है । जबकि मूल्य जगत का अनुचिन्तन दर्शन का कार्य है । इस प्रकार दर्शन का विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है । विज्ञान की प्रमुख विशेषता तथ्यों या दृश्य जगत का वर्णन करना मात्र

- -

1. "भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन"
   - बलदेव उपाध्याय ।

है । वह संसार के विभिन्न भाग या खण्ड का अध्ययन करता है जबकि दर्शन समग्र संसार या उसके समस्त अनुभवों का अनुशीलन करता है, अर्थात् दर्शन हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है । इस प्रकार दर्शन का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है ।

" दृश्यते अनेन इति दर्शनम् " इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन का अर्थ है " जिसके द्वारा देखा जाय ।"हम कौन हैं, कहाँ से आए, यह विश्व कहाँ से उद्भूत हुआ , कहाँ इसका लय होगा, यह जीव- जगत्, पशु पक्षी क्या हैं, सुख - दुख क्या और कैसे हैं, आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का मुख्य ध्येय है ।

दर्शन को 'शास्त्र' कहते हैं । शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय । दर्शनशास्त्र भारत की समग्र विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है, इसीलिए मुण्डकोपनिषद् ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की प्रतिष्ठा मानता है । दर्शन शास्त्र विश्व की समस्याओं को समझने का एक मानवीय प्रयास है । भारतीय दर्शन की रुचि मानव की वास्तविकता में है । इसका उद्भव जीवन से होता है और विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायों में से होकर यह पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है ।

दार्शनिक चिन्तन सभ्य मनुष्य का स्वभाव है । मानव में दार्शनिक चेतना का विकास सभ्यता के साथ ही प्रारम्भ हो गया था । प्राचीनतम मनुष्य

के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है ।[1] प्रारम्भिक ऋग्वेदिक आर्यों का धार्मिक जीवन प्राकृतिक शक्तियों की उपासना पर आधारित था । ऋषियों ने जगत को आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष लोकों में विभक्त करके उनमें भिन्न - भिन्न देवी देवताओं को प्रतिष्ठित कर दिया था। इन्होंने अपने देवी- देवताओं की कल्पना मानवरूपों में की तथा उनमें समस्त मानवीय गुणों को आरोपित कर दिया था । उनका विश्वास था कि विभिन्न देवता केवल प्रकृति के रूप ही नहीं अपितु उनका शरीर भी मानवीय रूप का है । मनुष्य तथा देवता में अन्तर सिर्फ इतना था कि शरीरधारी होने पर भी मनुष्य दुर्बल, अमृतत्वहीन, पराधीन तथा अवगुणों से युक्त था जबकि देवता अमर, विभु सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र तथा दिव्यगुणों से युक्त था । देवता की कृपा से ही मनुष्य के समस्त कार्य सम्पन्न होते थे ।

प्रारम्भिक वैदिक चिन्तन का स्वरूप सरल था, उसमें मोक्ष, वैराग्य जैसी गूढ़ भावनाओं के लिए कोई अवकाश नहीं था । भौतिक जीवन की सुख -सुविधायें ही आर्यों को अभीष्ट थीं ।[2] प्रारम्भिक कर्मकाण्ड का स्वरूप और प्रयोजन दोनों ही सरल और सहज थे । योगक्षेम के लिए यज्ञ द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था । आर्य जीवन के सुखों का पूरा - पूरा उपभोग करना चाहते

- -

1· भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास - देवराज ।

2· ऋग्वेद 2/21/6

थे, तपस्या तथा मोक्षादि में उनका विश्वास नहीं था । उस समय यज्ञ-सम्पादन में स्त्रियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती थी । जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्रकृति की जानी -पहचानी शक्तियाँ थीं और उन्हें जो हवि प्रदान की जाती थी उसमें दूध, अन्न और घृत रहता था । प्रयोजन भौतिक कामनाओं की प्राप्ति करना था जैसे सन्तान, पशु इत्यादि की प्राप्ति अथवा शत्रु और रोग पर विजय ।[1] इस युग में कर्मकाण्ड विधि- निषेध की सीमाओं से रहित भक्तिपरक था, जो किसी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग के सुपुर्द नहीं था ।

कालान्तर में नाना देवताओं में विश्वास, जो प्राचीन वैदिक धर्म का एक विशिष्ट लक्षण था, धीरे - धीरे अपना आकर्षण खो बैठा और पुरानी कल्पनाओं से ऊबकर तथा सरल व्याख्या की इच्छा से प्रेरित होकर वैदिक युगीन आर्यों ने प्राकृतिक घटनाओं के कारण की नहीं अपितु उनके आदि या प्रथम कारण की खोज प्रारम्भ की । अनुभूत तथ्यों और घटनाओं में प्रकृति के नाना देवों की कल्पना उन्हें सन्तोष न प्रदान कर सकी । वैदिक ऋषि उस सर्वोच्च सत्ता के अन्वेषण में प्रयत्नशील थे जो सबके ऊपर शासन करती हो । धार्मिक चेतना की एक परम सत्ता की अवधारणा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति ने उसे सर्वोच्च देव की ओर प्रेरित किया और अन्त में उन्होंने खोज ही निकाला

- -

1. भारतीय-दर्शन [भाग - एक] - डॉ० राधाकृष्णन ।

कि एक ही परम तत्त्व है जो अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से अभिहित है।[1] इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म "बहुदेववाद" से एकेश्वरवाद के रूप में परिणत हो गया।

एकेश्वरवादी प्रवृत्तियों के साथ ही यज्ञ का विस्तार व जटिलता भी बढ़ती जा रही थी। ऋग्वैदिक काल की सरल पूजा विधि, समाप्त हो गयी और उसका स्थान जटिल कर्मकाण्ड से पूर्ण यज्ञों ने ले लिया। यज्ञ की उस संस्था के रूप में प्रतिष्ठा होती गयी जिससे अभीप्सित फल प्राप्त होते हैं। यज्ञों में दी जाने वाली हवि उस भक्ति के साथ नहीं दी जाती थी जिसे हम परवर्ती वैष्णव प्रभाव के अन्तर्गत देखते हैं। यज्ञ के स्वरूप में बहुत कुछ यान्त्रिकता आ गयी तथा यह विश्वास जमने लगा कि यज्ञ- सम्पादन में छोटी सी त्रुटि भी अनिष्ट का कारण बन सकती है तथा मन्त्रों के उचित प्रयोग तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड का ठीक - ठीक सम्पादन हो जाने पर फल प्राप्ति अनिवार्य है। भिन्न - भिन्न यज्ञों को कराने के लिए चतुर और दक्ष पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी। इनके बिना यज्ञ- सम्पादन असम्भव सा हो गया। यज्ञों में दुग्ध, घृत, काष्ठ, फल, हवन सामग्री, खाद्य पदार्थ पशु तथा द्रव्यादि का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा फलतः यज्ञ क्रिया इतनी अधिक व्ययसाध्य हो गयी कि वह सामान्य जनता की सामर्थ्य के बाहर हो गयी। इसके अतिरिक्त यज्ञ हिंसायुक्त हो गये, इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पशुओं की बलि दी जाने लगी।

1· एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।

देवताओं का महत्त्व और गरिमा इतनी कम हो गयी कि परवर्ती काल में मीमांसा दर्शन में उनका अस्तित्व बहुत गौण हो गया । फलतः इस कर्मकाण्ड प्रधान धर्म की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी । यह प्रतिक्रिया हुई उपनिषदों के गहन अन्तर्मुखी तत्त्व- विश्लेषण के रूप में ।

उपनिषदों ने वेदों में यत्र- तत्र बिखरे दार्शनिक विचारों को सुस्पष्ट और संहत रूप प्रदान किया । उपनिषद् दार्शनिकों के मनन और चिन्तन के परिणाम हैं । ये वेदों के अन्तिम भाग हैं , इनके अन्दर वैदिक साहित्य का सार है अर्थात् इनमें वेदों का चरमोत्कर्ष है, इसीलिए इसे 'वेदान्त' की संज्ञा भी दी गयी । " इसमें सत्य के इतने रूप हैं, ईश्वर की इतनी परिभाषाएं हैं कि परवर्ती सभी दार्शनिकों, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक , को अपने सिद्धान्तों के लिए अवकाश मिल गया ।"[1]

धर्म और दर्शन का लक्ष्य निर्धारण तथा केन्द्र परिवर्तन उपनिषदों की भारतीय दर्शन को सबसे बड़ी देन है । उपनिषदों ने कर्मकाण्ड के स्वरूप को यथावत् स्वीकार करते हुए उसके पीछे कार्य करने वाली भावना में परिवर्तन किया । अब तक धर्म का लक्ष्य भोग था, उपनिषदों ने उसे मोक्ष की ओर प्रेरित किया ।

- -

1· आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन "
" डा० राजलक्ष्मी वर्मा ।

उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त "अद्वैतवाद " है, अर्थात् समस्त सृष्टि के एक और अद्वितीय स्रोत में विश्वास रखने वाले अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही उपनिषदों का मुख्य ध्येय है । लगभग 108 उपनिषद् प्राप्त होते हैं जिनमें से दस प्रमुख हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं - ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ।[1]

मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार के ज्ञान का वर्णन प्राप्त होता है - 1· पराविद्या, और {2} अपराविद्या । इनमें से परा विद्या का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है तथा अपराविद्या का सम्बन्ध ज्ञान- काण्ड से । अपराविद्या के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

उपनिषदों के सिद्धान्तों को आचार्य बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्रों में एक क्रमबद्ध और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है । समस्त उपनिषदों का सूत्रों द्वारा ब्रह्म में तात्पर्य से समन्वय होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम " ब्रह्मसूत्र " है ।

उपनिषदों के पश्चात हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में असाधारण गतिविधियों के दर्शन होते हैं । जटिल ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया तथा उपनिषदों की आध्यात्मिक परम्परा में अनेक धर्म उभरे, जिनमें बौद्ध धर्म और भागवत धर्म प्रमुख हैं । सर्वप्रथम चार्वाक, जैन और बौद्ध धर्म उभरे । इनका जन्म ब्राह्मण धर्म के तीव्र विरोध में हुआ ।

1· ईशकेनकठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तित्तिरिः ।
2· ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं च दश ।।

जटिल और कृत्रिम ब्राह्मण धर्म न तो व्यक्ति की भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सका और न ही उसके समक्ष कोई अनुकरणीय आदर्श ही उपस्थित कर सका । यहाँ तक कि यह केवल धनिक और पुरोहित वर्ग तक ही सीमित रह गया । यह धर्म केवल तीन वर्णों, उनमें से भी अधिकांशतः समृद्ध व्यक्तियों की ही उपलब्धि था । इसमें शूद्रों व स्त्रियों के लिए कोई स्थान नहीं था , फलतः अधिकांश जनता धर्म रहित हो, अनाथ जैसी हो गयी क्योंकि धर्म ही वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य बौद्धिक योग्यता प्राप्त करके सम्पूर्ण विश्व की रचना एवं उसमें स्वयं के निश्चित स्थान को समझ सकता है। उसकी समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रह गयीं, सारे प्रश्न अनुत्तरित रह गये । ऐसे संकट के समय में बौद्ध धर्म ने किंकर्तव्यविमूढ़ समाज के सामने प्रेम और अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया ।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध थे । उत्तर में बौद्ध धर्म और दक्षिण में जैन धर्म अधिक लोकप्रिय हुआ । बौद्ध धर्म में ब्राह्मण काल की तरह जाति और सम्पत्ति का कोई बन्धन नहीं था । बौद्धधर्म ने उस समय प्राणियों पर दया और अहिंसा का प्रतिपादन किया जिस समय वैदिकी हिंसा पर्याप्त प्रचार में थी । उन्होंने नैतिकता और आचार की पवित्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया । बुद्ध ने चार आर्य सत्यों को प्रतिपादित किया वे सत्य है - 1• दुःख का अस्तित्व 2• दुःख का कारण 3• दुःख का अन्त और 4• दुःख नाश का उपाय ।

दुःख नाश के उपाय के रूप में बुद्ध ने आठ साधनों का निर्देश किया जिसे अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं ये आठ साधन हैं :-

§1§ सम्यग् दृष्टि §2§ सम्यग् संकल्प §3§ सम्यग् वाक् §4§ सम्यग् कर्मान्त §5§ सम्यग् आजीव §6§ सम्यग् व्यायाम §7§ सम्यग् स्मृति §8§ सम्यग् समाधि ।

इस अष्टांगिक मार्ग का अवलम्बन करने से मानव की अविद्या या अज्ञान दूर होता है और त्रिविध तापों से छुटकारा प्राप्त होने पर पुर्नजन्म नहीं होता । इस प्रकार इन्होंने मानवीय समस्याओं को सुलझाने के लिए विशुद्ध दार्शनिक उपायों की चेष्टा नहीं की, अपितु सामान्य व्यक्ति का धर्म के साथ सामान्यीकरण करने के कारण इसकी अत्यधिक प्रशस्ति हुई । बुद्ध ने अपने उपदेश भी पालि भाषा में दिये, जो उस समय जन- साधारण की भाषा थी । इस तरह बौद्ध धर्म अपने मूलरूप में सिद्धान्तपरक न होकर व्यवहारपरक था । अपने सहज स्वरूप के कारण उद्भव के कुछ ही समय बाद बौद्धधर्म भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म बन गया और ईसा की पाँचवी - छठीं शताब्दी तक भारत पर छाया रहा ।

बौद्ध सम्प्रदायों को जो प्रभुता प्राप्त हो गयी थी उसका धीरे - धीरे, मुख्यतः जोर पकड़ती हुई हिन्दू विचारधारा के प्रभाव से ह्रास होने लगा । दूसरे ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के आवेग में बौद्ध धर्म द्वारा कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म का विरोध तो हुआ किन्तु धर्म के दार्शनिक और भावात्मक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया गया । जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म केवल आचार प्रणाली

ही सुधारते रहे, फलतः अभ्युदय के बाद कुछ वर्षों तक तो ये धर्म बहुत लोकप्रिय रहे किन्तु जनमानस की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाने के कारण कुछ समय बाद इनकी भी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी ।

बौद्ध धर्म के निरन्तर प्रहारों से ब्राह्मण धर्म का अस्तित्व लुप्तप्राय होने को था कि उसे दो महान् दार्शनिक कुमारिल और शंकर का सहारा मिल गया । मीमांसकों ने, जिनमें कुमारिल प्रमुख है , वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तो की, किन्तु उपनिषदों के तात्त्विक चिन्तन की नहीं बल्कि ब्राह्मणों के शुष्क कर्मकाण्ड की, फलतः परिस्थितियों में कोई सन्तुलन नहीं आया ।

वैदिक धर्म को सही अर्थों में प्रतिष्ठा दिलाई आचार्य शंकर ने । शंकराचार्य भारत के सर्वाधिक चर्चित दार्शनिक रहे हैं । इनके बाद का समस्त वेदान्त साहित्य इनके प्रभाव से युक्त दिखायी देता है । बाद के जितने भी सम्प्रदाय हुए हैं, वे शंकर की प्रतिक्रियामात्र हैं, ये प्रतिक्रिया चाहे विरोध में व्यक्त हुई हो या समर्थन में ।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त " केवलाद्वैतवाद " नाम से प्रसिद्ध है । इनके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है , इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह मिथ्या है, वस्तुतः अविद्यमान होते हुए भी प्रतीयमान है - "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।"[1]

भगवान शंकर ने इसका स्पष्टतः उल्लेख किया है कि जो आत्मज्ञान

1· ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० - 14

सम्पन्न, ज्ञानीजन हैं उन्हीं के लिए संसार मिथ्या है, जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ है, उनके लिए संसार सत्य ही है, मिथ्या नहीं। अर्थात् व्यावहारिक स्तर पर संसार सत्य ही है, मिथ्या नहीं। पारमार्थिक स्तर पर ही संसार मिथ्या है। इस प्रकार वस्तुतः एक ही सत्य होने पर भी भिन्न - भिन्न क्षमता वाले व्यक्तियों के अनुसार उसकी दो श्रेणियाँ हुई - व्यवहार और परमार्थ।

शंकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, सच्चिदानन्द और अवाङ्मनसगोचर है। वह दृष्टि का विषय नहीं अपितु अनुभूति का विषय है। वह ब्रह्म ही अनिर्वचनीया माया की उपाधि से युक्त होकर ईश्वर कहलाता है और वही नामरूपात्मक विचित्र जगत् की सृष्टि करता है। माया से जन्य होने के कारण यह जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र[1] है। ब्रह्मस्वरूप से भिन्न इसकी कोई सत्ता नहीं है। जिस प्रकार रज्जु अन्धकारादि के कारण सर्परूप से प्रतीत होता हुआ, वस्तुतः सर्प नहीं हो जाता उसी प्रकार ब्रह्म भी मायोपाधि के कारण जगत् रूप से भासित होता है तथा माया का आवरण हटते ही ब्रह्म रज्जुवत् अपने शुद्ध सच्चिदानन्द रूप में भासित होने लगता है। इस प्रकार सृष्टि के अतात्त्विक होने से ब्रह्म का सृष्टृत्व भी अतात्त्विक अर्थात् कल्पित है। अज्ञान के कार्यभूत कारण - शरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर की उपाधि से युक्त होकर ब्रह्म ही " जीव" बन जाता है, इस प्रकार जीव भी परमार्थतः ब्रह्म ही है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर जीव अज्ञानजन्य शरीरत्रय की उपाधि से रहित होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हो जाता है। संक्षेप में शंकराचार्य के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, इसके

---

1. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः, वेदान्तसार: सदानन्द, पृ0-12।

अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है वह रज्जुसर्पवत् ब्रह्म का विवर्तमात्र ही है।

शंकर का दृष्टिकोण अत्यन्त विस्तृत और उदार था किन्तु कालान्तर में धीरे - धीरे मानव संवेदना से दूर होता गया क्योंकि तत्कालीन समाज शंकर के शुष्क ज्ञान मार्ग से सन्तुष्ट न था। शांकर मत केवल उन साधकों के लिए ही अनुकूल सिद्ध हुआ, जो आध्यात्मिक उन्नति की एक निश्चित अवस्था तक पहुँचने में सफल हो सके थे। उनके आदर्शवादी एवं वस्तुनिरपेक्ष दृष्टिकोण को जनसाधारण हृदयंगम न कर सका।[1] शंकर का उदासीन ब्रह्म, जनसाधारण को संकट के समय कोई संतोष या सान्त्वना नहीं प्रदान कर सकता, वह अपने उपासकों के भय और प्रेम के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रहता है। शांकर मत में जगत् को आभास मात्र कहा गया और ईश्वर को एक शुष्क निरपेक्ष अन्धकार के साथ-साथ प्रकाश की पराकाष्ठा भी।[2] वास्तविकता तो यह है कि तर्कसम्मत व समयानुकूल होते हुए भी शंकर ब्रह्म और जगत् के मध्य पूर्ण समन्वय स्थापित न कर सके। एक ओर तो उन्होंने ब्रह्म की अद्वयता को अमूर्त्त की चरमावस्था पर पहुँचा दिया और दूसरी ओर जगत के व्यावहारिक महत्व को स्वीकार करके भी उसकी निस्सा-रता और मिथ्यात्व के प्रतिपादन द्वारा सामान्य मानव को समाज की ओर से पराङ्मुख कर दिया।[3] इस प्रकार शंकर का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और अमूर्त हो

- -

1. भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, डा० नारायण प्रसाद बाजपेई पृ० 76
2. भारतीय दर्शन भाग दो - डा० राधाकृष्णन्.
3. भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना- डा० नारायण प्रसाद बाजपेयी पृ० 76

हो गया कि सामान्य जीवन का ध्येय नहीं बन सका । शंकर का निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म सामान्य व्यक्ति की समझ से परे था, फलतः जनसाधारण शंकर के ब्रह्म की अद्वैतपरक विचारधारा से पूर्णतः विरक्त हो गया ।

शंकर के निर्विशेषवादी दर्शन की प्रतिक्रिया में वैष्णव, शैव और शाक्त धर्मों का उत्थान हुआ । ये सभी ईश्वरवादी धर्म हैं और इनके धर्मग्रन्थ हैं - पंचरात्रसंहिता, शैवागम और तन्त्र ।

इनकी दृष्टि बहुत सन्तुलित और उपयोगी थी । उन्होंने मानव - मूल्यों तथा मानव - वैयक्तिकता को इस तरह मिलाकर ग्रहण किया कि वे अति मानवीय हो गये । इन धर्मों में ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया । यहाँ भक्त का ज्ञानी होना आवश्यक नहीं वरन् ईश्वर के प्रति सर्वातिशायी प्रेम और सर्वात्मना समर्पण की ही आवश्यकता है । इसमें जाति , वर्ग और सामाजिक स्तर को कोई स्थान नहीं दिया गया ।

शैव मत में शिव को सर्वोपरि यथार्थ सत्ता मानकर उनकी उपासना किये जाने का विधान है । शैव सिद्धान्त स्वयं को "शुद्धाद्वैत " कहता है जो वाल्लभ सम्प्रदाय की संज्ञा है । वाल्लभ मत में शुद्ध का अर्थ है "मायासम्बन्ध-रहित " तथा अद्वैत का तात्पर्य है " त्रिविधभेदशून्य " किन्तु शैव मत में शुद्ध का अर्थ है " निर्विशेष " तथा अद्वैत का अर्थ है " भेदरहित द्वैत " । जीव और जगत् तत्त्वतः शिव से भिन्न हैं किन्तु उनका शिव से सम्बन्ध अपृथक -अभेद

है । जीव और जगत् सत्य और नित्य हैं ।

शिव परम तत्त्व है उनकी संज्ञा " पति " है क्योंकि वे सबके स्वामी हैं। वे अनादि, अजन्मा, स्वत्या निर्दोष, सब कार्यों के कर्ता और सर्वज्ञ है । शिव जगत् के निमित्त कारण, उनकी शक्ति सहकारी कारण तथा माया उपादान कारण है । जीवात्माओं को 'पशु' कहा गया क्योंकि वे पशुवत् अविद्यारूपरज्जु द्वारा संसार में बंधे हैं । जीवों के बन्धन को 'पाश' कहते हैं । ये त्रिविध हैं - अविद्या, कर्म और माया । इन्हीं तीनों से छुटकारा पाना 'मुक्ति' है । जो शिव के अनुग्रह से ही सम्भव है । मोक्षावस्था में जीव का शिव से तादात्म्य हो जाता है, तादात्म्य का अर्थ यहाँ अपृथक्त्व है । मोक्ष में भी जीव का अस्तित्व बना रहता है क्योंकि जीव की सत्ता नित्य है किन्तु शिव के आनन्द में तन्मय हो जाने से जीव को अपने व्यक्तिभाव का भान नहीं होता।[1]

शाक्त मत में शिव की पत्नी शक्ति को इष्टदेवी मानकर उनकी उपासना की जाती है । शक्ति की पूजा करने के कारण इनके उपासक "शाक्त" कहलाते हैं । शाक्तों के अनुसार शिव परम तत्व हैं तथा शक्ति उनकी अभिन्न चित् शक्ति है । शक्ति सच्चिदानन्दरूपिणी हैं । माया या प्रकृति उन्हीं के अन्तर्गत हैं । सम्पूर्ण विश्व शक्ति का उन्मेष हैऔर उसी के अन्तर्गत है । शाक्त तन्त्र अद्वैतवादी है । तन्त्र का ध्येय उपासक का उपास्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना है ।[2]

1· भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन - चन्द्रधर शर्मा, पृ0 - 349-50

2· भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन - चन्द्रधर शर्मा, पृ0 - 357

शैव और शाक्त दोनों क्रियात्मक रूप में एक ही थे, इनमें अन्तर सिर्फ इतना ही था कि शाक्तों ने आदिवासियों के कुछ विधि - विधानों को भी अपने नियमों में सम्मिलित कर लिया था। वे शिव की पत्नी शक्ति की पूजा करते थे। चूँकि शिव अज्ञेय हैं, अगम्य तथा सर्वथा निष्क्रिय हैं, अतः शक्ति जो कि तन्मय तथा सदा क्रियाशील है, दैवी कृपा की स्रोत बन गयीं।

भागवत धर्म के प्रवर्तक वृष्णि वंशी "कृष्ण" थे। इन्हें वसुदेव का पुत्र होने के कारण "वासुदेव कृष्ण" कहा जाता है। षड् ऐश्वर्य सम्पन्न होने के कारण "कृष्ण" ही "भगवत्" शब्द से अभिहित किये जाते हैं। कृष्ण द्वारा प्रवर्तित होने वाला धर्म "भागवत धर्म" नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत काल में कृष्ण का समीकरण "विष्णु" से किया गया तथा भागवत धर्म "वैष्णव धर्म" बन गया।

शाक्त, शैव और भागवत धर्मों में से भागवत धर्म अधिक लोकमान्य हुआ। शाक्त धर्म धीरे - धीरे अपनी तान्त्रिक प्रक्रियाओं में फंस गया तथा शैव धर्म दक्षिण तक ही सीमित रह गया। केवल भागवत धर्म ही ऐसा था, जो दक्षिण से समस्त भारत में फैल गया तथा विविध विचारधाराओं से समन्वित होकर उस व्यापक धर्म का रूप ले लिया जो आज हिन्दू धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णव धर्म अपने स्वरूप में समन्वयात्मक और अनेक विश्वासों का संगम है। कालान्तर में इस वैष्णव धर्म में अनेक सम्प्रदाय हुए जिनमें चार प्रमुख हैं - रामानुज का श्री सम्प्रदाय, मध्व का ब्रह्मसम्प्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय तथा

निम्बार्क का सनक सम्प्रदाय । ।

इन चारों सम्प्रदायों का जन्म मूलतः दक्षिण में ही हुआ था किन्तु रामानुज के श्री सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य तीनों सम्प्रदायों के क्रियाकलाप तथा प्रभाव का क्षेत्र प्रमुखतः उत्तर - भारत ही रहा । इन चारों सम्प्रदायों में से श्री सम्प्रदाय राम भक्ति तथा अन्य तीन कृष्ण भक्ति का आधार बने ।

भक्त नाभादास ने अपने छप्पय में कहा है कि जैसे भगवान के चौबीस अवतार हुए हैं वैसे ही कलियुग में भगवान के चार व्यूह प्रकट हुए हैं [1] जो क्रमशः रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य निम्बार्काचार्य तथा विष्णुस्वामी हैं ।

इन चारों आचार्यों के सिद्धान्तों में कुछ विशिष्ट अन्तर होने पर भी इनकी मूलभूत मान्यताएं एक सी हैं । इनके द्वारा मान्य कुछ सामान्य सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं -

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मायावाद का सिद्धान्त वैष्णवाचार्यों को मान्य नहीं है । प्रायः सभी मतवादों में मायावाद का खण्डन किया गया है । ईश्वर को शरीरधारी एवं आत्मा के पृथक व्यक्तित्व को, जो सर्वोपरि ब्रह्म में विलीन नहीं होता किन्तु उसका सहचारी है, मानने में भी सब एकमत हैं । [2]

---

1. "चौबीस प्रथम हरि वपु धरे त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट " -नाभादास
2. भारतीय दर्शन भाग दो - राधाकृष्णन , पृ० - 663

प्राय: सभी वैष्णवाचार्यों का मोक्ष के साधन रूप में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर अधिक आग्रह दिखाई देता है। वैष्णवों ने भगवान के सगुण, सविशेष रूप का ही वर्णन किया है। इनके अनुसार भगवान् विभु हैं, तथा जीव अणु है किन्तु जीव मिथ्या या भ्रम नहीं है अपितु जीव की भी वास्तविक सत्ता है। जीव ब्रह्म का अंश है तथा उसकी स्थिति अणुरूप की है। वैष्णव मत में जीवन्मुक्त के लिए अवकाश नहीं है, सभी ने विदेहमुक्ति की ही कल्पना की है। विदेहमुक्ति की दशा में जीव भगवान के सान्निध्य में उनकी सेवा से परम पद को प्राप्त करता है। मुक्ति की अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय नहीं होता बल्कि जीव तथा ईश्वर में किंचिद् भेद बना ही रहता है। पाञ्चरात्र का प्रामाण्य सबको मान्य है परन्तु श्री वैष्णव मत पर इसका प्रभाव अत्यधिक है। पुराणों में विष्णु पुराण रामानुज को तथा मध्व को मान्य है। श्रीमद्भागवत वल्लभ तथा चैतन्य सम्प्रदाय का सर्वस्व है। प्रस्थानत्रयी सभी दार्शनिकों को समान रूप से मान्य है।

इन वैष्णव मतों में जीव, ईश्वर, मुक्ति तथा भुक्ति की कल्पना में साम्य है परन्तु इनमें जो परस्पर भेद प्रतीत होता है, वह जीव तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध के ऊपर आश्रित है। इन चारों मतों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है –

श्री सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि भगवान विष्णु ने इसका सर्वप्रथम उपदेश श्री देवी (लक्ष्मी) को दिया था।[1] उन्हीं के नाम पर इसका नाम

1· ब्रजस्थ धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, प्रभुदयाल मीतल, पृ0 – 148

"श्री सम्प्रदाय " पड़ा । इसका दार्शनिक सिद्धान्त " विशिष्टाद्वैतवाद " नाम से प्रसिद्ध है ।

इस मत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज हैं । रामानुज का विशिष्टाद्वैत शंकर के मायावाद का सर्वाधिक सुन्दर और तर्कपूर्ण खण्डन है । उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म के सगुण,सविशेष रूप का प्रतिपादन उतनी ही सफलता से किया है जितनी सफलता से आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्विशेषत्व का किया है । भक्ति सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिष्ठा और दर्शन के क्षेत्र में मान्यता दिलाने वाले रामानुज पहले आचार्य हैं ।

रामानुज के सिद्धान्तों पर आलवारों का सर्वातिशायी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, अतः रामानुज की चर्चा के पूर्व आलवारों के विषय में किंचिद् ज्ञान लेना असमीचीन न होगा ।

आलवार दक्षिण भारत में जनमानस के हृदय में भगवत प्रेम की निष्ठा तथा आस्था को जागृत करने वाले वैष्णव सन्त हैं । आलवार शब्द का अर्थ है " अध्यात्मज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला " [1] व्यक्ति । ये सन्त भगवान नारायण के सच्चे प्रेमी उपासक थे । इनका एक ही व्रत था, विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वयं लीन होना तथा अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को लीन करना।

- -

1. " वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त " -

- आचार्य बलदेव उपाध्याय

आल्वारों की स्तुतियों का संग्रह "नालायिर प्रबन्धम्" नाम से विख्यात है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द से ओत-प्रोत अध्यात्म-ज्ञान की एक अनमोल निधि है। इनकी रचनायें श्री विष्णु के प्रति अनन्य और समर्पित प्रेम से ओत-प्रोत हैं। यही आत्मार्पित प्रेम परवर्ती प्रपत्ति भावना का आधार और मूल तत्त्व है। ये रचनायें भक्ति की आत्मविस्मृत तन्मयता लिये हुए हैं, उनमें तत्त्व के दार्शनिक विश्लेषण के लिए स्थान नहीं है।

इनके अनुसार भगवत्कृपा ही मुक्ति का एकमात्र साधन है तथा इसके लिए जीवकृत किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, आत्मसमर्पण ही पर्याप्त है। आल्वारों के अनुसार ईश्वर की कृपा का एकमात्र नियामक भगवान् का अनुग्रह है, यह भगवदनुग्रह सर्वातिशायी भक्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होता है।

आल्वारों के दो प्रकार के नाम, मिलते हैं। एक तो तमिल और दूसरा संस्कृत।[1] इनके पद वेदमन्त्रों के समान पवित्र माने जाते हैं। पवित्रता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से इन भक्तों के पदों का संग्रह "तमिलवेद" के नाम से पुकारा जाता है। आल्वारों की संख्या बारह है जिनके नाम इस प्रकार हैं- पोयगे आल्वार (सरोयोगी), भूतत्तालवार (भूतयोगी), पेयाल्वार (महत योगी), तिरुमडिसै आल्वार (भक्तिसार), शठकोप (नम्माल्वार, इन्हें परांकुश मुनि भी कहते हैं), मधुर कवि आल्वार, कुलशेखर, पेरि आल्वार

---

1. "भूतं सरश्च महदाह्वय, भट्टनाथ, श्री भक्तिसार -कुलशेखर-योगिवाहान्। भक्ताङ्घ्रिरेणु- परकाल-यतीन्द्रमिश्रान, श्रीमत् परांकुशमुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम्।।
- पराशर भट्ट

{विष्णु चित्त} गोदा आण्डाल {रंगनायकी}, तोण्डरडिप्पोली {विप्रनारायण} भक्त पद रेणु}, तिरुप्पन {मुनिवाहन - योगवाह} और तिरुमंगैयाल्वार {नीलनपरकाल}। इनमें सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और भक्तिसार सबसे प्राचीन है।

विष्णु चित्त :

श्री पेरि आल्वार ने बहुत बचपन से ही अपना चित विष्णु में लगा रखा था इसीलिए उनका नाम विष्णुचित्त पड़ा। ये भगवान की उपासना वात्सल्य भाव से करते थे।

गोदा- आण्डाल :

इनका जीवन चरित्र मीराबाई से मिलता-जुलता है। ये बचपन से ही विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द का उच्चारण नहीं करती थीं। बाद में वे भगवान रंगनायक को ही पतिरूप में भजने लगीं। "तिरुप्पावै", "नाच्चियार", "तिरोमोलि" इनके भक्तिरस पूर्ण ग्रन्थ है। इनके भक्तिरसपूर्ण गीतों का एक संग्रह "गोदागीतावली" नाम से प्रकाशित हुआ है।

कुलशेखर : ये कोल्लिनगर {केरल} के धर्मात्मा राजा दृढ़व्रत के पुत्र थे। उनके उपास्य भगवान श्रीराम थे और ये दास्यभाव से उनकी उपासना करते थे। उन्होंने "मुकुन्दमाला" नामक एक स्तोत्र ग्रन्थ संस्कृत में लिखा। ये भगवान की कौस्तुभ मणि के अवतार माने जाते हैं।

विप्रनारायण :

ये एक उच्च ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे । शास्त्रों में निष्णात होकर उन्होंने अपने को भगवान रंगनाथ जी के चरणों में अर्पित कर दिया था । उन्होंने अपना नाम भक्ति पद रेणु रखा और बड़ी श्रद्धा से भक्तों की सेवा करने लगे ।

मुनिवाहन (तिरुप्पनाल्वार)

ये जाति के अन्त्यज थे । धान के खेत में पड़े बालक तिरुप्पन को पाकर वह अस्पृश्य धन्य हो गया । बड़े होकर ये संगीत विद्या में पारंगत हुए, वीणा पर वे केवल हरिनाम का गान करते थे । मन्दिर वीणा पर वे केवल हरिनाम का गान करते थे । मन्दिर में जाने की प्रबल इच्छा होने पर भी अछूत होने के कारण वे साहस नहीं कर सकते थे । अन्तर्यामी भगवान ने भक्त की उत्कण्ठा देखकर सारंगमा मुनि को उन्हें कन्धे पर बिठाकर मन्दिर लाने की आज्ञा दी । मुनि द्वारा लाये जाने के कारण ही इनका नाम मुनिवाहन पड़ा ।

सरोयोगी, भूतयोगी, महत्‌योगी :

इनका स्थान आल्वारों में सबसे प्राचीन है। उन्होंने लगभग तीन सौ भजन बनाए थे । उन्हें ऋग्वेद का सार - स्वरूप समझा जाता है । ये तीनों भक्त मानों ज्ञान और भक्ति के सगुण अवतार ही थे । इनके पद्यों का संग्रह " ज्ञान - प्रदीप " के नाम से विख्यात है । सरो योगी का जन्म काँची नगरी में हुआ था । भूतयोगी का महाबलीपुर में तथा महत्‌योगी का मद्रास के समीप मैलापुर में हुआ था । ये तीनों भक्त भक्ति तथा ज्ञान के जीवित प्रतीक थे ।

भक्तिसार :

दक्षिण भारत में " तिरुमडिसै " नामक एक तीर्थ है, जहाँ जन्म ग्रहण करने के कारण भक्तिसार इस नाम से विख्यात हुए । अल्पायु में ही इन्होंने प्राय: सभी धर्मग्रन्थ पढ़ डाले थे । तपस्या तथा भजन इनके जीवन का सर्वस्व था । इनके उपदेशों का सार इस प्रकार है -

भक्ति भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है । भगवान् की कृपा को पाकर मनुष्य अजेय बन जाता है । भगवत्प्रेम ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी सम्पत्ति है । नारायण ही जगत् के आदि कारण हैं । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों वही हैं । नारायण ही सब कुछ हैं, वे ही हमारे सर्वस्व हैं ।

नीलनपरकाल :

ये एक बहादुर योद्धा के पुत्र थे । उन्होंने भगवान विष्णु की स्तुति के हजारों पद बनाये, जिन्हें " महाकाव्य " कहा जाता है । वे भी भगवान की उपासना दास्यभाव से करते थे, इन्होंने एक बार बौद्धों को शास्त्रार्थ में हराकर " विशिष्टाद्वैत " सिद्धान्त की स्थापना की । वे भगवान् के शार्ङ्ग धनुष के अवतार माने जाते हैं ।

शठकोप :

इन द्वादश आलवारों में शठकोपाचार्य का स्थान बहुत ऊँचा था । ये जन्मसिद्ध भक्त माने थे । ये भगवान के गणाध्यक्ष विश्वक्सेन के अवतार थे । सुना जाता है कि जन्म के दस दिन तक इन्हें भूख- प्यास कुछ भी नहीं लगी । इस रहस्य को समझकर इनके माता-पिता ने इन्हें स्थानीय मन्दिर में एक इमली के वृक्ष के नीचे छोड़ दिया । तब से सोलह वर्षों तक वे साधना में लीन रहे

तथा सिद्धि प्राप्त की ।

मधुरकवि : ये शठकोप के शिष्य थे , इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं - " तिरुविरुत्तम् ", " तिरुवाशिरियम् ", पेरियतिरुवन्तादि " तथा "तिरुवाय मोलि " । वेदान्त- देशिकाचार्य ने तिरुवाय मोलि को द्रविड़ उपनिषद् कहा । ये गोपीभाव के उपासक थे । कहते हैं कि भगवान् ने प्रसन्न होकर स्वयं इन्हें अपना आलवार (नम् आलवार) कहा था ।

आलवार - युग के अनन्तर आचार्ययुग आता है जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड तथा मीमांसा के विद्वान् आचार्यों ने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की उपादेयता सिद्ध की तथा मायावाद का प्रबल खण्डन कर ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरलतर भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा की । आलवार तथा आचार्य दोनों ही विष्णु भक्ति के जीवन्त प्रतिनिधि थे, किन्तु दोनों में एक पार्थक्य है-" आलवारों की भक्ति उस पावनसलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है जो स्वयं उद्वेलित होकर प्रखर गति से बहती जाती है और जो कुछ सामने आता है बहाकर अलग फेंक देती है और आचार्यों की भक्ति उस तरंगिणी के समान है जो अपनी सत्ता जमाए रखने के लिए रुकावट डालने वाले विरोधी पदार्थों से लड़ती-झगड़ती आगे बढ़ती है ।[1]

- -

1· " वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त "
- आचार्य बलदेव उपाध्याय

आलवारों के जीवन का एकमात्र आधार था प्रपत्ति व विशुद्ध भक्ति, किन्तु आचार्यों के जीवन का एकमात्र सार था भक्ति और कर्म का समन्वय ।

आचार्य परम्परा में सर्वप्रथम नाथमुनि का नाम आता है । नाथमुनि एक विशिष्ट पाण्डित्य सम्पन्न महापुरुष थे, उन्होंने "न्याय तत्त्व " तथा "योग रहस्य " नामक ग्रन्थों की रचना की । नाथमुनि के पुत्र ईश्वरभट्ट तो उतने प्रसिद्ध न हुए किन्तु उनके पुत्र यामुन मुनि ने महापण्डित के रूप में सम्मान प्राप्त किया । यामुनाचार्य को विशिष्टाद्वैत अथवा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का वास्तविक संस्थापक बताया जाता है । कहा जाता है कि रामानुज के नाम से ज्ञात सभी सिद्धान्तों की नींव उन्होंने ही डाली । यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, स्तोत्ररत्न आदि विविध ग्रन्थों की रचना की ।

यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी रामानुज हुए । आचार्य शंकर की तरह रामानुज ने भी समस्त भारत देश का भ्रमण किया तथा वैष्णव मन्दिरों का पुनरुद्धार किया । उनके लिए धर्म में जातिगत परम्पराओं और व्यवधानों का कोई अर्थ नहीं था । तिरुनारायण के मन्दिर में उन्होंने अछूतों के भी प्रविष्ट होने की व्यवस्था की थी ।

बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र पर रामानुज ने एक भाष्य रचना की, जिसका नाम "श्रीभाष्य " है । इसी में उन्होंने अपने " विशिष्टाद्वैत " सिद्धान्त की व्याख्या की है । उनकी दृष्टि में चित्, अचित् और ईश्वर ये तीन तत्त्व हैं ।

चित् तत्त्व आत्मा है तथा अचित् जड़ तत्त्व है चित् और अचित् दोनों ही तत्त्व ईश्वर के विशिष्ट गुण तथा उसके शरीरभूत हैं। तीनों तत्त्व अविनाशी हैं किन्तु चित् और अचित् ब्रह्म पर आश्रित हैं। जबकि ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र है। चित् और अचित् ब्रह्मात्मक हैं तथा ब्रह्म के " प्रकार " और "विशेषण-भूत " हैं, ब्रह्म "प्रकारी" और "विशेष्य " है। इस प्रकार ब्रह्म और चिदचित् का अद्वैत विशेष्य विशेषणभाव से विशिष्ट होने के कारण "विशिष्टाद्वैत " कहलाता है।

रामानुज ने शंकर के निर्विशेषवाद का प्रत्याख्यान करके ब्रह्म के सविशेषत्व का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार निर्गुण पदार्थ की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म सविशेष, सगुण और साकार है। उसे निर्गुण केवल इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह प्राकृत गुणों से रहित है, वह दिव्य और अप्राकृत गुणों से युक्त है।

ईश्वर जो कि सृष्टि के पूर्व सूक्ष्म रूप में रहता है, सृष्टि के समय अपने को ब्रह्माण्ड रूप में विकसित कर लेता है।[1] ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारकर्ता है, इस प्रकार वह जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है।

---

1. भारतीय साधना की धारा - महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ।

इनके अनुसार मोक्ष का अर्थ ब्रह्म और जीव का ऐक्य नहीं अपितु अपृथग्सिद्धि है । भगवान के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है । मुक्ति की अवस्था में भी आनन्दोपभोग के लिए जीव का अस्तित्व बना रहता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत मतों की तुलना है अतः इनके सिद्धान्तों का वर्णन आगे के अध्यायों में विस्तार से किया जाएगा सकता । यहाँ पर उनके सिद्धान्तों का सार संक्षेप में दिया जा रहा है ।

रामानुज के महनीय प्रयासों से वैष्णव धर्म का दक्षिण में खूब प्रचार हुआ । किन्तु इनकी मृत्यु के केद सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो स्वतन्त्र मत तेंगलइ और वडगलइ हो गये ।[1] इस विरोध का प्रधान बीज था । तमिल तथा संस्कृत का झगड़ा । तेंगलइ तमिल वेद को शास्त्रीय मानते थे तथा संस्कृत वेद में उनकी आस्था नहीं थी । जबकि वडगलइ दोनों को एक समान प्रामाणिक मानते थे किन्तु स्वभावतः वे संस्कृत के पक्षपाती थे । तेंगलइ के अनुसार वैष्णव मत में शरणागति ही एकमात्र मोक्ष का उपाय है । जिसमें कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वडगलइ के अनुसार जीव को प्रपत्ति के लिए भी कर्म की आवश्यकता होती है। मार्जार किशोर और कपि किशोर का दृष्टान्त इस मतवाद के विभेद को स्पष्ट करता है । मार्जार किशोर स्वयं को निश्चेष्ट होकर अपनी माता के आश्रय में डाल देता है, उस क्रियाहीन बच्चे की रक्षा माता स्वयं करती

- -

1· " वैष्णव साधना और सिद्धान्त: हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव "
- स्व0 डॉ0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र " माधव "

है (तेंगलमत) । कपिकिशोर अपनी रक्षा के लिए अपनी माता के शरीर को जोर से पकड़े रहता है अतः रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व स्वयं बच्चे पर रहता है (बडगलइ)। भक्तों की भी यही द्विविध श्रेणी है । तेंगलइ मत के प्रतिष्ठापक लोकाचार्य हैं जिन्होंने " श्रीवचनभूषण " ग्रन्थ में प्रपत्ति मार्ग का विशद विवेचन किया है । बडगलइ मत के प्रवर्तक हैं वेदान्तदेशिक । आजकल लोकभाषा में अधिक पक्षपात होने के कारण दक्षिण में तेंगलइ मत पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है ।

हंस सम्प्रदाय :

वैष्णव धर्म का दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय हंस सम्प्रदाय है । इसके संस्थापक मध्वाचार्य (1199-1303 ई०) हैं । इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त "द्वैतवाद " नाम से प्रसिद्ध है । ये दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवाद के संस्थापक थे तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक । अद्वैत मत का तीव्रतम खण्डन द्वैतवादियों द्वारा ही हुआ है ।

इनके मत में भेद स्वाभाविक और नित्य है । ये भेद पाँच प्रकार के हैं -

1· ईश्वर और जीव-भेद - जीव ईश्वर से तथा ईश्वर जीव से नित्य भिन्न है ।

2· ईश्वर और जड़-भेद - जड़ ईश्वर से तथा ईश्वर जड़ से नित्य भिन्न है ।

- -

1· "वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त "
- आचार्य बलदेव उपाध्याय

3• जीव जड़-भेद : - जीव जड़ से तथा जड़ जीव से नित्य भिन्न है ।

4• जीव- जीव भेद : एक जीव अन्य जीव से नित्य भिन्न है ।

5• जड़- जड़ भेद - एक जड़ पदार्थ दूसरे जड़ पदार्थ से भिन्न है ।

इस पंचविध भेद का ज्ञान मुक्ति में सहायक होता है ।

जिस प्रकार ईश्वर सत्य है, उसी प्रकार ईश्वर और जीव का भेद भी नित्य सत्य है । यह जगत् सत्य है तथा उक्त पंचभेद युक्त जगत् का प्रवाह भी सत्य है ।

माध्व मत में दस पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं - 1• द्रव्य 2• गुण 3• कर्म 4• सामान्य 5• विशेष 6• विशिष्ट 7• अंशी 8• शक्ति 9• सादृश्य 10• अभाव ।

विष्णु ही परब्रह्म है जिनका प्रत्येक गुण अनन्त निरवधि तथा निरतिशय है । भगवान स्थिति, उत्पत्ति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष इन आठें क्रियाओं के कर्ता हैं । माध्वमत में पदशक्ति के दो प्रकार हैं - मुख्यावृत्ति और परममुख्यावृत्ति। मुख्यावृत्ति से कोई भी पद अपने वाच्य अर्थ को प्रकट करता है किन्तु परममुख्यावृत्ति से प्रत्येक पद भगवान का ही वाचक होता है । ज्ञान, आनन्दादि कल्याण गुण ही ईश्वर के शरीर हैं । शरीरी होने पर भी भगवान नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र है उसके समस्त रूप पूर्ण हैं ।[1] इसी कारण भगवान और उसके अवतरित रूपों में कोई भेद नहीं रहता ।

1• "अवतारादयो विष्णो ९ सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः"

- माध्वबृहदभाष्य

लक्ष्मी ईश्वर की शक्ति है जो परमात्मा से भिन्न होकर भी उसके अधीन है । इस प्रकार माध्वमत में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना जाता है । लक्ष्मी भगवान् के सदृश ही नित्यमुक्ता तथा नानारूपधारिणी है । परमात्मा के सदृश ही लक्ष्मी अप्राकृत दिव्य देह धारण करती है, वह गुणों की दृष्टि से भगवान् से किंचिद् न्यून है, अन्यथा देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक है ।[1]

जीव भगवान के अनुचर हैं । अल्पशक्ति - ज्ञान युक्त जीव स्वयं कुछ करने में समर्थ नहीं है । मध्व ने तीन प्रकार के जीवों की कल्पना की है - मुक्ति-योग्य जीव, नित्य संसारी जीव तथा तमोयोग्य जीव । इनमें से अन्तिम दो की कभी मुक्ति सम्भव हो नहीं है, केवल मुक्तियोग्य जीव की ही मुक्ति होती है। जीवों में तारतम्य का सद्भाव माध्व मत का वैशिष्ट्य है । इनके अनुसार प्रत्येक जीव दूसरे से भिन्न होता है । मुक्त जीव आनन्द की अनुभूति तो करता है किन्तु इस आनन्दानुभूति में भी तारतम्य होता है अर्थात् मुक्त जीवों में ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्दमें भी भेद होता है ।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् मायाजन्य होने से रज्जुसर्पवत् मिथ्या है किन्तु द्वैतमत में जगत् नित्य सत्य है । सत्यसंकल्प ब्रह्म के द्वारा निर्मित होने के कारण जगत् असत्य हो ही नहीं सकता ।

---

1. " द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा ।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ ।। "
- भागवत तात्पर्य निर्णय

परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है । इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है अनन्या या अहेतुकी भक्ति । सहेतुक भक्ति तो बन्धनकारिका होती है परन्तु अहेतुकी भक्ति मुक्ति का एकमात्र साधन है ।

सनक सम्प्रदाय :

वेदान्त इतिहास में यह सम्प्रदाय नितान्त प्राचीन है । इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य निम्बार्क है । इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त "द्वैताद्वैत" मत नाम से प्रसिद्ध है । इसके अनुसार ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध व्यवहार दशा में द्वैत तथा परमार्थदशा में अद्वैत अर्थात् अभेद है । रामानुज के समान ही ये भी तीन तत्त्व मानते हैं - चित्,अचित् और ईश्वर । चित् (जीव) तथा अचित् (जगत्) ईश्वर पर सदा आश्रित रहते हैं, इस दृष्टि से वे ईश्वर से अभिन्न है । इन दोनों मतों में समन्वय करने के कारण ही निम्बार्क द्वैताद्वैत मत के अनुयायी कहे जाते हैं । तत्त्वत्रय के समर्थक होने पर भी रामानुज और निम्बार्क में मूलतः भेद है । रामानुज का आग्रह अद्वैत की ओर अधिक है जबकि निम्बार्क द्वैत और अद्वैत दोनों को समान महत्त्व देते हैं ।

चित् तत्त्व :

चित् तत्त्व जीव है । जीव ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञानाश्रय भी है । जीव कर्ता है - सांसारिक दशा में तथा मुक्त दशा में भी । शंकर जीव का कर्तृत्व मुक्त दशा में नहीं मानते किन्तु निम्बार्क का इस विषय में मतभिन्न है । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः :[1]" आदि श्रुति वाक्य संसार दशा में जीव

---

1. ईशावास्योपनिषद् , 2

के कर्तृत्वाभिव्यंजक है । उसी प्रकार " मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत् ", शान्त उपासीत आदि श्रुतिवाक्य मुक्त दशा में भी जीव को कर्ता बताते है । जीव ज्ञाता तथा कर्ता ही नहीं, भोक्ता भी है किन्तु इन सब बातों के लिए वह ईश्वर पर आश्रित रहता है । ईश्वर नियन्ता है, जीव नियम्य है । परिमाण में जीव अणु तथा नाना है, ईश्वर अंशी है तथा जीव उसका अंश है, किन्तु यहाँ अंश का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है प्रत्युत शक्ति रूप है ।[1]

जीव मुख्यत: द्विविध हैं - मुक्त तथा बद्ध । मुक्तों में भी दो प्रकार होते है - §1§ नित्यमुक्त §2§ साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त ।

बद्ध जीव भी दो प्रकार के होते हैं - मुमुक्षु और बुभुक्षु । जीव के अज्ञान के निवारण में भगवान की कृपा ही मुख्य हेतु है ।

<u>अचित् तत्त्व :</u>

चेतना हीन पदार्थ अचित् है । यह तीन प्रकार का है -

1\. <u>प्राकृत :</u> महत्तत्त्व से लेकर महाभूत पर्यन्त प्रकृति-जन्य पदार्थ । यह भेद सांख्यों के समान ही है, किन्तु यहाँ प्रकृति स्वतन्त्र न होकर ईश्वर के अधीन है ।

2\. <u>अप्राकृत :</u>

प्रकृति से भिन्न जगत्, जैसे भगवान का लोक । यह रामानुज के त्रिपाद विभूति के समान है जो " परमे व्योमन् " परम पद आदि नामों से श्रुतियों में उक्त है ।

- -

1\. अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्य: ब्रह्मसूत्र 2/3/42 पर कौस्तुभ ।

3. काल :

जगत् के समस्त परिणामों का जनक होने पर काल ईश्वर के लिए नियम्य है । स्वरूपतः नित्य होने पर भी कार्यतः अनित्य है ।

ईश्वर :

रामानुज के समान ही सगुण ब्रह्म ईश्वर के नाम से अभिहित किया गया है । यह समस्त दोषों से रहित तथा ज्ञान, बल आदि अनेक कल्याणगुणों का निधान है । ईश्वर, चित् तथा अचित् का नियामक तत्त्व है अर्थात् वह सर्वथा स्वतन्त्र है तथा जीव, जगत् परतन्त्र होकर सर्वदा उसके अधीन है । अल्पज्ञ तथा अणु परिमाण जीव सर्वज्ञ तथा विभु हरि से सर्वथा भिन्न हैं किन्तु ईश्वर से भिन्न न तो जीव की पृथक् स्थिति ही रहती है और न ही पृथक् प्रवृत्ति ही । इस प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न भी है ।

निम्बार्क श्रीकृष्ण को ईश्वर मानते हैं । श्रीकृष्ण के चरणारविन्द को छोड़कर जीव के लिए कोई गति नहीं है । निम्बार्क का युगल उपासना पर आग्रह है । सहस्रों सखियों से सेविता तथा भक्तों की सकल कामनाओं की दात्री वृषभानु-नन्दिनी भगवान् के वाम अंग में विराजमान रहती हैं । श्रीकृष्ण तथा श्री का सम्बन्ध अविनाभाव का सूचक है ।

वेदों में श्री के दो रूपों - श्री और लक्ष्मी का वर्णन प्राप्त होता है।[1] इनमें श्री का आविर्भाव वृन्दावन लीला में राधा के रूप में तथा लक्ष्मी का आविर्भाव

- -

1. " श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे "

- पुरुष सूक्त ।

रुक्मिणी के रूप में माना जाता है । राधा और कृष्ण में श्रुति परिशिष्ट अभेद का प्रतिपादन करता है तथा दोनों में भेद देखने वाले साधक के लिए मुक्ति का निषेध करता है ।[1]

आचार्य निम्बार्क के अनुसार राधाकृष्ण की भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त होती है । रामानुज मत के समान यह भक्ति ध्यान या उपासना रूप नहीं है प्रत्युत अनुराग या प्रेमरूपा है । भगवान की कृपा से ही जीव का परम कल्याण होता है । भक्ति से भगवान का साक्षात्कार होता है । यही मुक्ति है,जो शरीर-दशा में सम्भव नहीं ।

रुद्र सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के आरम्भकर्ता भगवान शंकर माने जाते हैं, इसीलिए इसे रुद्र सम्प्रदाय कहा जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि रुद्र ने इसका सर्वप्रथम उपदेश बालखिल्य ऋषियों को दिया था,[2] वही ज्ञान कालान्तर में विष्णु स्वामी को प्राप्त हुआ।

रुद्र सम्प्रदाय के संस्थापक विष्णु स्वामी के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है । सामान्य रूप से उनका समय 12वीं या 13वीं शताब्दी माना जाता

1• " राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका ।
यो5न्योभेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति ।।"
- ऋक् परिशिष्ट , स्वाध्याय मण्डल ।

2• ब्रजस्थ धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, प्रभु दयाल मीतल, पृ० - 15।

है । विष्णु स्वामी का मत क्या था, इसका निश्चय ठीक - ठीक नहीं हो सका है ; क्योंकि उनका उपलब्ध साहित्य इतना अल्प है कि उससे उनके सिद्धान्तों का निर्धारण करना कठिन है । ऐसी सामान्य धारणा है कि इन्होंने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, जिसका पल्लवन बाद में वल्लभाचार्य ने किया ।

वल्लभाचार्य § 1535 - 1587 वि० § का दार्शनिक मतवाद शुद्धाद्वैत तथा भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है । अद्वैत मत से भिन्नता दिखाने के लिए वल्लभ ने अपने सिद्धान्त में अद्वैत शब्द से पहले " शुद्ध " शब्द जोड़ दिया। माया की मलिनता से रहित ब्रह्म जगत् का कारण है, इसीलिए इसका नाम "शुद्धाद्वैत " पड़ा । आचार्य शंकर ब्रह्म के दो रूप मानकर भी सगुण रूप को हीन तथा निर्गुण रूप को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं । किन्तु वल्लभ ने दोनों रूपों को सत्य माना है । ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है और इसीलिए वह एक ही समय में सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को धारण करता है ।

ब्रह्म सच्चिदानन्द है । वल्लभ अविकृतपरिणामवाद मानते हैं । उनके अनुसार जीव और जगत् की उत्पत्ति नहीं होती अपितु आविर्भाव होता है। ब्रह्म के सदंश से जगत् का आविर्भाव होता है तथा चिदंश से जीव का आविर्भाव है । ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जीव और जगत् भी सत्य हैं किन्तु इनकी ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु ये ब्रह्मरूप से सत्य हैं । वल्लभ ब्रह्म और जीव में अंशांशिभाव मानते हैं । इन्होंने ब्रह्म के तीन रूपों का वर्णन किया है,

जिसमें से आधिभौतिक रूप जगत् है, आध्यात्मिक रूप/अक्षर ब्रह्म है तथा आधिदैविक रूप परब्रह्म या पुरुषोत्तम है । अक्षर ब्रह्म ज्ञानेकगम्य है, जबकि पुरुषोत्तम की प्राप्ति अनन्या भक्ति द्वारा होती है ।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति मार्ग 'पुष्टि मार्ग' नाम से प्रसिद्ध है । पुष्टि का अर्थ है पोषण अर्थात् अनुग्रह, भगवान की कृपा । आचार्य के अनुसार भगवान के माहात्म्य के ज्ञानसहित उनके प्रति सर्वातिशायी प्रेम ही भक्ति है ।[2] भक्तिमार्तण्ड में तो श्रीकृष्ण की सेवा को ही भक्ति कहा गया है।[3] रस रूप भगवान की रसमय सेवा ही भक्ति का चरमोत्कर्ष है । भक्ति द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इन आचार्यों के अतिरिक्त उत्तर भारत में वैष्णव धर्म की सुदृढ़ स्थापना में रामानन्द और चैतन्य महाप्रभु का सहयोग भी उल्लेखनीय है । ये युग चेतना को प्रभावित करने वाले दो महान सन्त थे ।

रामानन्द वल्लभ और चैतन्य के पूर्ववर्ती थे । 14वीं शती के प्रारम्भ में इन्होंने रामानुज के श्री सम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया। उन्होंने लक्ष्मी नारायण के स्थान पर सीताराम को अपना उपास्य स्वीकार किया।

- -

1. " पोषणं तदनुग्रहः " - भागवत

2. माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिकः ।
   स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।। त0दी0नि0 पृ0- 65

3. श्रीकृष्णविषयिणी प्रेमपूर्विका सेवा भक्तिः " भक्तिमार्तण्ड पृ0 - 79

उन्होंने सत्य,शील और सौन्दर्य से समन्वित मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की भक्ति का प्रचार कर मानव समाज के समक्ष अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया ।

वे वर्णाश्रम धर्म में पूर्ण आस्थावान थे किन्तु भक्तिराज्य में प्रवेश करने के लिए इन्होंने अपने मत का द्वार सब प्राणियों के लिए समानभाव से उन्मुक्त कर दिया । उनके शिष्यों में सभी वर्गों तथा सभी जातियों के लोग थे । उन्होंने अपने शिष्यों को जनभाषा में धर्मप्रचार करने का आदेश दिया था । उनके द्वारा प्रचारित रामभक्ति के अन्तर्गत विपुल साहित्य की रचना हुई । तुलसीदास इसी परम्परा के महान् कवि हैं ।

चैतन्य :

चैतन्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के कनिष्ठ समवर्ती हैं । चैतन्य का मन्तव्य किसी सुनियोजित दार्शनिक मतवाद का प्रचार करना नहीं था । उन्होंने तो राधाकृष्ण की अनुरागमयी प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार किया । उन्होंने अपने मत में नृत्य,गान सहित संकीर्तन को विशेष स्थान दिया ।

चैतन्य अपने विचारों में निम्बार्क के द्वैताद्वैत के बहुत समीप हैं । द्वैताद्वैत तथा भेदाभेद एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द हैं, चैतन्य मत में इसमें "अचिन्त्य" शब्द जोड़ दिया गया , जिसका अर्थ है कि ईश्वर तथा जीव जगत्, पूर्ण तथा अंश के बीच जो भेद और अभेद है, एकता में अनेकता और अनेकता में जो एकता है, वह बुद्धिगम्य नहीं है, बुद्धि की सीमा से परे होने के कारण " अचिन्त्य " है ।

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता है राधा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा । इस

सम्प्रदाय में पहली बार " गोपीभाव " और " राधाभाव " को इतना महत्त्व मिला । भक्ति को रस की कोटि तक पहुँचाने का श्रेय इसी सम्प्रदाय को है ।

इस प्रकार मध्य युग की भक्तिपरक चिन्तन धारा को उपर्युक्त वैष्णव सम्प्रदायों का संरक्षण और बल प्रदान हुआ । फलस्वरूप उसका विकास विदेशी आक्रमणकारियों से ध्वंसित युग चेतना के पुनरुज्जीवन के लिए एक महौषधि के रूप में हो सका ।

xxxxxxx

द्वितीय अध्याय

व्यक्तित्व और कृतित्व

आचार्य रामानुज

विशिष्टाद्वैत मत से सम्बन्धित सबसे महत्वपूर्ण नाम आचार्य रामानुज का है । उपनिषदों के दर्शन को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के अतिरिक्त आचार्य रामानुज का सबसे महत्वपूर्ण योगदान, ऐसे मत के विकास का प्रयास है , जिसमें ईश्वर - भक्ति की भावना एवं अमूर्त ब्रह्म के दर्शन का समन्वय है । भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में प्रतिष्ठापित करने वाले ये प्रथम आचार्य हैं । इनकी अत्यन्त स्पष्ट तथा तर्कसम्मत व्याख्या के परिणामस्वरूप ही विशिष्टाद्वैत मत का परवर्ती धर्म और दर्शन के विकास पर इतना प्रभाव सम्भव हो सका है । प्रो० कीथ का कथन है - " ब्रह्मसूत्र पर इनके श्रीभाष्य से इनकी दार्शनिक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है । अपनी गुणात्मकता तथा पूर्णता में इनकी कृति ने ब्रह्मसूत्र में अद्वैत ब्रह्म का आधार प्राप्त करने में अपने पूर्ववर्ती समस्त प्रयासों से अधिक सफलता प्राप्त की है ।

इनके दार्शनिक विचारों के अध्ययन के पूर्व उनके जीवनऔर कृतित्व पर किंचित् प्रकाश डालना असमीचीन न होगा ।

- -

1. "The Shribhashya, his commentary on the Brahma-Sutras, Conveys am impression of no mean philosophical in sight, and it is fair to assume that his work in substantial merit and completeness for out did any previous effort to find in the Brahma-sutras a basis for monotheism."

- Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol X - P.572

मद्रास से लगभग चालीस किलोमीटर दूर दक्षिण पश्चिम में श्री पेरूम्बुदूर नामक एक समृद्ध ग्राम है । एक हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व इस ग्राम में एक धर्मात्मा ब्राह्मण आसुरी केशवाचार्य रहते थे । उस समय श्री यामुनाचार्य‍(आल्वन्दार) नाथमुनि का शिष्यत्व ग्रहण कर श्रीरंगम में सन्यासी के रूप में निवास कर रहे थे । अपने गुरू की मृत्यु के अनन्तर यामुनाचार्य श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख के रूप में प्रस्थापित हुए । ये अपनी विद्वत्ता, त्याग और ईश्वर भक्ति के लिए प्रसिद्ध थे ।

श्री शैलपूर्ण यामुनाचार्य के प्रमुख शिष्यों में से एक थे । इनकी दो बहिनें थीं । - कान्तिमती और द्युतिमती । कान्तिमती का विवाह केशवाचार्य तथा द्युतिमती का कमलनयन भट्ट के साथ हुआ ।

आसुरी केशवाचार्य यज्ञों के सम्पादन में दक्ष थे, इसीलिए पण्डितों ने इन्हें "सर्वक्रतु " की उपाधि प्रदान की थी । कहा जाता है कि विवाह के पर्याप्त समय बाद भी सन्तान न होने पर केशवाचार्य ने पुत्र प्राप्ति हेतु वृन्दारण्य में एक यज्ञ किया । इसके लगभग एक वर्ष बाद शक संवत् 939 में कान्तिमती को एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई जो बाद में रामानुज नाम से प्रसिद्ध हुआ । लगभग इसी समय द्युतिमती ने भी एक पुत्र को जन्म दिया । कुछ दिनों उपरान्त द्युतिमती अपनी बहन के पुत्र को देखने आई । इसी बीच श्री शैलपूर्ण पेरूम्बुदूर आये ।

उन्होंने कान्तिमती के पुत्र का नाम रामानुज रखा (क्योंकि उनके अनुसार ये लक्ष्मण के अवतार थे)[1] तथा द्युतिमती के पुत्र का नाम गोविन्द रखा ।

बाल्यावस्था से ही रामानुज की विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होने लगे थे । वे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि थे, इसीलिए गुरूजनों को अत्यन्त प्रिय थे । रामानुज के जीवन का एकमात्र उद्देश्य श्री नारायण की सेवा करना था ।

सोलहवें वर्ष में इनके पिता ने एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या से इनका विवाह कर दिया । विवाह के एक माह बाद ही इनके पिता केशवाचार्य का देहान्त हो गया जिससे पूरा परिवार शोक संतप्त हो गया । रामानुज और उनकी माता का चित्त श्री पेरूम्बुदूर में अशान्त रहने लगा, अतः रामानुज अपने परिवार सहित काँचीपुरम् में आकर रहने लगे ।

उस समय काँचीपुरम् में वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित यादव प्रकाश रहते थे जो कट्टर अद्वैतवादी थे किन्तु इनका सिद्धान्त आचार्य शंकर से कुछ भिन्न था, वह आज भी " यादवीय सिद्धान्त " नाम से प्रसिद्ध है । ज्ञान- प्राप्ति की अदम्य इच्छा से प्रेरित होकर रामानुज ने भी इनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया । अपनी प्रतिभा और सेवाभाव के कारण शीघ्र ही रामानुज यादव प्रकाश के अत्यन्त प्रिय शिष्य हो गये ।

---

1. Life of Ramanuja - Swami Ramkrishnanda, P. 74

रामानुज ईश्वर की सेवा और भक्ति में असीम आस्था रखते थे । अतः यादवीय सिद्धान्त का सर्वांश स्वीकार न कर सके । एक दिन मध्यावकाश में जब अन्य शिष्य अपने घर चले गये थे, रामानुज अपने गुरु की सेवा कर रहे थे । एक अन्य शिष्य, जो प्रातःकालीन पाठ में छान्दोग्योपनिषद् के एक मन्त्र के "तस्य यथा कप्यासम् पुण्डरीकमेव ...."[1] अंश में " कप्यासम् " शब्द को भलीभाँति नहीं समझ सका था, उसने गुरु से पुनः उसे स्पष्ट करने की प्रार्थना की । शंकर के अनुसार कप्यासम् का अर्थ " बन्दर का पृष्ठ-भाग " मानकर यादव प्रकाश ने अनुच्छेद का अर्थ इस प्रकार किया - " उस स्वर्ण पुरुष की दोनों आँखें दो कमलों के समान हैं जो बन्दर के पृष्ठभाग के समान लाल हैं ", इस अशोभनीय अर्थ को सुनकर रामानुज के भक्तिपूर्ण कोमल हृदय को अत्यन्त कष्ट हुआ और फलस्वरूप उनके नेत्रों से अश्रु निकल पड़े जिसकी कुछ बूँदें गुरु के शरीर पर पड़ीं । गुरु द्वारा दुख का कारण पूँछने पर रामानुज ने कहा कि समस्त गुणों के सागर ब्रह्म की आँखों की तुलना बन्दर के पृष्ठभाग से करना कितना महान पाप है ? रामानुज ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की - कपि का अर्थ है " सूर्य " और "आस" का अर्थ है "प्रफुल्लित"। इस प्रकार "कप्यासम " का अर्थ हुआ " सूर्य द्वारा प्रफुल्लित " । अतः मंत्र के उस अंश का अर्थ इस प्रकार होगा - " स्वर्णिम सूर्यमण्डल के मध्य स्थित उस पुरुष की आँखें सूर्य की किरणों से विकसित कमल के समान सुन्दर हैं ।"[2]

---

1 छान्दोग्य 1/6/7.

2. लाइफ आफ रामानुज - स्वामी रामकृष्णानन्द पृ. 81-82

इस घटना के बाद भी यादव प्रकाश ने समझ लिया कि रामानुज द्वैतवाद के अनुयायी हैं तथा रामानुज के प्रति उनके स्नेह में कमी आ गयी।

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर जब यादव प्रकाश ने तैत्तिरीयोपनिषद के मन्त्र " सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म " की व्याख्या करते हुए कहा कि " ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान और अनन्त है ", रामानुज ने इस पर आपत्ति करते हुए इसका अर्थ इस प्रकार किया - " ब्रह्म सत्य है असत्य नहीं , ज्ञान उसका गुण है अज्ञान नहीं, वह अनन्त;है सान्त नहीं अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्तता गुणों से विभूषित है ।" यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि यह सभी गुण स्वयं ब्रह्म है । ये ब्रह्म के हैं, पर स्वयं ब्रह्म नहीं है । जैसे शरीर मेरा है किन्तु "मैं" शरीर नहीं हूँ । यह व्याख्या सुनकर आचार्य अत्यन्त क्रोधित हुए तथा मन ही मन रामानुज से अप्रसन्न रहने लगे । यहाँ तक कि अन्य शिष्यों के साथ मन्त्रणा करके उन्होंने प्रयाग में गंगास्नान के बहाने सबके साथ ले जाकर रास्ते में रामानुज की हत्या कर देने का षड्यन्त्र तक रच लिया ।

रामानुज के मौसेरे भाई गोविन्द भी यादव प्रकाश के शिष्य हो गये थे । वे भी इस तीर्थ यात्रा में सम्मिलित होने के लिए तैयार हो गये । एक शुभ दिन आचार्य और उनके शिष्यों का दल तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ा । किसी प्रकार गोविन्द को रामानुज की हत्या के षड्यन्त्र की सूचना मिल गयी और अवसर पाते ही गोविन्द ने रामानुज को सारी योजना बता दी तथा परामर्श दिया

कि वे उन लोगों का साथ छोड़ दें । यह सूचना देकर गोविन्द दल के अन्य साथियों में जा मिले ।

रामानुज के न मिलने पर पहले तो सबने उनकी खोज की, फिर यह मानकर कि वे किसी जंगली जानवर के शिकार हो गये होंगे, आगे बढ़ गये ।

इधर रामानुज जंगलों से होते हुए दक्षिण की ओर चल पड़े । इस समय उनकी अवस्था अठारह वर्ष थी । भूख, प्यास और थकान के कारण जब चलना कठिन हो गया तो एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए वे लेट गये । लेटते ही उन्हें नींद आ गयी । सोकर जागने के बाद उन्होंने एक स्फूर्ति का अनुभव किया। इसी समय उन्हें एक व्याध दम्पति के दर्शन हुए जिनके साथ वह कांचीनगर के निकट स्थित एक प्रसिद्ध कुएं तक आये । तदनन्तर मन ही मन ईश्वर की कृपा का स्मरण करते हुए अपने घर पहुंच गये । उनकी माँ को, जो पुत्र - विछोह में अत्यन्त दुखी थीं, रामानुज के इतने शीघ्र, अचानक वापस आ जाने से अत्यन्त प्रसन्नता हुई, साथ ही आश्चर्य भी हुआ । शीघ्र वापसी का कारण पूछने पर रामानुज ने यादव प्रकाश के षड्यन्त्र की पूरी कथा बता दी किन्तु इसे गोपनीय रखने की प्रार्थना की।

इसके अनन्तर रामानुज ने घर पर ही स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया । तीन माह पश्चात् रामानुज को देखकर पहले तो उन्हें घबराहट हुई किन्तु यह सोचकर कि उनके षड्यन्त्र का ज्ञान रामानुज को नहीं है, उन्होंने कृत्रिम प्रसन्नता प्रकट की । रामानुज पूर्व की ही भाँति नम्र व श्रद्धालु बने रहे ।

यादव प्रकाश ने उन्हें पुनः अपने यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया तथा वे पुनः उनके यहाँ अध्ययनार्थ जाने लगे ।

कुछ दिनों बाद आलवन्दार अपने शिष्यों सहित श्री वरदराज के दर्शन हेतु कांचीपुरम आये । दर्शन करके वापस जाते समय उन्होंने रामानुज को यादव प्रकाश के सान्निध्य में देखा । रामानुज के मुख -मण्डल पर अत्यधिक आभा देखकर यामुनाचार्य उनकी ओर अत्यन्त आकर्षित हुए । यह जानकर कि इसी नवयुवक ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " पर विस्तृत व्याख्या लिखी है, आलवन्दार अत्यन्त प्रसन्न हुए किन्तु उन्हें दुःख हुआ कि ऐसा व्यक्ति यादव प्रकाश जैसे शुष्क हृदय के साथ रह रहा है ।

यादव प्रकाश वेदांत के अतिरिक्त मन्त्रशास्त्र के भी ज्ञाता थे । वे भूत-प्रेत से पीड़ित लोगों को बाधामुक्त कर सकते थे । एक बार कांचीपुरम की राजकुमारी एक ब्रह्मराक्षस से पीड़ित हो गयी । बहुत से तान्त्रिक उसे ठीक करने आये किन्तु प्रभावहीन रहे । अन्त में वेदान्ताचार्य यादव प्रकाश बुलाये गये । वे भी राजकुमारी को मुक्ति न दिला सके । बाद में उस ब्रह्म राक्षस ने ही सुझाव दिया कि"यदि तुम चाहते हो कि मैं राजकुमारी को छोड़ दूँ तो अपने शिष्य रामानुज को बुलाओ ।" यादव प्रकाश के आदेश से रामानुज बुलाये गये । ब्रह्म-राक्षस के सुझावानुसार उन्होंने राजकुमारी के सिर पर पैर रखकर राजकुमारी को ब्रह्मराक्षस से मुक्ति दिलाई । यह समाचार पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुए

और उन्होंने कृतज्ञता प्रकाशित की । उसी दिन से रामानुज का नाम चोल राज्य में प्रसिद्ध हो गया ।

इस घटना के बाद यादव प्रकाश पूर्व की भाँति अध्यापन कार्य करते रहे । प्रतिदिन रामानुज तथा अन्य शिष्य उनके द्वारा धर्मग्रन्थों के अंशों की सूक्ष्म व्याख्या का आनन्द लेते रहे । एक दिन उपनिषदों के इन दो मन्त्रों सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य 3/14/1) - " सब ब्रह्म ही है " तथा " नेह नानास्ति किंचन (क० 4/2) " यहाँ (लोक में) तनिक भी नानात्व नहीं है, की व्याख्या करते हुए यादव प्रकाश ने बड़ी सुन्दरता से आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया ।[1] रामानुज के अतिरिक्त अन्य सभी उनकी व्याख्या से मुग्ध हो गये । व्याख्या समाप्त होने पर रामानुज ने इन दोनों मंत्रों पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये - सर्वं खल्विदं ब्रह्म " का अर्थ " यह सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है " तब होता जब इसके बाद " तज्जलं " शब्द का प्रयोग न किया गया होता । संसार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म पर ही आश्रित है और ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है ; अतः " ब्रह्म से व्याप्त " कहा जा सकता है । मछली जल में उत्पन्न होती है, जल में रहती है तथा जल में ही विलीन हो जाती है । अतः वह निस्संदेह जल से व्याप्त कही जा सकती है , किन्तु मछली कभी स्वयं जल नहीं

---

1. Life of Ramanuja - Swami Ramkrishnanda, P.99

हो सकती , इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म से व्याप्त अवश्य है, किन्तु वह ब्रह्म कभी नहीं हो सकता ।

" नेह नानाऽस्ति किंचन " का यह अर्थ नहीं है कि " इस संसार में नानात्व है ही नहीं , अपितु इसका अर्थ है कि इस संसार की वस्तुओं का पृथक - पृथक् अस्तित्व नहीं है बल्कि जिस प्रकार एक धागे में गुँथी हुई भिन्न - भिन्न गुरियों से माला बनती है उसी प्रकार ब्रह्म में गुँथी हुई अनेक प्रकार की वस्तुओं से यह संसार निर्मित हुआ है ।

यह व्याख्या सुनकर यादव प्रकाश बहुत रूष्ट हुए और उन्होंने कहा कि यदि तुम्हें मेरी व्याख्या नहीं पसन्द है तो भविष्य में मेरे पास मत आया करो । रामानुज ने "जैसी आपकी आज्ञा " कहते हुए उनके चरण स्पर्श किए तथा सदा के लिए उनसे विदा ले ली । इसके बाद वे अपने ही घर पर स्वाध्याय करने लगे ।[1]

दूसरे ही दिन श्री कांचीपूर्ण रामानुज के घर आए । रामानुज उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उनके चरणों में लोट गये और उनसे स्वयं को शिष्य रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करने लगे । कांचीपूर्ण रामानुज की ईश्वर - भक्ति

1· रामानुजोऽप्येवमुदारबुद्धिस्त्यक्त्वा तदा.तस्य गुरोर्निवासम् ।
उवास सन्तुष्टमना: स्वगेहे वेदान्ततत्त्वार्थविचारदक्ष: ।।
- प्रपन्नामृत 3/61

देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए तथा उनसे कहा कि तुम प्रतिदिन एक घड़ा पानी वरदराज की पूजा हेतु ले आया करो । शीघ्र ही वरदराज तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे ।

उधर रामानुज को देखने के बाद से ही आलवन्दार सदैव ईश्वर से रामानुज को यादव प्रकाश का शिष्यत्व छोड़कर वैष्णव मत में लाने के लिए प्रार्थना करने लगे थे । कुछ समय बाद आलवन्दार अस्वस्थ हो गये, उनकी दशा बिगड़ती गयी यहाँ तक कि उनके शिष्यों को विश्वास हो गया कि आचार्य अब शरीर त्याग देंगे । गुरु ने भी तिरुवरंग को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया । इसी बीच कांचीपुरम् से दो ब्राह्मण आचार्य के दर्शनार्थ आए । उनसे यह जानकर कि रामानुज यादव प्रकाश का सान्निध्य त्यागकर घर पर ही स्वाध्यायरत हैं तथा वरदराज की सेवा में लीन हैं, आचार्य को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उसी समय उन्होंने महापूर्ण को आज्ञा दी कि रामानुज को अविलम्ब वहाँ ले आए । महापूर्ण गुरुचरणों की वन्दना करके कांचीपुरम् के लिए चल पड़े । किन्तु दुर्भाग्य से रामानुज के आने से पूर्व ही यामुनाचार्य का प्राणान्त हो गया । कहा जाता है जब रामानुज आचार्य के पास पहुँचे उस समय मृत आचार्य के हाथ की तीन अंगुलियाँ मुड़ी हुई थीं, जिसे देखकर रामानुज ने तीन प्रतिज्ञा की, जिससे मुड़ी हुई अंगुलियाँ सीधी हो गयीं ।

प्रथम प्रतिज्ञा थी - स्वयं वैष्णवमत में दीक्षित होकर वैष्णवों का उद्धार तथा विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय की रक्षा, द्वितीय-वेदान्त सूत्रों पर श्रीभाष्य

की रचना तथा तृतीय - किसी वैष्णव विद्वान का पराशर नामकरण ।

यामनाचार्य की मृत्यु से रामानुज अत्यन्त दुःखी हुए और तुरन्त कांचीपुरम् लौट आए । यहाँ वे अपना अधिकांश समय कांचीपूर्ण के संसर्ग में व्यतीत करने लगे और उनसे दीक्षा लेने की भी इच्छा व्यक्त की किन्तु कांचीपूर्ण ने दीक्षा न देकर कहा कि भगवद्कृपा से उन्हें शीघ्र ही उपयुक्त गुरु प्राप्त होगा ।

कांचीपूर्ण के विषय में यह प्रसिद्ध था कि उन पर वरदराज (श्रीविष्णु) की विशेष कृपा थी और समय-समय पर वह स्वयं कांचिपूर्ण को निर्देश देते थे । एक दिन रामानुज ने उनसे निवेदन किया कि कुछ प्रश्न निरन्तर मेरे हृदय को उद्वेलित करते रहते हैं, वे कृपया वरदराज से ज्ञात कर उनका समाधान दें । दूसरे ही दिन कांचीपूर्ण ने सूचित किया कि वरदराज ने तुम्हें यह कहने का निर्देश दिया है -

1. मैं पूर्ण ब्रह्म, प्रकृति का कारण हूं, जो जगत् का कारण है ।
2. जीव तथा ब्रह्म का भेद स्वयंसिद्ध है ।
3. मुक्ति के साधकों के लिए प्रपत्ति ही एकमात्र मार्ग है ।
4. जीवन के अन्तिम क्षणों में स्मरण न कर पाने पर भी मेरे भक्तों की मुक्ति निश्चित है ।
5. शरीरपात के अनन्तर तत्क्षण ही मेरे भक्तों को मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

6• सर्वगुणसम्पन्न महापूर्ण की शरण में जाओ ।

यद्यपि रामानुज ने अपनी शंकाएं नहीं बतायी थीं तथापि उन्हें उनका समाधान प्राप्त हो गया था ।

रामानुज दीक्षाप्राप्ति हेतु श्रीरंगम् के लिए चल पड़े । महापूर्ण से दीक्षा लेकर महापूर्ण के साथ पुन: कांचीपुरम् लौटकर उन्होंने छ: माह तक तमिल प्रबन्धों का अध्ययन किया, इसमें आलवार सन्तों द्वारा लिखित लगभग चार हजार श्लोक हैं जो " दिव्य प्रबन्धम् " या " तमिल वेद " नाम से प्रसिद्ध हैं । इसके बाद रामानुज ने वरदराज के समक्ष संन्यास ले लिया तथा 'यतिराज' कहलाये ।

कुछ काल पश्चात् रामानुज श्रीरंगम् चले गये, वहाँ यामुनाचार्य के अन्य शिष्यों से भी उन्होंने श्रीवैष्णव धर्मसम्बन्धी समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया । इस प्रकार रामानुज अब विशिष्टाद्वैती वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए पूर्ण समर्थ हो गये थे । श्रीरंगम् में उन्होंने अद्वैतवादी पण्डित यज्ञमूर्ति से सत्रह दिनों तक शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया । कालान्तर में यादव प्रकाश ने भी रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण किया , उनके भाई गोविन्द भी उनके शिष्य हो गये ।

अब रामानुज अपने शिष्यों सहित धर्म प्रचार तथा तीर्थाटन हेतु देश के भ्रमण पर निकले । वे रामेश्वरम् से बद्रीनाथ तक पश्चिमी तट से होते हुए पूर्वी तट होकर मद्रास आए । अपने अनन्य भक्त कूरेश के साथ वे श्रीनगर पहुँचे जहाँ

उन्हें बोधायन वृत्ति की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई । कूरेश, अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी थे । एक ही बार पढ़ लेने पर बोधायनवृत्ति उन्हें कण्ठस्थ हो गयी। इस प्रकार रामानुज ने कूरेश की सहायता से "श्रीभाष्य " लिखा । कहते हैं, कश्मीर में ही उन्हें देवी सरस्वती ने " भाष्यकार" की पदवी दी थी ।

इस समय चोलराज द्वारा शैव धर्म का प्रचार करने के लिए वैष्णवों को तरह - तरह की यातनाएं दी जा रही थीं । कूरेश और रामानुज मैसूर चले गये । लगभग 20 वर्ष बाद वे श्रीरंगम वापस आए । अपने जीवन के शेष दिन उन्होंने देश के विभिन्न भागों में अपने शिष्यों द्वारा संचालित लगभग चौहत्तर केन्द्रों के माध्यम से विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में व्यतीत कर दियें और इस प्रकार सम्मानित जीवन व्यतीत करते हुए लगभग 120 वर्ष की अवस्था में 1137 ई0 में उनका देहान्त हो गया ।

कृतित्व :-

आचार्य रामानुज के जीवन की भाँति उनकी रचनाएं भी अमूल्य हैं । उनमें विशिष्टाद्वैत की समस्त शिक्षाओं के दार्शनिक, नैतिक तथा धार्मिक पक्षों की व्यवस्थित व्याख्या की गयी है ।

आचार्य की रचनाएं इस प्रकार हैं -

1· वेदार्थ संग्रह :- यह आचार्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ है । इसमें विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है, इसमें आचार्य ने अद्वैत, भेदाभेद और शैव मतों की त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए शरीर- शरीरी सम्बन्ध के आधारभूत

सिद्धान्त द्वारा उपनिषदों के परस्पर विरोधी सूत्रों में सामंजस्य स्थापित किया है ।

2· **श्रीभाष्य :**

बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर आचार्य द्वारा लिखा गया विस्तृत भाष्य "श्रीभाष्य" नाम से प्रसिद्ध है । इसमें आचार्य ने अद्वैत, सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि मतों के खण्डन पूर्वक विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है । सम्पूर्ण विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का यह सर्वप्रमुख ग्रन्थ है ।

3· **वेदान्तसार :** यह आचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्रों पर लिखित संक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ है ।

4· **वेदान्तदीप :** यह भी ब्रह्मसूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या है ।

5· **गीताभाष्य :** श्रीमद्भगवद्गीता पर विस्तृत भाष्य ।

शरणागति गद्य : इसमें प्रपत्ति के स्वरूप एवं महत्त्व का विस्तृत वर्णन है ।

यह छः ग्रन्थ आचार्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । इनके अतिरिक्त भी आचार्य के नाम से कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं -

श्री रंग गद्य : भगवान रंगनाथ के प्रति आचार्य की अटूट श्रद्धा एवं भक्ति को प्रकट करने वाली रचनाये ।

श्री वैकुण्ठ गद्य : वैकुण्ठ के अलौकिक सौन्दर्य तथा आनन्द का वर्णन ।

नित्य ग्रन्थ :
भगवद्भक्तों के नित्य कर्तव्यों की पथ-प्रदर्शिका ।

इस प्रकार आचार्य ने इन ग्रन्थों के माध्यम से तथा सम्पूर्ण देश में भ्रमण करके, अनेक स्थलों पर पीठ स्थापित करके वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार किया । बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारत को वेदान्तिक आध्यात्मिकता प्राप्त कराने और धर्म और दर्शन के मध्य भेद दूर करने में आचार्य रामानुज का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार तथा दर्शन को स्थायी भक्ति प्रदान की । परम्परावादी होते हुए भी वे एक विनम्र क्रान्तिकारी थे जिसने मानवता के कल्याण के लिए पारम्परिक मार्ग से हटने का भी साहस किया ।

आचार्य वल्लभ

श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति तत्त्व से अनुप्राणित वैष्णव वेदान्त की जिस प्रभावशाली और लोकप्रिय परम्परा का प्रारम्भ किया था, वल्लभाचार्य उस परम्परा के अन्तिम प्रमुख आचार्य हैं । यद्यपि कृष्ण भक्ति के एक अन्य आचार्य चैतन्य महाप्रभु भी वल्लभाचार्य के ही समकालीन थे किन्तु शास्त्रीय आचार्यों की परम्परा में उन्हें स्वीकार करना अयुक्त है, क्योंकि उन्होंने भक्ति के शास्त्रीय रूप की अपेक्षा उसके प्रेम विह्वलरूप का ही मुख्यतया प्रतिपादन किया है। अतएव कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण आचार्य होने पर भी चैतन्य को आचार्य परम्परा में स्वीकार करना सम्भवतः

असमीचीन होगा ।

उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति के प्रचार प्रसार में आचार्य वल्लभ का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उन्होंने ईश्वरानुग्रह पर आधारित एक स्वतन्त्र भक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो " पुष्टिमार्ग " के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने भक्ति का शास्त्रीय विवेचन तो किया ही, साथ ही उसके व्यावहारिक रूप का भी प्रचार किया । इनका दार्शनिक मतवाद "शुद्धाद्वैतवाद नाम से प्रसिद्ध है । तत्त्वदृष्टि से या सिद्धान्ततः जिसे हम "शुद्धाद्वैतवाद" कहते हैं वही साधना अथवा भक्ति के क्षेत्र में " पुष्टिमार्ग " कहलाता है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इनका मतवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से " शुद्धाद्वैतवाद" तथा व्यावहारिक दृष्टि से " पुष्टिमार्ग " नाम से प्रसिद्ध है ।

आचार्य वल्लभ का जन्म आंध्र प्रदेश के कांकरवाड़ नामक ग्राम में निवास करने वाले कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले वेल्लनाडु शुद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण श्री लक्ष्मणभट्ट के यहाँ हुआ था । इनके जन्मकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है । डॉ० राधाकृष्णन् वल्लभाचार्य का जन्म 1401 ई० में स्वीकार करते हैं ।[1]

---

1. भारतीय दर्शन, भाग दो० पृ० - 757

एस0एन0 दासगुप्त के अनुसार इनका जन्म 1481 ई0 में हुआ था ।[1] जी0 एच0 भट्ट ने इनका जन्म सं0 1530 माना है ।[2] वल्लभ सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक ग्रन्थ के अनुसार इनका जन्म विक्रम संवत 1525 में वैशाख कृष्ण पक्ष की एकादशी गुरुवार को माना गया है तथा यही मानना अधिक समीचीन है।

वल्लभाचार्य के पूर्वज लब्धख्याति पं0 यज्ञनारायण भट्ट थे । वे दक्षिण के काँकरवाड़ नामक ग्राम में निवास करते थे । वे शुद्ध श्रोत्रिय, समृद्ध, एवं प्रतिभाशाली पण्डित थे । वे भगवान श्रीकृष्ण के भक्त थे तथा अनन्य भाव से उनकी उपासना करते थे ।[3]

कहा जाता है कि यज्ञनारायण को 32 सोमयज्ञों की पूर्ति के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने साक्षात् दर्शन देकर इनसे वर माँगने को कहा । तब उन्होंने भगवान को ही पुत्ररूप में प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की । भगवान् ने सौ सोमयज्ञों की पूर्ति के उपरान्त उनके कुल में जन्म लेने का वरदान दिया ।

यज्ञ नारायण के प्रपौत्र गणपति भट्ट के पुत्र श्री बालभट्ट हुए । ये अत्यन्त विद्वान् थे, उन्होंने "भक्तिदीप" नामक ग्रन्थ की रचना की । इनके

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास, (भाग चार) -डा0एस0एन0 दास गुप्त
2. श्री वल्लभाचार्य एण्ड हिज डॉक्ट्रिन्स - प्रो0 जी0एच0भट्ट
3. वल्लभदिग्विजय, यदुनाथ पृ0 ।

दो पुत्र हुए - लक्ष्मणभट्ट और जनार्दन । वल्लभाचार्य इन्हीं लक्ष्मणभट्ट के पुत्र थे ।

लक्ष्मणभट्ट अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् थे । इन्होंने विद्यानगर के राज-पुरोहित सुशर्मा नामक ब्राह्मण की पुत्री यल्लम्मागारू से विवाह किया और शेष दस सोमयज्ञ सम्पन्न करके अपने पूर्वज यज्ञनारायण भट्ट द्वारा लिये गये सौ सोमयज्ञ करने के व्रत को पूर्ण किया । सौ सोमयज्ञ पूर्ण होने पर लक्ष्मण भट्ट ने यज्ञ की पूर्णाहुति के लिए सवा लाख ब्राह्मण के भोज का संकल्प किया और सपरिवार काशी में आकर निवास करने लगे । उसी समय यह समाचार प्राप्त हुआ कि काशी पर तत्कालीन मुगल सम्राट आक्रमण करने वाला है अतएव अधिकांश नगर निवासी काशी छोड़कर अन्यत्र जाने लगे । यह देखकर लक्ष्मणभट्ट भी अपने परिवार सहित अपने ग्राम अग्रहार[1] के लिए चल पड़े । मार्ग में ही रायपुर जिले के समीप चम्पारण्य ग्राम में कृष्ण पक्ष की एकादशी तिथि की रात्रि में यल्लम्मागारू ने अष्टमासीय पुत्र को जन्म दिया । शिशु को मृत समझकर उन्हें एक वस्त्र में लपेटकर एक वृक्ष के कोटर में रख दिया और वे फिर आगे चल पड़े। आगे जाकर रात्रि में दोनों पति - पत्नी को भगवान् ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि तुम्हारे यहाँ मेरा अवतार हो चुका है । प्रातः दोनों ने एक- दूसरे को अपने - अपने स्वप्न सुनाये । इसी बीच काशी में उपद्रव शान्त होने का

- -

1. कहीं - कहीं पर अग्रहार के स्थान पर चौड़ानगर ग्राम का उल्लेख प्राप्त होता है ।

समाचार मिला । वे लोग वापस काशी के लिए चल पड़े । लक्ष्मण भट्ट और उनकी पत्नी उस स्थान पर गये जहाँ शिशु को छोड़कर आये थे, वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा उससे आश्चर्यचकित रह गये । वहाँ उन्होंने अग्नि से समावृत एक दिव्यलक्षण सम्पन्न बालक को वल्लम्मागारू के द्वारा बिछाये वस्त्र पर क्रीड़ा करते हुए देखा।[1] यही बालक बाद में वल्लभाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुआ । इन्हें वैश्वानर का अवतार भी कहा जाता है ।[2] अग्नि भगवान का मुख है, अतएव आचार्य वल्लभ को पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण का मुखावतार स्वीकार किया जाता है ।

काशी का उपद्रव शान्त होने पर ये लोग पुन: अपने निवास स्थान हनुमान घाट पर रहने लगे । वहीं पर वल्लभाचार्य के समस्त संस्कार व शिक्षा हुई ।

बाल्यावस्था से ही ये अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे । आठ वर्ष की अवस्था में इनका उपनयन संस्कार हुआ और वे कुल पुरोहित श्री विष्णुचित्त के पास विद्याध्ययन के लिए भेजे गये । बाल्यकाल में ही उन्हें " बाल सरस्वती वाक्पति" की उपाधि मिली । किशोरावस्था प्राप्त करने तक उन्होंने वेदों, पुराणों एवं दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त करके पूर्ण विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी । अपने अध्ययनकाल में ही इन्होंने "ब्रह्मवाद" जो कि "शुद्धाद्वैत" नाम से प्रसिद्ध हुआ, का

- -

1· श्री वल्लभाचार्य , एम०सी० पारिख, पृ० - 3

2· वल्लभदिग्विजय , यदुनाथ पृ० - 7-8

प्रवर्तन किया। अवकाश के समय उन्होंने अपने इस सिद्धान्त का प्रचार अपने सहपाठियों में किया। बहुत से विद्वान् इस सिद्धान्त के विरोधी हुए किन्तु अपने मत को उन्होंने तर्कों व प्रमाणों से पुष्ट करके विरोधी विद्वानों का भी समर्थन प्राप्त कर लिया। इस प्रकार-बाल्यकाल में ही उन्होंने प्राय: समस्त धार्मिक ग्रन्थों में कुशलता प्राप्त कर ली[1] और विद्वानों में आदरणीय हो गये।

बारह वर्ष की अल्पायु में ही इनके पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु से इनके मन में वैराग्य भावना उत्पन्न हुई और वही कालान्तर में शास्त्रों और पुराणों के स्वाध्याय से 'भक्ति' के रूप में पल्लवित हुई।

वल्लभाचार्य ने अपने जीवन में भारतवर्ष की तीन परिक्रमाएं कीं। प्रथम परिक्रमा उन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु के पश्चात प्रारम्भ की। सर्वप्रथम वे चित्रकूट गये, वहाँ से अपनी जन्मभूमि चम्पारण्य होते हुए अपने मूल निवास स्थान अग्रहार पहुंचे। वहाँ उनके अनेक शिष्य हुए।

वल्लभाचार्य प्रमुख तीर्थों एवं धार्मिक स्थानों में शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग का प्रचार करते हुए सं0 1546 के अन्त में उज्जैन गये। वहाँ से ओरछा होते हुए सं0 1548 में विजयनगर पहुंचे तथा अपनी माता की इच्छानुसार उन्हें विजयनगर अपने मामा के यहाँ छोड़ दिया। वहीं उन्हें विजयनगर के राजा

---

1. श्री वल्लभाचार्य - एम0सी0 पारिख, राजकोट, पृ0 - 7

कृष्णदेव के यहाँ होने वाले वाद का समाचार प्राप्त हुआ । राजा का मन्तव्य था कि जो इस वाद में जीतेगा उसे ही वे अपना दीक्षागुरू बनायेंगे । यह सुनकर उन्होंने वहाँ जाने का निश्चय किया ।

राजा कृष्णदेव को पत्नी माध्वमतानुयायी आचार्य व्यासतीर्थ की शिष्या थी तथा राजा से भी उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का आग्रह कर रही थीं । राजा ने एक सभा का आयोजन किया और यह संकल्प किया कि इस शास्त्रार्थ में जो अन्य मतावलम्बियों को परास्त करेगा उसी का वे शिष्यत्व ग्रहण करेंगे । इस शास्त्रार्थ में शांकर मतानुयायी विद्वानों ने व्यासतीर्थ को पराजित कर दिया । इसके पश्चात् शांकर मतानुयायियों का शास्त्रार्थ वल्लभाचार्य के साथ हुआ । विवाद का मुख्य विषय था - ब्रह्मस्वरूप क्या है? अद्वैतवादियों का मत था कि ब्रह्म निर्विशेष है । अट्ठाइस दिनों के शास्त्रार्थ के उपरान्त सभा के समस्त आचार्यों को परास्तकर उन्होंने ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैतवाद मत की स्थापना की । इस समय वे मात्र 13-14 वर्ष के थे । राजा कृष्णदेव ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तथा उन्हें "जगद्गुरुश्रीमद् आचार्य" की उपाधि से विभूषित किया ।[1] कृष्णदेव ने आचार्य का कनकाभिषेक किया तथा उन्हें प्रभूत द्रव्य समर्पित किया । आचार्य ने वह सम्पूर्ण सम्पत्ति राजा के हाथों से ही दान करवा दी । राजा ने आचार्य से स्वयं को शरण में लेने की प्रार्थना की तब आचार्य ने उन्हें शरणाष्टक मंत्र "श्रीकृष्ण: शरणं मम" की

---

1. श्री वल्लभाचार्य, एम०सी०पारिख, पृ०- 89

दीक्षा दी और वैष्णवत्व के अभिज्ञानस्वरूप तुलसीकाष्ठ की माला प्रदान की। इस प्रकार यह प्रथम यात्रा इन्होंने सात वर्षों में पूर्ण की।

द्वितीय यात्रा वल्लभाचार्य ने उन्नीस वर्ष की अवस्था में सं0 1554 में आरम्भ की जो सं0 1559 में पूर्ण हुई। इसी यात्राकाल में दक्षिण की यात्रा करते हुए वे पण्डरपुर पहुँचे जहाँ विट्ठलनाथ जी ने दर्शन देकर इन्हें विवाह करने की आज्ञा प्रदान की जिससे उनके वंश द्वारा पुष्टिमार्ग का समुचित प्रचार हो सके। वहाँ से इन्होंने देश के विभिन्न भागों में घूमकर पुष्टिमार्ग का प्रचार किया तथा वापस काशी आने के बाद सं0 1562 के आषाढ मास में श्री देवभट्ट की पुत्री महालक्ष्मी के साथ विवाह किया। इस समय उनकी अवस्था 28 वर्ष थी। विवाह के पश्चात् 6 मास तक आप काशी में रहे और तदनन्तर तृतीय परिक्रमा की तैयारी आरम्भ कर दी। तृतीय परिक्रमा के क्रम में आचार्य सर्वप्रथम केदारनाथ धाम पहुँचे। वहाँ श्रीनाथ जी की आज्ञा हुई कि आप ब्रज में आकर मेरा सेवा प्रकार निश्चित करें। आचार्य ने ब्रज जाकर सेवा-विधि का निर्धारण किया और वहाँ से जगन्नाथपुरी और गुजरात की यात्रा करते हुए बद्रीनाथ, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र होते हुए पुनः ब्रज में जाकर श्रीनाथ जी के दर्शन किये। अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए अन्त में यह प्रयाग में स्थित अरैल क्षेत्र में पहुँचे तो इनके शिष्य सोमेश्वर ने इनसे अरैल में ही सपरिवार निवास करने की प्रार्थना की और इस प्रकार तीनों परिक्रमाएं पूर्णकर इन्होंने अरैल को ही अपना निवास स्थान बनाया और वहीं रहने लगे।

आचार्य वल्लभ के दो पुत्र हुए। ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ का जन्म अरैल में सं० 1568 में आश्विन मास के कृष्ण पक्ष सं० 1572 में चरणाद्रि (आधुनिक चुनार) में हुआ । गोपीनाथ जी तो अल्पायु में ही दिवंगत हो गये किन्तु विट्ठलनाथ जी ने आगे चलकर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का और अधिक सवर्द्धन किया ।

सं० 1587 में 52 वर्ष की अल्पायु में ही आचार्य श्री ने काशी में जलसमाधि ले ली ।

अपने सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त वे धर्म प्रचार में लगे रहे । 31 वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने भारतवर्ष की तीन परिक्रमाएं कर लीं । ये परिक्रमाएं इनके व्यक्तित्व के विकास के साथ ही शुद्धाद्वैत के प्रचार में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुईं । सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए उन्होंने व्यापक स्तर पर कृष्ण भक्ति का प्रचार प्रसार किया । इन्होंने कृष्ण भक्ति के व्यापक प्रचार हेतु अनेक स्थानों पर कृष्ण मन्दिरों का भी निर्माण कराया ।

भारतयात्रा काल में आपने अनेक स्थानों पर श्रीमद्भागवत के अनेक पारायण किये तथा पुष्टि मार्ग के प्रचार हेतु श्रीमद्भागवत को ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया । जिन स्थलों पर इन्होंने भागवत का पारायण अथवा सप्ताह किया , वे स्थान इनकी "बैठक " के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये बैठकें भारत के चित्रकूट, काशी, जगन्नाथपुरी, हरिद्वार, सिद्धपुर, विद्यानगर, द्वारका, चरणाद्रि, चम्पारण्य, पण्ढरपुर आदि लगभग 84 स्थानों में हैं ।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की । यद्यपि

यह सिद्धान्त विष्णुस्वामी के मत का ही रूपान्तर है किन्तु कहीं - कहीं सिद्धान्तत: और भक्ति के मार्ग में यह विष्णु शर्मा के मत से पर्याप्त भिन्नता भी रखता है ।[1] विष्णु स्वामी ने सगुण एवं तामसी भक्ति का प्रचार किया जबकि आचार्य वल्लभ ने प्रेमलक्षणा निर्गुण भक्ति का प्रचार किया । जिस प्रकार विशिष्टाद्वैतवाद में रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द का मत भक्ति मार्ग में रामानुज से भिन्न है उसी प्रकार आचार्य वल्लभ का भी भक्तिमार्ग में विष्णु स्वामी से मतभेद है । वल्लभाचार्य ने सगुण और निर्गुण भक्ति को व्यावहारिक रूप देने के लिए पुष्टि मार्ग की स्थापना की और एक विशिष्ट सेवा मार्ग का निरूपण किया ।[2] आचार्य श्री ने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन करके ब्रह्म के शुद्ध अद्वैत रूप का प्रतिपादन किया तथा भगवान् के निर्गुण, सगुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हुए भगवदनुग्रह के लिए आसक्तिरहित भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट स्थिति माना है । उन्होंने संसार के दुखी प्राणियों के लिए केवल भगवत्कृपा को ही परमगति का सर्वोच्च साधन मानकर प्रपत्ति मार्ग का प्रचार किया । अनेक स्थानों पर इन्होंने श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की तथा सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र व्रजभूमि को ही बनाया । ब्रज-भूमि से पुष्टिमार्ग का प्रवाह गुजरात एवं सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गया ।

1· भारतीय दर्शन का इतिहास, (भाग 4) डा० एस०एन०दासगुप्त

2· भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग -दो, डा० एस०एन०दासगुप्त ।

उनके द्वारा किये गये चमत्कारों की अनेक कथाएं प्राप्त होती हैं। एक बहुचर्चित घटना सिकन्दर लोदी के शासन काल की है। उस समय मथुरा में हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जा रहा था। आचार्य व्रज यात्रा करते हुए मथुरा पहुँचे। वहाँ गोकुल के काजी ने विश्रान्त घाट पर एक ऐसा यन्त्र लगाया था जिसके नीचे से जाने वाला, हिन्दू से मुसलमान बन जाता था। इस कारण सभी को यमुना-स्नान में बहुत बाधा पड़ रही थी। तब आचार्य ने कागज पर एक मन्त्र लिखकर दिया कि जो यवन इस मन्त्र के नीचे से जायेगा वह मुसलमान से हिन्दू बन जायेगा। श्री केशव भट्ट ने दिल्ली दरवाजे पर यह मंत्र टाँग दिया और घोषणा करा दी। सिकन्दर लोदी ने केशव भट्ट को बुलाकर इस विषय में जानकारी प्राप्त की और आचार्य की महत्ता सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और विश्रान्त घाट से यंत्र उठवा लिया।[1]

अपने समय के विद्वानों में आचार्य अत्यन्त आदरणीय माने जाते थे। वे अत्यन्त उदार एवं निस्पृह थे। अनेक धनाद्य वर्ग के व्यक्ति, राजा महाराजा उनके शिष्य थे जिनसे आचार्य को अपार द्रव्य मिलता था किन्तु उन्होंने उसे कभी अपने लिए स्वीकार नहीं किया, उस द्रव्य का भगवत्सेवा हेतु साधु एवं दरिद्रों की सहायता में उपयोग किया।

यद्यपि आचार्य ने अपने सिद्धान्त को भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ व सरलतम उपाय बताया किन्तु अन्य धर्मों अथवा सिद्धान्तों से उनका द्वेष नहीं

---

1. वल्लभदिग्विजय, यदुनाथ, पृ० - 50

था । अनेक शास्त्रार्थों में उन्होंने विजय प्राप्त की किन्तु दर्प की भावना का उनमें स्पर्श तक न था । अपने स्नेही स्वभाव के कारण ये अत्यन्त लोकप्रिय थे । जाति भावना व छुआछूत में वे विश्वास नहीं रखते थे । ईश्वर की भक्ति में वे प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों का समान अधिकार स्वीकार करते थे ।

उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की । उनकी रचनायें संस्कृत भाषा में हैं किन्तु अपने शिष्यों को उन्होंने बृजभाषा में रचना करने का आदेश दिया अष्टछाप के कवि इसका प्रमाण हैं । अष्टछाप के कवियों में से सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास , तथा परमानन्ददास वल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे । इन्हें "अष्टछाप" का नाम भी विट्ठल ने ही दिया था ।

कृतित्व :

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्त के स्पष्टीकरण हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की । वल्लभ सम्प्रदाय में इनके रचित चौरासी ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] डा० दासगुप्त की पुस्तक "भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग चार" में वल्लभाचार्य के 51 ग्रन्थों की सूची उपलब्ध है । "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" के लेखक डा० दीनदयालगुप्त के अनुसार आजकल इनके 30 ग्रन्थ प्राप्त होते हैं ।[2] जिनमें से चार ग्रन्थ सिद्धान्त की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं,

---

1· वल्लभ दिग्विजय , यदुनाथ , पृ० 52

2· अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दीनदयाल गुप्त भाग-2, पृ०-73

इनके नाम इस प्रकार हैं -

1· अणु भाष्य

2· तत्वदीपनिबन्ध

3· श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी, व्याख्या

4· षोडशग्रन्थ

इनमें से "अणुभाष्य" बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या है, "तत्त्व-दीपनिबन्ध" उनके सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाला स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथा "सुबोधिनी" श्रीमद्भागवत पर उनकी टीका है । षोडशग्रन्थ उनके सोलह प्रकरण ग्रन्थों का संकलन है । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

अणुभाष्य :

ब्रह्मसूत्रों पर वल्लभाचार्य द्वारा रचित भाष्य "अणुभाष्य" नाम से प्रसिद्ध है । इसमें आचार्य ने अन्य मतों की समीक्षा करके अपने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है ।

वेदान्त सूत्र चार अध्यायों में विभक्त है । प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद तथा प्रत्येक पाद में कई अधिकरण है । चारों अध्याय समन्वयाध्याय, अविरोध, साधन एवं फल नाम से जाने जाते हैं । अणुभाष्य वर्तमान समय में जिस रूप में उपलब्ध है वह पूरा वल्लभाचार्य द्वारा नहीं लिखा गया है ।

तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के 34वें सूत्र तक का अंश आचार्य वल्लभ द्वारा प्रणीत है तथा शेष भाग की रचना उनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ द्वारा की गयी है ।

आचार्य वल्लभ द्वारा रचित बृहद् भाष्य का भी विवरण प्राप्त होता है, अणुभाष्य को बृहद्भाष्य का सूक्ष्म रूप माना जाता है । कुछ विद्वानों का मत है कि आचार्य वल्लभ ने एक विशद भाष्य लिखा होगा जो कि दुर्भाग्य से या तो नष्ट हो चुका है या अप्राप्य है और अणुभाष्य का जो रूप आज उपलब्ध है वह इसी बृहद् भाष्य का संकलित अंश है ।

यद्यपि अणुभाष्य का कुछ अंश आचार्य के पुत्र द्वारा लिखा गया किन्तु सामान्यतः इसका अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि श्री विट्ठल ने आचार्य की शैली और सिद्धान्तों का बहुत अच्छा अनुकरण किया है वल्लभ के सिद्धान्तों में इससे कोई अन्तर नहीं आता इसीलिए अणुभाष्य को पूरा वल्लभाचार्य का ही ग्रन्थ मानकर विषय - विवेचन किया जाता है ।

अणुभाष्य शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ है, इस पर अनेक विद्वानों द्वारा टीका भी लिखी गयी है । सबसे महत्त्वपूर्ण टीका पुरुषोत्तम जी महाराज की " भाष्य प्रकाश " टीका है । अणुभाष्य और भाष्य प्रकाश दोनों के ऊपर गोपेश्वर महाराज द्वारा प्रणीत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका "रश्मि" है । इसमें अणुभाष्य के साथ - साथ भाष्य प्रकाश को भी व्याख्यायित किया गया । इसके अतिरिक्त भी अनेक टीकाएं प्राप्त होती हैं ।

2. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध :

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रणीत दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "तत्त्वार्थ-दीपनिबन्ध" है । इसे " निबन्ध " भी कहते हैं । शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों का स्वरूप स्पष्ट करने वाला यह आचार्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ कारिका रूप में है । कारिकाओं पर स्वयं आचार्य ने "प्रकाश " नामक टीका भी लिखी है। इस ग्रन्थ पर पुरुषोत्तम जी महाराज की " आवरण भंग " नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका भी प्राप्त होती है ।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं - शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्वनिर्णय प्रकरण तथा भागवतार्थ प्रकरण ।

शास्त्रार्थ प्रकरण में शुद्धाद्वैत मत का विस्तृत विवेचन है । इसकी रचना भगवद्गीता के अनुसार हुई है । आचार्य के अनुसार शास्त्रार्थ का अर्थ गीतार्थ ही है - शास्त्रार्थो गीतार्थः ।[1] इसमें प्रमाण का आश्रय लेकर ब्रह्म के सच्चिदानन्दस्वरूप, जीव के अणुत्व, अंशत्व एवं ब्रह्म से भिन्न रूप प्रपंच, श्रीकृष्ण भक्ति आदि विषयों का सम्यक् विवेचन किया है ।

सर्वनिर्णय प्रकरण में आचार्य ने दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है । ज्ञान, कर्म और भक्ति के साधन, स्वरूप एवं फल का निर्णय करने के लिए ही सर्वनिर्णय प्रकरण की रचना की गयी है । पुष्टिमार्ग, मर्यादा मार्ग तथा ज्ञानमार्ग के स्वरूप और उनकी आचार पद्धतियों का भी विवेचन इस प्रकरण में किया गया

---

1. (क) तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, प्रकाश पृ0 - 22
   (ख) "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् " त0दी0नि0 कारिका 4

है ।

भागवतार्थ प्रकरण में भागवत के प्रत्येक स्कन्ध के वर्ण्य - विषय का सार प्रस्तुत किया गया है । हृदय में भगवद्भाव के दृढ़ीकरण हेतु श्रीमद्भागवत का पूर्णतः अर्थ ज्ञान ही प्रमुख साधन है, इसी आशय की पूर्ति के लिए आचार्य ने इस प्रकरण की रचना की । आचार्य श्री ने श्रीमद्भागवत के प्रतिपाद्य विषय का प्रथम प्रकरण में संक्षेप से निरूपण करके तृतीय प्रकरण में उसी को विस्तृत रूप प्रदान किया है ।[1]

सुबोधिनी :

श्रीमद्भागवत पर आचार्य वल्लभ द्वारा रचित टीका का नाम सुबोधिनी"है । यह टीका प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कन्धों पर प्राप्त होती है। एकादश स्कन्ध की व्याख्या भी पूर्ण नहीं है । यद्यपि "सुबोधिनी एक टीकामात्र है किन्तु इसमें विषय का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया है, वैसा अन्यत्र नहीं प्राप्त होता फलतः यह भागवत के सर्वाधिक सुन्दर व्याख्यानों में से एक है । आचार्य ने भागवत के कथ्य को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है । सुबोधिनी पर पुरुषोत्तम की "सुबोधिनी प्रकाश " नामक टीका उपलब्ध है ।

षोडश ग्रन्थ :

आचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में षोडश ग्रन्थों का विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये आचार्य के 16 प्रकरण ग्रन्थ हैं । तत्त्वदीप निबन्ध की

---

1. "शास्त्रार्थस्य संक्षेपरूपत्वाद विस्तारार्थं भागवतरूपं तृतीयप्रकरणं, यत्र भागवतं निरूप्यते ।" - तत्त्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, प्रकाश, कारिका 5

भाँति ये भी आचार्य के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । इनमें विभिन्न विषयों पर स्तुति एवं सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । यद्यपि ये अत्यन्त लघु कलेवरीय रचनाएं हैं तथापि भावगाम्भीर्य के कारण इन्हें ग्रन्थ की संज्ञा दी गयी है। इनमें शुद्धाद्वैतवाद के समस्त गम्भीर विचारों का संकलन हुआ है । अनेक विद्वानों ने इन पर टीकाएं लिखी हैं । इन ग्रन्थों का अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

यमुनाष्टकम् :

वल्लभ सम्प्रदाय में यमुना नदी विशेष रूप से पूज्य मानी गयी है। इसमें आचार्य ने बडे ही सुन्दर ढंग से यमुना नदी की स्तुति की है । इस ग्रन्थ में कुल आठ श्लोक हैं । इन आठ श्लोकों में यमुना के स्वरूप, गुण, सर्वात्मभाव तथा ऐश्वर्य का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है ।

बाल - बोध :

इस ग्रन्थ में कुल बीस श्लोक हैं, जिसमें से बीसवां भी अपूर्ण है । यह ज्ञान निरूपक ग्रन्थ है । इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का विवेचन है । आचार्य का मत है कि भक्ति के लिए जीवकृत प्रयत्न नहीं अपितु भगवदिच्छा या भगवदनुग्रह ही मुख्य हेतु है । भक्ति में भगवत्सेवा ही धर्म, भगवान ही अर्थ, भगवद्दर्शन की इच्छा काम तथा भगवान का अनन्य भजन ही मोक्ष स्वीकार किया गया है । इसमें आचार्य ने शरणागति, आत्मनिवेदन तथा अहन्ताममतानिवृत्ति की उपयोगिता को अधिक महत्त्व दिया है ।

सिद्धान्तमुक्तावली :

सिद्धान्त की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में आचार्य ने 21 श्लोकों में भगवत्सेवा के प्रकार, महत्त्व तथा पुष्टिमार्गीय भक्ति के ज्ञान के हेतु साधन और फल पर प्रकाश डाला है । सेवक को सदैव भगवत्सेवा में रत रहना चाहिए। सेवा तीन प्रकार की होतीहै- तनुजा, वित्तजा, मानसी । आचार्य के अनुसार मानसी सेवा ही भक्ति है । इसी ग्रन्थ में वल्लभ ने ब्रह्म के पुरुषोत्तम व अक्षररूप का प्रतिपादन किया है तथा पुष्टिमार्गीय, मर्यादामार्गीय और ज्ञानमार्गीय साधकों की स्थिति की भी विवेचना की है ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद :

यह ग्रन्थ आचार्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है । इसमें आचार्य ने जीवों के वर्गीकरण पर विशेषत: विचार किया है । सर्वप्रथम पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा मार्गों का स्वरूप विवेचन करके तत्पश्चात् इन साधनामार्गों में जीवों का भी पुष्टि जीव, मर्यादा जीव और प्रवाह जीव रूप से वर्गीकरण किया गया है । यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है । इसके अन्तिम कुछ श्लोक उपलब्ध नहीं हैं ।

सिद्धान्तरहस्य :

यह ग्रन्थ मुख्यत: भक्ति विषयक है । इसमें साढ़े आठ श्लोकों वाले इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्ग व आत्मनिवेदन की विधि तथा पुष्टिमार्ग में दीक्षित साधक के आचार विचार का विवेचन तथा भक्त के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय भी किया गया है ।

नवरत्न :

इस ग्रन्थ में नौ श्लोक है । इन श्लोकों में आचार्य ने पुष्टिमार्गीय जीव को कठिन स्थिति में रहने पर भी भगवत्सेवोपयोगी बनाने; चिन्ता, व्यग्रता का परित्याग करने का उपदेश दिया है । ईश्वर के चरणों में आत्मसमर्पण कर देने के उपरान्त कैसी चिन्ता ? समर्पण के उपरान्त तो सारा दायित्व ईश्वर का हो जाता है ।

अन्तःकरण प्रबोध :

इसमें ग्यारह श्लोक हैं । इस ग्रन्थ में आचार्य अन्तःकरण को सम्बोधित करके समस्त चिन्ताओं के परित्याग एवं एकमात्र निर्दोष भगवान के आज्ञानुवर्ती होकर रहने का उपदेश दिया है ।

विवेकधैर्याश्रयनिरूपण :

सत्रह श्लोकों वाले इस ग्रन्थ में आचार्य ने "विवेक" व "धैर्य" की स्वरूप समीक्षा की है । विवेक का अर्थ इस बात का ज्ञान है कि ईश्वरेच्छा ही बलवती है, जीव की किसी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए, उसे वही वस्तु प्राप्त होगी जिसे ईश्वर चाहेगा तथा धैर्य का अर्थ है 'त्रिविध तापों को अनुद्विग्नभाव से सहन करना'।

श्रीकृष्णाश्रय :

इस ग्रन्थ में दस श्लोकों में भगवान के प्रति निवेदन, शरणागति, और दैन्य आदि का वर्णन हुआ है । इसमें यह बताया गया है कि देश, काल, वित्त, धर्म, मन्त्र आदि सभी भ्रष्ट हो गये हैं, किसी भी प्रकार से पुरुषार्थ

की सिद्धि सम्भव नहीं है । एकमात्र श्रीकृष्ण का आश्रय लेने से ही इस प्रकार की सिद्धि सम्भव है, अतः श्रीकृष्ण ही जीव के एकमात्र आश्रय हैं ।

चतुःश्लोकी :

इस ग्रन्थ में मात्र चार श्लोक हैं । इसमें आचार्य ने बतायाहैकि जीव का प्रमुख कर्तव्य भगवान की निरन्तर सेवा है । सर्वात्मना आत्मसमर्पण पूर्वक भक्ति ही जीव के दुःखाभाव का एकमात्र उपाय है । अन्य जितने भी साधन हैं वे सब अल्पकालावस्थायी फल प्रदान करने वाले हैं । इसलिए ईश्वर-भक्ति ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है ।

भक्तिवर्द्धिनी :

इस प्रकरण ग्रन्थ में ग्यारह श्लोक हैं । इसमें प्रमुख रूप से भक्ति के साधनों का विवेचन किया गया है । यद्यपि अन्य ग्रन्थों में भी भक्ति का वर्णन है तथापि इस ग्रन्थ में भक्ति के विकास का बड़ा स्पष्ट व सुन्दर निरूपण किया गया है । प्रेम की तीन अवस्थाओं प्रेम, आसक्ति और व्यसन की स्थितियों तक भक्ति के क्रमिक विकास का विवेचन किया गया है ।

जलभेद :

यह इक्कीस श्लोकों का ग्रन्थ है । इसमें आचार्य ने जल के बीस भेदों के उदाहरण दिये हैं तथा भक्तों की विविध श्रेणियों को उनके समकक्ष बताया है । इस प्रकार जल के भेदों के आधार पर आचार्य ने साधकों के भी भेद किये हैं ।

पंचपद्यानि :

पाँच श्लोकों वाले इस प्रकरण ग्रन्थ में आचार्य ने श्रीकृष्ण - कथा के श्रोताओं के विभिन्न भेदों का वर्णन किया है ।

संन्यासनिर्णय :

इस ग्रन्थ में 22 श्लोक हैं । इसमें संन्यास ग्रहण करने का निर्णय किया है तथा संन्यास के स्वरूप, साधन, कर्तव्य, परिणाम आदि पर विचार किया गया है ।

निरोधलक्षण :

प्रस्तुत प्रकरण ग्रन्थ में बीस श्लोकों में निरोध की स्वरूप समीक्षा की गयी है । निरोध के भेद, साधन एवं फल की इस ग्रन्थ मे विवेचना की गयी है । "सांसारिक विषयों व व्यक्तियों से मन को पूर्णतः हटाकर एकमात्र श्रीकृष्ण में ही मन का केन्द्रीयकरण निरोध है ।" चित्त के निरुद्ध होने पर ही भगवत्कृपा प्राप्त हो सकती है और भगवत्कृपा ही एकमात्र काम्य वस्तु है क्योंकि भगवदनुग्रह से ही परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।

सेवाफल :

साढ़े सात श्लोकों वाले इस प्रकरण ग्रन्थ में आचार्य ने पुष्टिमार्गीय और मर्यादामार्गीय जीवों को प्राप्त होने वाले फलों का विवेचन किया है । फलों की प्राप्ति में बाधक तीन अन्तराय - उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग का भी

प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार आचार्य के ये समस्त ग्रन्थ शुद्धाद्वैत सिद्धान्त-प्रतिपादन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । इसके अतिरिक्त भी आचार्य ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से उनकी कोई विशेष योगदान नहीं है । उनमें से अधिकांश पूजा विधिपरक या स्तोत्रों के संकलनमात्र हैं ।

तृतीय अध्याय

आलोच्य दर्शनों में परमसत्ता का स्वरूप

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में किसी न किसी परम तत्त्व की कल्पना की गयी है । ऐसी मान्यता है कि इसी परम तत्त्व के साक्षात्कार से मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसे ही किसी ने ईश्वर, किसी ने ब्रह्म तो किसी ने नारायण, विष्णु, कृष्ण आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है । समस्त वेदान्त दर्शन में प्रायः "ब्रह्म" को ही परम तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है । वेदान्त दर्शन श्रुतियों को परम प्रकाश प्रमाण मानता है । श्रुतियों में परम तत्त्व के रूप में एकमात्र 'ब्रह्म तत्त्व' का वर्णन प्राप्त है । वस्तुतः परम तत्त्व तो एक ही है किन्तु उपनिषदों में जहाँ एक ओर इसे निर्गुण, निरपेक्ष, सर्वातीत, अतीन्द्रिय रूप में निरूपित किया गया है, वहाँ उसके सगुण, सविशेष, सर्वात्मक, सर्वशक्तिमान् रूप का भी वर्णन प्राप्त होता है । इन परस्पर विरुद्ध सी प्रतीत होने वाली श्रुतियों का अर्थ प्राचीन आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से समझा और निरूपित किया । इस प्रकार वेदान्त दर्शन विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो गया ।

बादरायणकृत वेदान्त सूत्र उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संकलन है । विभिन्न आचार्यों ने इन पर भाष्य लिखकर अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं । ब्रह्मसूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य आचार्य शंकर का "शारीरिक भाष्य " प्राप्त होता है । आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष मानते हैं । उन्होंने उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म के निर्गुण, स्वरूप

को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता स्वीकार की है, उनके अतिरिक्त जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह भ्रम मात्र है तथा माया के कारण उत्पन्न है । उनके अनुसार ब्रह्म को सगुण और सविशेष बताने वाली श्रुतियाँ उपासनापरक हैं।[1] ये ब्रह्मस्वरूप की साक्षात् प्रतिपादिका नहीं है । किन्तु शंकराचार्य ने ब्रह्म के सगुण स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया है वे निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा सगुण रूप को गौण मानते हैं । सगुण रूप को उन्होंने केवल उपासना के लिए ही मान्यता दी है ।

शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही माया की उपाधि से युक्त होकर 'सगुण ब्रह्म' या 'ईश्वर' कहलाता है । यही सगुण ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है । इस प्रकार शंकर के अनुसार उपनिषदों में प्रतिपाद्यमान ब्रह्म निरूपाधिक और सोपाधिक दो प्रकार से वर्णित है । निरूपाधिक ब्रह्म "नेति नेति ......" के द्वारा सर्वथा असंग, निर्विशेष रूप से वर्णित है तथा सोपाधिक ब्रह्म "सर्वगन्धः सर्वरसः...." आदि इस रूप से सविशेष साकार रूप में । निरूपाधिक और सोपाधिक ब्रह्म को ही शंकर ने 'पर' और 'अपर' ब्रह्म की संज्ञा दी है । शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म "पर" है तथा यही परब्रह्म जब उपास्य रूप में कथित होता है तब वही "अपर ब्रह्म" कहलाता है । ब्रह्म के आकार आदि माया की उपाधि के कारण हैं और औपाधिक होने के कारण आविद्यक है । माया के आवरण के हटते ही ब्रह्म अपने शुद्ध, निर्गुण

- -

1. "आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन" - डा० राजलक्ष्मी वर्मा ।

रूप में ही भासित होने लगता है । अतः ब्रह्म के आकार विशेष के कथनमात्र से उसे साकार नहीं मान लेना चाहिए । सविशेष श्रुतियाँ उपासनार्थ हैं किन्तु परम सत्ता का स्वरूप सविशेष नहीं अपितु अवाङ्‌मनसगोचर है । इस प्रकार शंकर ब्रह्म के निर्गुण रूप को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं तथा सगुण रूप को माया शबलित मानकर उसकी हीनता मानते हैं ।[1]

आचार्य शंकर के इस सिद्धान्त का विरोध समस्त वैष्णवाचार्यों ने किया है । उन्होंने शंकराभिमत ब्रह्म के 'निर्विशेषत्व' का खण्डन करके उसके 'सविशेष' रूप का प्रतिपादन किया है । आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ने ही ब्रह्म के सगुण, सविशेष रूप की ही प्रतिष्ठा की है । उनके अनुसार सविशेष श्रुतियाँ औपाधिक या अपर ब्रह्म का नहीं अपितु मुख्य और परब्रह्म का प्रतिपादन करती है । निर्विशेष और सविशेष श्रुतियों को क्रमशः मुख्य और गौण मानने में कोई युक्ति नहीं है बल्कि सविशेष और निर्विशेष दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का ब्रह्म के विषय में समान प्रामाण्य है । श्रुति द्वारा उपासना वाक्यों में ब्रह्म के जिन सविशेष रूपों का निर्देश किया गया है उसे यदि औपाधिक मान लिया जाय तो औपाधिक होने के कारण वे आवश्यक फलतः असत्य हो जायेंगी और इस प्रकार श्रुतियों पर असत्य अर्थ के प्रतिपादन का दोष प्रसक्त होगा ।

---

1. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय - पृ० 377

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत दोनों ही सम्प्रदायों में विशुद्ध ब्रह्म को ही उपास्य स्वीकार कर सविशेष श्रुतियों को भी उतना ही ब्रह्म परक माना गया है, जितना निर्विशेष श्रुतियों को, अतः उनके अनुसार सगुण और निर्गुण वाक्यों में कोई अन्तर नहीं है ।

ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है :-

समस्त अद्वैत वेदान्तियों के समान आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य भी एकमात्र ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं । ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है । वह विभु और नाशरहित है । जागतिक गुणों से अतीत सत्ता होने के कारण ही ब्रह्म को निर्गुण भी कहा गया है अन्यथा वह सगुण रूप है क्योंकि वह आनन्दस्वरूप और दिव्य गुणों का स्वामी है । वैष्णवाचार्य बारम्बार इसका उल्लेख करते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण ही उसे "निर्गुण" कहा गया है ।

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है । उनके ब्रह्म सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि वह चिदचिदात्मक है,[1] अर्थात रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट है, किन्तु ये चित् और अचित् ईश्वर (ब्रह्म) के लिए पृथक् अस्तित्व रखने वाले विशेष्य नहीं है । कहने का तात्पर्य

---

1. दृष्टव्य, Life of Ramanuja - Swami Ramkrishnananda, Page 258

यह है कि चिदचिद की सत्ता ईश्वर से भिन्न और स्वतन्त्र किसी भी स्थान पर सिद्ध नहीं हो सकती । ईश्वर या ब्रह्म विशेष्य या अंगी है तथा चित् और अचित् उसके विशेषण या अंगभूत हैं । अंगभूत चिदचिद की अंगीभूत ईश्वर से पृथक सत्ता न होने के कारण ब्रह्म अद्वैतरूप है, इसी वैलक्षण्य के कारण यह सम्प्रदाय 'विशिष्टाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है । इसके अनुसार ईश्वर नित्य ही चित् और अचित से विशिष्ट हैं । सृष्टिकाल में चित् और अचित् स्थूल तथा प्रलयावस्था में सूक्ष्म होते हैं इस तरह इनकी सत्ता प्रलयावस्था में भी बनी रहती है ।[1]

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वल्लभ भी चिदचिद की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे 'चिदचिद' की संज्ञा न देकर 'जीव और जगत' रूप से अभिहित करते हैं । इनका ब्रह्म चिदचिद से विशिष्ट न होकर माया की मलिनता से रहित फलतः शुद्ध है और इसीलिए इनका सम्प्रदाय 'शुद्धाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। "शुद्धयोरद्वैत " अर्थात् माया की उपाधि से रहित जीव और ब्रह्म का अद्वैत । "शुद्धस्य तदद्वैतम् " ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होता है "ब्रह्म का अद्वैत जो कि शुद्ध अर्थात् माया के सम्बन्ध से रहित है।"[2]

आचार्य वल्लभ ने अद्वैत मत में मान्य माया से लिप्त ब्रह्म को जगत् का

- -

1· वेदार्थ संग्रह, पृ० 17-18

2· वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, डा० राधारानी सुखवाल ।

कारण न मानकर माया से अलिप्त अर्थात् मायोपाधि से रहित शुद्धब्रह्म को जगत का कारण माना है । उनके अनुसार ब्रह्म कार्य और कारण दोनों रूपों में शुद्ध है, मायिक नहीं ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त अनुच्छेदों में विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत शब्दों का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट किया गया । अब विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में " मान्य चित् ' और अचित् क्या है, इसकी चर्चा की जायेगी ।

चित् :

विशिष्टाद्वैत मत में मान्य चित् से अभिप्राय है - आत्मा या जीव । यह देहादि से पृथक, स्वप्रकाश, नित्य, अणु , अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, सदा एकरूप और निर्विकार है । जीव अणु है , तथापि उसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है । यह भगवदधीन है, अपने समस्त कार्यकलापों के लिए वह ईश्वर पर आश्रित रहता है । भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए परम पुरुषार्थ है ।

जीव ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता भी है किन्तु सांसारिक प्रवृत्तियों में उसका कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं अपितु गुणों के संसर्ग के कारण है । उसका कर्तृत्व

---

1. "मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।।

-शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गिरिधर, 28

ईश्वराधीन है । जीव की आद्य स्वातन्त्र्य शक्ति भी ईश्वर प्रदत्त ही है और इस प्रकार उसकी स्वाधीनता भी भगवदधीन है ।

जीव स्वयंप्रकाश है, इसे प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती । जीवों के तीन प्रकार हैं - बद्ध, मुक्त और संसारी । इनकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी । तीनों ही प्रकार के जीव संख्या में अनन्त हैं ।

अचित् :

ज्ञान शून्य विकारास्पद-वस्तु अचित् कहलाती है । विशिष्टाद्वैतवादी तीन प्रकार के अचित् तत्त्व स्वीकार करते हैं -

(1) शुद्ध सत्त्व (2) मिश्र सत्त्व (3) सत्त्व शून्य ।

शुद्ध सत्त्व में रज और तमोगुण का सम्बन्ध नहीं है इसलिए यह नित्य, निर्मल एवं ज्ञान और आनन्द का जनक है । यह अनन्त तेजोमय अद्भुत पदार्थ है जिससे मुक्त तथा नित्य पुरुषों के शरीर तथा उनके भोग्य स्थान स्वर्गादिकों की रचना होती है । शुद्ध सत्त्व " मैं " रूप में प्रकाशित नहीं होता किन्तु शरीरादि के रूप में परिणत होता है तथा विषय संस्पर्श के बिना ही प्रतिभात होता है, शब्दादि इसके धर्म हैं ।

मिश्रसत्व रज और तमोमिश्र है । यह प्राकृतिक सृष्टि का उपादान तथा बद्ध जीव के ज्ञान और आनन्द का आवरक है । माया, अविद्या या प्रकृति इसी की संज्ञाएं हैं । मिश्रसत्व ही विपरीत ज्ञान का हेतु है । इसी से प्रदेशभेद और कालभेद से सदृश और विसदृश सभी विकार उत्पन्न होते हैं । यह ज्ञान - विरोधी तथा विचित्र सृष्टि साधक है ।

सत्वशून्य अचित् तत्व "काल" है । यह प्रकृति और प्राकृत वस्तु का परिणाम-साधक है । नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत सभी प्रकार के प्रलय काल के अधीन हैं ।[1]

ईश्वर :

ईश्वर तत्त्व ही मूल तत्त्व है । चित् और अचित् ईश्वराश्रित है. अतएव ईश्वर आश्रयस्वरूप है । चित् और अचित् उनका 'शरीर' है । ईश्वर अनन्त ज्ञान, आनन्दस्वरूप, अनन्तकल्याणगुणमण्डित तथा समस्त जगत् के उपादान और निमित्त-कारण हैं । जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहृति ईश्वर की लीलामात्र है । सृष्टिकाल में जगत् की प्रतीति स्थूल रूप से होती है परन्तु प्रलयदशा में वही जगत् सूक्ष्म रूप में अवस्थित होता है अतः प्रलयकाल में जी-, तथा जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न

---

1. " भारतीय साधना की धारा " - डा0 गोपीनाथ कविराज ।

होने के कारण तत्सम्बद्ध ईश्वर कारण "ब्रह्म" कहलाता है तथा सृष्टिकाल में चिदचिद के स्थूलरूपापन्न होने के कारण तत्सम्बद्ध ईश्वर 'कार्यब्रह्म' कहलाता है।[1] "एकमेवाद्वितीयम् " आदि श्रुतियाँ इसी अव्याकृत ब्रह्म की घोषणा करती है जिसमें प्रलय दशा में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर ब्रह्म में तदवस्थित हो जाते हैं। यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए पाँच रूप धारण करता है - (1) पर (2) व्यूह (3) विभव (4) अन्तर्यामी और (5) अर्चावतार। इन रूपों की विस्तारपूर्वक चर्चा इसी अध्याय में प्रसंगानुसार आगे की जायेगी।

रामानुजाचार्य चिदचिद का ईश्वर के साथ अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। आत्मा का शरीर के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही ईश्वर का चिदचिद के साथ है।[2] ईश्वर चिदचिद को आश्रित करता है और कार्य में प्रवृत्त करता है। नियामक होने से ईश्वर विशेष्य तथा नियम्य या अप्रधान होने से जीव, जगत् 'विशेषण' कहलाते हैं।

आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् और आनन्द

- -

1. वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - बलदेव उपाध्याय।

2. सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम् " ..... श्री भाष्य 2/1/9

का समन्वय है । ब्रह्म एक है, क्रीडा के निमित्त वह एक से अनेक होने का संकल्प करता है । और अपने गुणों के आविर्भावतिरोभाव द्वारा अपने अंशरूप जीव और जगत् की सृष्टि करता है । जड़ तत्व में चित् और आनन्द रूप तिरोभूत रहते हैं, केवल सदंश ही विद्यमान रहता है तथा जीव में सत् और चिदंश विद्यमान रहता है, मात्र आनन्दांश का तिरोभाव रहता है ।[1]

वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद को "ब्रह्मवाद" भी कहा है । ब्रह्मवाद का तात्पर्य है कि समस्त दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है, जीव भी ब्रह्म ही है । ब्रह्म सच्चिदानन्द है । जीव एवं जगत् ब्रह्म के ही अंश है अतएव जिस प्रकार सत् स्वरूप ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जीव एवं जगत् भी तदंश होने के कारण सत्य है । इसमें तथ्य की पुष्टि हेतु आचार्य ने श्रुति को प्रमाण स्वीकार किया है ।[2]

ब्रह्म सगुण, सविशेष है -

समस्त वैष्णवाचार्यों की भाँति आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य भी ब्रह्म के सगुण रूप का प्रतिपादन करते हैं । रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण, सविशेष,

---

1. "बहुस्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती । तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना" - त०दी०नि० 27
2. आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा । इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति।। त० दी०नि० सर्वनिर्णयप्रकरण, श्लोक - 189

ही है, निर्गुण वस्तु की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती क्योंकि संसार के समस्त पदार्थ गुण विशिष्ट ही प्रतीत होते हैं । यहाँ तक कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अवसर पर सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है ।[1] इसके अतिरिक्त निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने वाले निर्विशेष की वस्तुसिद्धि में " अमुक प्रमाण है " ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि शास्त्र के समस्त प्रमाण भी सविशेष वस्तु परक ही हैं।[2] अतएव निर्विशेष वस्तु की सिद्धि भी नहीं की जा सकती ।

" न तस्येशे कश्चन तस्यनाम महद्यश : " अर्थात् उसका कोई शासक नहीं है, उसका नाम ही महान् यश है , " य एनं विदुरमृतास्तेभवति " जो इसे जानता है वह मोक्ष प्राप्त करता है आदि अनेक ऐसी श्रुतियों में ब्रह्म के निर्विशेषत्वके विपरीत वर्णन मिलता है । परब्रह्म को सविशेष मानकर ही समस्त वाक्य सविशेष ब्रह्म ज्ञान से ही मोक्ष बतलाते हैं । यहाँ तक कि सभी ब्रह्मविद्याओं में भी सगुण - ब्रह्म को ही उपास्य भी कहा गया है ।[3] जीव के अज्ञान को दूर करने वाले शोधक "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " आदि वाक्य भी सविशेषब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं ।

1· "सर्वप्रमाणस्य सविशेषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपिप्रमाणं समस्ति । निर्विकल्पक- प्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते " - सर्वदर्शनसंग्रह , ·पृ0-73· -

2· 1·1·1·तथा हि निर्विशेषवस्तुवादिभिः निर्विशेषे वस्तुनि इदं प्रमाणम् इति न

2· शक्यते वक्तुम् । सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्वं प्रमाणानाम् । - श्रीभाष्य - 1/1/1

3· पराविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपास्यम् "

ब्रह्म के सगुणत्व के सन्दर्भ में आचार्य वल्लभ का रामानुजाचार्य से मत-साम्य है । यद्यपि आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म के निर्विशेषत्व का कहीं विस्तार से खण्डन नहीं किया है । अथातो ब्रह्म जिज्ञासा[1] सूत्र का भाष्य करते हुए श्रीरामानुज ने परमसत्ता के निर्विशेषत्व का बहुत विस्तार से खण्डन किया है । यह खण्डन नितान्त मौलिक और युक्तिपूर्ण है तथा विशुद्ध दार्शनिक विचारणा के स्तर पर किया गया है । रामानुजाचार्य के परवर्ती सभी वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्म के सविशेषत्व को एक प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है । सम्भवत: इसीलिए परमसत्ता के सविशेषत्व को मान्यता देने पर भी आचार्य वल्लभ ने उसके निर्विशेषत्व का पुन: विस्तार से खण्डन करने की आवश्यकता नहीं समझी ।

शुद्धाद्वैत मत के अनुसार ज्ञान का विषय होने के कारण ब्रह्म सगुणरूप ही हो सकता है । ब्रह्म को स्वरूप ज्ञान की सीमा से अतीत सत्ता मानने पर जीव के लिए परम पुरुषार्थ का अवकाश ही नहीं रहता है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य दोनों ने ही ब्रह्म के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये दोनों आचार्य ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को अस्वीकार करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म को निर्गुण इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह समस्त लौकिक गुणों से रहित है, उसके समस्त गुण दिव्य हैं । ब्रह्म सूत्र 1/1/1 के भाष्य में रामानुजाचार्य ने इसका विस्तार से वर्णन किया है कि

---

1. ब्रह्म सूत्र 1/1/1

"एष आत्मा ....." आदि श्रुतियाँ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के स्वाभाविक ज्ञातृता आदि गुणों का प्रतिपादन करती है तथा उसे समस्त हेय गुणों से रहित बतलाती है ।[1]

आचार्य रामानुज ने इसका स्पष्टतः उल्लेख किया है कि उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि ब्रह्म में जीव के रागद्वेषादि हेय गुण नहीं है,[2] उसके समस्त गुण दिव्य हैं ।

आचार्य रामानुज की तरह वल्लभाचार्य भी दिव्य और अलौकिक गुणयुक्त होने के कारण ब्रह्म को "सगुण" तथा प्राकृत हेयगुणराहित्य के कारण "निर्गुण" स्वीकार करते हैं । आचार्य वल्लभ के अनुसार ईश्वर जगत का कर्त्ता है, किन्तु वह प्रकृति के गुणों से रहित अतएव 'निर्गुण' है । उसके प्राकृत शरीर और गुण नहीं है, इसलिए भी उसको निराकार, निर्गुण कहा जाता है । जिन जड़ चेतनों को सगुण कहा जाता है, वे सभी ब्रह्म के ही अंश हैं ।

यद्यपि प्राकृत-गुणराहित्य के कारण वल्लभ ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं पर साथ ही साथ उसकी ज्ञेयता भी स्वीकार करते हैं । प्रस्थानत्रयी में ब्रह्म को कर्ता, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान बताया गया है, मायासंवलित होना नहीं । वल्लभ के अनुसार ब्रह्म मायासंवलित नहीं बल्कि मायाधीश है । उसका सगुणत्व विलक्षण है, क्योंकि वह लौकिक

1. दृष्टव्य ब्रह्मसूत्र 1/1/1 पृ० 111-112

2(1) निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात उपपद्यन्ते -श्रीभाष्य 1/1/1

(2) वेदार्थ संग्रह , पृ० 180

आकृति से रहित है । वह व्यापक है, अतः देश काल और स्वरूप की परिच्छिन्नता से रहित है ।

आचार्य रामानुज ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप मानते हैं तथा उपनिषद् वाक्य " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " को भी स्वीकार करते हैं । ब्रह्म अनन्त है, क्योंकि वह स्वभावतः "देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम् "[1] अर्थात् समस्त देशकाल और द्रव्य सम्बन्धी सीमाओं से स्वतन्त्र है । रामानुज स्वीकार करते हैं कि "नेति नेति..." आदि ऐसे श्रुतिवाक्य जिनमें ब्रह्म के सम्बन्ध में सब प्रकार के विशेषणों (गुणों) का निषेध किया गया है उनमें मात्र भ्रान्त और मिथ्या विशेषणों का ही निषेध किया गया है, सर्वप्रकारक विशेषणों का नहीं । इसी प्रकार जहाँ यह कहा गया है कि ब्रह्म के स्वरूप को भलीभाँति जाना नहीं जा सकता, वहाँ इसका तात्पर्य यही होता है कि ब्रह्म का ऐश्वर्य इतना विस्तृत है कि यह परिमित शक्ति वाले मानवीय मस्तिष्क की पहुँच की बाहर है ।

<u>ब्रह्म सधर्मक है</u>

विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत मत की एक प्रमुख विशेषता है, ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करना । आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म समस्त धर्मों का आगार है । श्रुति कर्तृत्व, हर्षितृत्व, नियामकत्व, उपास्यत्व आदि धर्मों का ब्रह्म में कथन करती है । अतः धर्माभाव मानने पर ब्रह्म में अनुपास्यत्व की प्रसक्ति होगी तथा समन्वयाध्याय[2] का भी विरोध होगा ।

---

1. देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम् ...... सकलेतरवस्तुविजातीयम् - श्रीभाष्य 1/1/2
2. (1) द्रष्टव्य समन्वयाध्याय पर श्रीभाष्य
   (2) द्रष्टव्य समन्वयाध्याय पर अणुभाष्य ।

'गुणोपसंहारन्याय' से भी ब्रह्म धर्मी ही सिद्ध होता है । 'उपासनाध्याय' के तृतीय पाद में विभिन्न उपासना वाक्यों में कहे गये धर्मों का एक ही ब्रह्म में उपसंहार किया गया है । ऐसा न मानने पर विरुद्धधर्मों[1] का कथन होने से ब्रह्म के अनेकत्व की प्राप्ति होगी । उपासना वाक्यों में कथित धर्मों का अभाव स्वीकार करने पर उनके अन्यथाज्ञानजनक होने के कारण ब्रह्मविद्या की हानि होगी और चित्तशुद्धि के अभाव की प्रसक्ति होगी । अतः "एक ही ब्रह्म समस्त वेदवाक्यों का अभिधेय है ।" ऐसी प्रतिज्ञाकर सभी धर्मों का ब्रह्म में उपसंहार किया गया है । "बृहत्वाच्च, बृंहणत्वाच्च ब्रह्म " जिसमें बृहत्व गुण हो, वही ब्रह्म है ।[2] तथा " बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः " इस व्युत्पत्ति से भी ब्रह्म सधर्मक ही सिद्ध होता है ।

श्री रामानुज की तरह आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म को सर्वधर्ममय स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार नियतधर्ममय तत्व में इयत्ता बनी रहती है जबकि ब्रह्म निस्सीम है । अपने ग्रन्थ " तत्त्वदीपनिबन्ध " में ब्रह्मस्वरूप की चर्चा करते हुए आचार्य वल्लभ कहते हैं कि " ब्रह्म को निर्धर्मक नहीं माना जा सकता , धर्मरहित मानने पर तो वह अनुपास्य, अप्राप्य और अफल हो जायेगा ।[3] "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्र-

---

1. रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य दोनों ही ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रयी मानते हैं । "सर्वविरुद्धधर्माणाम् आश्रयो भगवान् " अणुभाष्य 3/2/27

2. ....सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः, बृहत्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः ।" - श्रीभाष्य - 1/1/1

3. ....निर्धर्मकत्वे सर्वेषामनुपास्योऽप्राप्योऽफलश्च स्यात् । तत्वदीपनि0 1/65 पर भाष्य प्रकाश ।

मभिविमानं वैश्वानरमुपास्ते"।[1] इस प्रकार वैश्वानर रूप से जो ब्रह्म की उपासना कही गयी है वह " तस्य ह वा तस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा "[2] इत्यादि धर्मोपदेशपूर्वक ही कही गयी है । यदि ब्रह्म में धर्मों का अभाव स्वीकार करें तो ब्रह्म को अनुपास्य मानना पड़ेगा ,फलतः श्रुतिविरोध होगा ।

इसी प्रकार " ब्रह्मविदाप्नोति परम् "[3] आदि श्रुतियों में ब्रह्म को प्राप्य और सर्वज्ञ कहा गया है, ब्रह्म को धर्म रहित मानने पर इन श्रुतियों का विरोध होगा । अतः ब्रह्म को निर्धर्मक न मानकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ही मानना चाहिए । ब्रह्म को सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही स्वतन्त्र कहा जाता है क्योंकि स्वतन्त्र वही हो सकता है जो असीम ज्ञान और शक्ति से युक्त हो ।[4]

इस प्रकार आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य दोनों ही ब्रह्म के निर्धर्मकत्व का निषेधकर उसे सधर्मक स्वीकार करते हैं ।

यहाँ पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् "[5] आदि श्रुतियाँ तो ब्रह्म को समस्त धर्मों से रहित बतलाती हैं अतः ब्रह्म को सर्वधर्ममय स्वीकार करने पर इन श्रुतिवाक्यों से विरोध होगा ।

1· छान्दो0 5/18/1

2· वही 5/18/2

3· तैत्ति0 उप0 2/1

4· " यो हि निरवधिज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः स स्वतन्त्रो भवति " सर्वदी0नि01/65

5· बृहदारण्यक 3/8/8

इस आपत्ति पर आचार्य रामानुज का मत है कि अस्थूलादि श्रुतिवाक्यों में जो ब्रह्म में धर्मों का निषेध दिखाया गया है, वहाँ इन श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म की जगत से विलक्षणता दिखलाने के लिए मात्र लौकिक धर्मों का निषेध किया गया है[1], न कि उसके स्वरूपभूत धर्मों का । अतः श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म को निर्धर्मक नहीं मानना चाहिए ।

आचार्य वल्लभ भी अस्थूलादि वाक्यों में रामानुजाचार्य की तरह प्राकृत धर्मों का ही निषेध स्वीकार करते हैं । " प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोऽब्रवीति च भूयः "[2] सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो दृश्यमान लौकिक पदार्थ हैं उनके ही धर्मों का निषेध किया गया है अतः अस्थूलादि वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के जगद्वैलक्षण्य में है, ब्रह्म- धर्मों के निषेध में नहीं ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज और आचार्य वल्लभ ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य शंकर की दृष्टि इनसे भिन्न है । वे ब्रह्म को धर्म-रहित मानते हैं, उसमें लौकिक- अलौकिकादि सर्वविध धर्मों का निषेध स्वीकार करते हैं । यही शंकर तथा वैष्णव आचार्यों में सर्वप्रमुख भेद है । शंकराचार्य के

---

1. " नहि निर्गुणवाक्यविरोधः : प्राकृतहेयगुणविषयत्वात्तेषाम्- श्रीभाष्य 1/1/1
2. प्रकृते यदेतावद् परिदृश्यमाना यावन्तः पदार्था लौकिकास्तेषामेव धर्मान् निषेधति । ..... अतो जगद्वैलक्षण्यमेवास्थूलादि वाक्यैः प्रतिपाद्यते न तु वेदोक्ता ब्रह्म धर्मा निषेद्धुं शक्यते । - अणुभाष्य - 3/2/22

अनुसार ब्रह्मतत्व का ज्ञान केवल अध्यारोप या अध्यास[1] के द्वारा ही हो सकता है । श्रुति रहस्यमय आत्मतत्त्व को समझाने के लिए उसमें कर्तृत्वादि धर्मों का अध्यारोपकर तदितर धर्मों का निषेध करती है, किन्तु इतने से ही ब्रह्म को धर्मी नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि श्रुति पुनः इस अध्यारोपित धर्मों का भी "नेति नेति" से निषेधकर आत्मतत्त्व को सर्वथा अनिर्देश्य अचिन्त्य तत्व के रूप में प्रतिपादित करती है, किन्तु वैष्णवाचार्यों को शंकर का यह मत मान्य नहीं है ।

वाल्लभमतानुयायी आचार्य विट्ठल ने अपने ग्रन्थ "विद्वन्मण्डनम्" में आचार्य शंकर के इस सिद्धान्त का अत्यन्त तर्कपूर्ण खण्डन किया है कि श्रुति पहले ब्रह्म में धर्मों का विधान कर फिर स्वयं ही उनका निषेध भी कर देती है । वे कहते हैं कि विशेषों का निषेध स्वीकार करने के लिए उनका अविद्याकल्पितत्व भी मानना होगा और फिर समस्या यह होगी कि ब्रह्म मे विशेषों की कल्पना करने वाली यह अविद्या ब्रह्मनिष्ठ मानी जाय या जीवनिष्ठ ? यदि ब्रह्मनिष्ठ माने तो वह ब्रह्म में ही धर्मों की कल्पना नहीं कर सकती और यदि उसे जीवनिष्ठ मानें तो भी यह स्थिति सम्भव नहीं है । यह आविद्यक धर्म कल्पना शुद्ध ब्रह्म में ही कही जाती है और शुद्ध ब्रह्म मनवाणी से परे होने के कारण जीवनिष्ठ

---

1. "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः । तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यासः इति वदन्ति ।"

- ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ; पृ० - 5

अविद्या से सम्बद्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ तथा जीवनिष्ठ दोनों ही प्रकार से अविद्या द्वारा ब्रह्म में विशेषों की कल्पना नहीं हो सकती ।[1]

वस्तुतः ब्रह्म के सभी धर्म स्वाभाविक और अनागन्तुक हैं अतः वे नित्य हैं और उनका निषेध सम्भव नहीं ।[2] श्रुति जहाँ कहीं भी निषेध करती है , प्राकृत धर्मों का ही निषेध करती है, अप्राकृत दिव्य गुणों का नहीं, अन्यथा उन्हें कहने की ही क्या आवश्यकता है ?

ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करने पर उसकी अद्वयता में बाधा नहीं उत्पन्न होती क्योंकि रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य ब्रह्म के धर्मों को उससे भिन्न नहीं मानते । उनके अनुसार उसके गुण या धर्म उससे भिन्न नहीं बल्कि उसके स्वरूपभूत ही है। ये धर्म जन्य नहीं है अपितु ये सृष्टि और प्रलय आदि सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं । ब्रह्म के धर्म ब्रह्म से पृथक् नहीं अपितु वे स्वयं ब्रह्म-रूप है । आचार्य वल्लभ ब्रह्म के धर्मों में भेदाभेद सिद्ध करते हुए कहते हैं -जैसे प्रकाशाश्रय सूर्यादि अपने प्रकाश से भिन्न नहीं है और दोनों की पृथक् स्थिति भी सम्भव नहीं है प्रकाश अपने आश्रय में ही समवेत होकर रहता है ।[यह अभेद में युक्ति है]. किन्तु किन्तु सूर्य ही प्रकाश नहीं है क्योंकि वह ------------------------------

1· का सा अविद्या ? जीवगता ब्रह्मगता वा यत्कल्पिता विशेषाः । न तावदाद्यः । तस्या ब्रह्मगतधर्मकल्पने सामर्थ्याभावात । तथा हि कल्पना हि शुद्धब्रह्मणि वाच्या ।। विद्वन्मण्डनम्, श्री विट्ठलनाथ, पृ0 - 204

2· " वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्माः सर्व एवानागन्तुका एव, यतो नित्याः श्रुत्या तथैव निरूपणात - विद्वन्मण्डनम् , विट्ठलनाथ, पृ0 - 290

उससे भिन्न प्रतीत होता है । अतः जिस प्रकार प्रकाश अपने आश्रय से भिन्न होकर भी उसमें अभिन्न रूप से रहता है (यह भेद में युक्ति है) उसी प्रकार ब्रह्म के धर्म से भिन्न होकर भी ब्रह्म में अभिन्न रूप से रहते हैं ।[1]

ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व :

रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य ब्रह्म को विरुद्ध धर्मों का आश्रय स्वीकार करते हैं । कोई वस्तु एक समय में दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं होती । किसी वस्तु में दो विरुद्ध धर्म होंगे भी तो अवस्थाभेद से, जैसे - घट का श्याम-रूपत्व और रक्तरूपत्व किन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसी विप्रतिपत्ति नहीं है । आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म स्वरूप इतना विराट् है कि वह एक साथ ही दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है । वह सगुण (दिव्यगुणयुक्त) होते हुए भी निर्गुण (प्राकृतहेयगुण रहित) है । वह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है ।[2] जीव, जगदादि भिन्न - भिन्न रूपों में परिणमित होने पर भी नित्य अविकारी है ।

आचार्य वल्लभ ने तो ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व का बड़े विस्तार से वर्णन किया है । वे भी ब्रह्म को सगुण (दिव्यालौकिकगुणयुक्त) और निर्गुण अर्थात्

- -

1. दृष्टव्य अणुभाष्य 3/2/28
2. अणोरणीयान् महतो महीयान् -

- कठोपनिषद् 2/20

प्राकृतगुणरहित दोनों ही स्वीकार करते हैं इस प्रकार आचार्य ब्रह्म के उभयरूपत्व का कथन करते हैं। "उभयव्यपदेशात्वहि कुण्डलवत् (ब्रह्मसूत्र 3/2/27) सूत्र की व्याख्या करते हुए वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म उभयरूप है, क्योंकि श्रुति उसके विषय में निर्गुण और अनन्तगुणयुक्त दोनों ही रूपों में कथन करती है। इसी तथ्य को आचार्य सर्प के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं - जिस प्रकार सर्प ऋजु और कुण्डलाकार अनेक रूपों में प्रतीत होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है।[1]

आचार्य वल्लभ के मतानुसार ब्रह्म एक ही समय में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है इसीलिए उसे 'अनन्तमूर्ति'[2] कहते हैं। अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ एवं चल दोनों प्रकार का है। वह अविभक्त है तथापि विभक्त भी है[3] क्योंकि सिसृक्षा होने पर वही विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। वह पूर्ण अविकारी या अपरिणामी है, फिर भी सृष्टिकाल में वही जीव, जगदादि विभिन्न रूपों में परिणमित होता है। जो परब्रह्म मन वाणी से परे, मानवीय पहुँच से दूर है, वही योग से, ध्यान से, अपनी इच्छामात्र से अगम्य होने पर भी गम्य हो जाता

---

1. " ब्रह्म तूभयरूपम् उभयव्यपदेशात् उभयरूपेण निर्गुणत्वेन अनन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्माश्रयरूपेण व्यपदेशात्.....यथा सर्पऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति।" - अणुभाष्य 3/2/27
2. अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।
   विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।। त०दी०नि० - 71
3. अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तमेव।-त०दी०नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० - 87

प्रकार यद्यपि रामानुजाचार्य ब्रह्म को सगुण और निर्गुण परस्पर विरुद्ध धर्मयुक्त मानते हैं किन्तु कहीं उन्होंने ब्रह्म के लिए " विरुद्धधर्माश्रयी " संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है। ब्रह्म को यह संज्ञा प्रदान की परवर्ती आचार्य वल्लभ ने। वल्लभाचार्य का ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है।

ब्रह्म की सच्चिदानन्दरूपता :

समस्त वैष्णव दर्शन तथा शंकर और भास्कर भी ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वीकार करते है। आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के आनन्दरूप का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।[1] इनके अनुसार ब्रह्म ही समस्त ब्रह्माण्ड की एक मात्र सत्ता है इसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं, वे ब्रह्म के अंशमात्र हैं और उनकी सत्ता भी ब्रह्मरूप से ही है।

ब्रह्म की सच्चिद्रूपता तो आचार्य शंकर को भी मान्य है किन्तु उनका ब्रह्म केवल "चिन्मात्र " है। शंकर ब्रह्म को ज्ञान मात्र स्वीकार करते हैं ज्ञाता नहीं मानते, जबकि समस्त वैष्णवाचार्यों द्वारा अभिमत ब्रह्म ज्ञप्ति भी है और ज्ञाता भी ; दोनों की दृष्टियों का यह अन्तर ब्रह्म को सविशेष और निर्विशेष मानने के कारण हैं।

---

1. द्रष्टव्य आनन्दमयाधिकरण पर श्रीभाष्य और अणुभाष्य।

है । ब्रह्म अणु होने पर भी व्यापक है, जिस प्रकार कृष्ण यशोदा की गोद में स्थित होने पर भी सम्पूर्ण जगत के आधार हैं ।[1] इसके अतिरिक्त अनेक श्रुतियाँ भी ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व का कथन करती हैं - अणोरणीयान् महतो महीयान् ﴾कठो० 2/20﴿ " तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तम-महान्तं विष्णुमविष्णुं ...[2]

इस प्रकार आचार्य ब्रह्म को परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय बताते हैं तथा अपने मत की पुष्टि भी श्रुतियों के आधार पर करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म ही सर्वभवन समर्थ है और यह ब्रह्म की ही महिमा है कि वह विविध रूपों और धर्मों का आश्रय बन सके, अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं है ।[3]

इस प्रकार आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ही ब्रह्म को विरुद्ध-धर्मों का आश्रय स्वीकार करते हैं । आचार्य रामानुज ब्रह्म के सविशेषत्व का प्रतिपादन करते हैं उनके अनुसार ब्रह्म सगुण अर्थात् अनेक कल्याण व दिव्य गुणों का आगार है किन्तु साथ ही साथ वह समस्त हेयगुणरहित अर्थात् निर्गुण भी है, इस

---

1. अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति यथा कृष्णो, यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदा-धारो भवति । शा० नि० - 54
2. नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् - खण्ड खण्ड
3. " न हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवद्व्यतिरिक्ते सम्भवति, सर्वभवनसामर्थ्याभावात् - अणुभाष्य 1/2/24

प्रकार यद्यपि रामानुजाचार्य ब्रह्म को सगुण और निर्गुण, परस्पर विरुद्ध धर्मयुक्त मानते हैं किन्तु कहीं उन्होंने ब्रह्म के लिए " विरुद्धधर्माश्रयी " संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है । ब्रह्म को यह संज्ञा प्रदान की परवर्ती आचार्य वल्लभ ने । वल्लभाचार्य का ब्रह्म के 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है ।

ब्रह्म की सच्चिदानन्दरूपता :

समस्त वैष्णव दर्शन तथा शंकर और भास्कर भी ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वीकार करते हैं । आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के आनन्दरूप का बहुत विस्तार से वर्णन किया है ।[1] इनके अनुसार ब्रह्म ही समस्त ब्रह्माण्ड की एकमात्र सत्ता है, इसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं, वे ब्रह्म के अंशमात्र हैं और उनकी सत्ता भी ब्रह्मरूप से ही है ।

ब्रह्म की सच्चिद्रूपता तो आचार्य शंकर को भी मान्य है किन्तु उनका ब्रह्म केवल " चिन्मात्र " है । शंकर ब्रह्म को ज्ञानमात्र स्वीकार करते हैं, ज्ञाता नहीं मानते, जबकि समस्त वैष्णवाचार्यों द्वारा अभिमत ब्रह्म ज्ञप्ति भी है और ज्ञाता भी। दोनों की दृष्टियों का यह अन्तर ब्रह्म को सविशेष और निर्विशेष मानने के कारण है ।

---

1. द्रष्टव्य आनन्दमयाधिकरण पर श्रीभाष्य और अणुभाष्य

ब्रह्म को यदि ज्ञप्तिमात्र मानें तो श्रुतियों में जो उसका कर्तृत्वादि कहा गया है, वह असिद्ध हो जायेगा । श्रुतियों में भी ब्रह्म को "ज्ञाता" कहा गया है ।[1] "विज्ञानघन एव"[2] " न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते "[3] इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को ज्ञाता बताती हैं । बादरायण भी " ज्ञोऽत एव "[4] रूप से आत्मा का ज्ञातृत्व कहते हैं । अतः ब्रह्म को चिद्रूप के साथ- साथ चैतन्यगुणयुक्त भी स्वीकार करना चाहिए । ब्रह्म के धर्मी होने पर सद्, चिद् और आनन्द का धर्म होना स्वतः स्पष्ट है ।

ब्रह्म की चिद्रूपता के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य एकमत हैं । जो ज्ञाता है, वही ज्ञानरूप है, जो ज्ञानरूप है वही ज्ञान का आश्रय भी हो सकता है । " य : सर्वज्ञः सर्ववित् " आदि श्रुतियाँ भी ब्रह्म के ज्ञातृत्व का कथन करती हैं ।[5] ज्ञातृत्व का अर्थ ही है " ज्ञानगुणाश्रयत्व" । ब्रह्म का यह धर्म अनागन्तुक स्वाभाविक धर्म होने से नित्य है ।[6]

1· विज्ञातारमरे केन विजानीयात् " - बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/14

2· बृह0 2/4/12

3· बृह0 4/3/30

4· वे0 सूत्र 2/3/19

5· न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेव तत्त्वम् । ज्ञातुरेव ज्ञानस्वरूपत्वात् । ज्ञानस्वरूप-स्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणिप्रदीपादिवदित्युक्तमेव । ज्ञातृत्वमेव हि सर्वाः श्रुतयो वदन्ति - श्रीभाष्य 1/1/1

6· ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वमेव । ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम् । - श्रीभाष्य 1/1/1

वल्लभ और रामानुज दोनों ही ब्रह्म को चैतन्य अतएव स्वयंप्रकाश मानते हैं। ज्ञान स्वयंप्रकाश है और सर्वप्रकाशक भी। सुबोधिनी में आचार्य वल्लभ कहते हैं कि ज्ञानरूप होने का अर्थ ही होता है प्रकाशक होना,[1] अतः ज्ञानरूप होने के कारण ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश और सर्वप्रकाशक दोनों ही है। उसे प्रकाशित होने के लिए अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है -

> " न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो यमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। {2/2/11}

इस प्रकार दोनों आचार्यों के अनुसार ब्रह्म ज्ञप्ति भी है और ज्ञाता भी, ज्ञानरूप भी, ज्ञानाश्रय भी। ज्ञानरूप पदार्थ का आनन्दमय होना तो सिद्ध ही है। अतः ज्ञानरूप होने के कारण ब्रह्म "आनन्दमय" है। आनन्दमय में संयुक्त मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ का द्योतक है।[2] मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा स्वार्थ में भी किन्तु यहाँ इसके दोनों ही अर्थ उपपन्न नहीं है, क्योंकि आचार्य के अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत में जहाँ भी आनन्द है वह ब्रह्म के आनन्द

---

1. ज्ञानं हि स्वप्रकाशं सर्वमेव प्रकाशयति....तस्मात्सर्वप्रकाशकं स्वप्रकाशकं स्वप्रकाशं यच्चैतन्यं भगवद्रूपं तज्ज्ञानमित्यर्थः - श्रीमद्भा0 2/5/11 पर सुबो0
2. मयडत्र न विकारार्थः, पृथक् प्रश्नवैयर्थ्यात्। नापि....स्वार्थिकः जगच्च स इत्युत्तरानुपपत्तेः तदाहि विष्णुरेवेति इत्युत्तरमभविष्यत्। अतः प्राचुर्यार्थ एव। "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति मयट्। कृत्स्नं च जगत्तच्छरीरतया तत्प्रचुरमेव।" श्रीभाष्य - 1/1/1

की ही आंशिक अभिव्यक्ति है, अतः सबके आनन्द का कारण होने के कारण आनन्द मय भी अविकारी ही है । अतः मयट् प्रत्यय का अर्थ यहाँ विकार और स्व न होकर प्राचुर्य ही अभीष्ट है ।

आचार्य वल्लभ ने भी " आनन्दमय" में संयुक्त मयट् का अर्थ " प्राचुर्य" ही स्वीकार किया है ।[1] शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म को सर्वत्र 'आनन्दाकार' ही कहा गया है । जगत् में जहाँ भी आनन्द है वह ब्रह्म का ही अंश है । अवतारकाल में भी ब्रह्म आनन्दमय ही रहता है । तत्वदीपनिबन्ध में आचार्य वल्लभ कहते हैं कि 'ब्रह्म के कर, पाद, मुख आदि अवयव सर्वत्र है तथा आनन्द के बने हुए हैं',[2] अर्थात् आनन्दैकस्वरूप या आनन्दमय है । शुद्धाद्वैतवाद में आनन्द को 'आकार-समर्पक' माना गया है । आकार का अभिप्राय भगवान के चतुर्भुजत्वादि से है अतएव भगवान ही " आनन्दमात्रकरपाद-मुखोदरादिः " रूप से आनन्दैकस्वरूप हैं । आनन्द के आधिक्य के कारण ही ब्रह्म को "साकार " कहते हैं । निराकार का अर्थ है " निरानन्द " जीव और जड़ में आनन्द तिरोभूत रहता है इसीलिए उन्हें " निराकार " कहते हैं ।[3] साकार और निराकार का शुद्धाद्वैत मत में यह विशिष्ट अर्थ है । ब्रह्म में जो विरुद्धधर्माश्रयत्व है वह भी आनन्दांश का ही

---

1. नात्र विकारे मयट् किन्तु प्राचुर्यार्थे ····अतो मयट् पूर्वापेक्षया प्राचुर्यमयते - अणुभाष्य 1/1/12

2. ···आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि ·······" त०दी०नि० शा०प्र० 44

3. सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता ।
अतएव निराकारो पूर्वा आनन्दलोपतः ।
जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः।। त०दी०नि० 1/34

धर्म है ।[1] जीव में यह आनन्द तिरोभूत रहता है इसीलिए वह विरुद्धधर्माश्रय नहीं है । ब्रह्म में आविर्भाव - तिरोभाव की शक्ति है । इसी शक्ति के द्वारा वह एक से अनेक और अनेक से एक हो जाता है । ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव होता है और ब्रह्म में ही उनका तिरोभाव हो जाता है ।

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों आचार्यों ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वीकार किया है । इनको अभिमत ब्रह्म ज्ञानमात्र न होकर ज्ञाता भी है, ज्ञानरूप होने के कारण स्वयंप्रकाश भी है । दोनों आचार्यों ने आनन्दमय में संयुक्त मयट् प्रत्यय का अर्थ " प्राचुर्य " किया है । आचार्य वल्लभ ने आनन्द का आकारसमर्पकत्व स्वीकार किया है । अतः उनके मत में साकार और निराकार का विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया गया है । यहाँ साकार का अर्थ है "आनन्दयुक्त" तथा निराकार का अर्थ है " निरानन्द " । जीव,जड़ में आनन्द तिरोभूत रहता है इसीलिए इसे "निराकार" कहा जाता है " आकार " का ऐसा अर्थ शुद्धाद्वैत की विशिष्टता है ।

रामानुज का इस विषय में वल्लभ से मतभेद है उन्हें साकार और निराकार का वही अर्थ अभीष्ट है जो सामान्यतः समस्त वैष्णवाचार्यों को मान्य है अर्थात् साकार का अर्थ है - दिव्याकृतिसम्पन्न तथा निराकार का अर्थ है - प्राकृत आकृतियों से रहित ।

---

1. तस्मादानन्दांशस्यैवायं धर्मो यत्र स्वाभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वमिति अणुभाष्य - 1/1/3

वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ " पुरुषोत्तम सहस्रनाम " में ब्रह्म के स्वरूपबोधक जगत्कर्ता, आदिकर्ता, नानासृष्टिप्रवर्तक, सदानन्द, सर्वाकार, शरीरवान् आदि अनेक नामों का उल्लेख किया है ।

ब्रह्म की अद्वयता :

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैतवादी हैं । ईश्वर, जीव, जगत्, इन तीनों को ही ये अभिन्न मानते हैं । जगत् के समस्त पदार्थ चाहे वह जड़ हों या चेतन, ब्रह्म से पृथक् नहीं है । यद्यपि ये अद्वैतवादी है किन्तु इनका अद्वैत शंकराचार्य के अद्वैत की भाँति नहीं है । आचार्य शंकर की दृष्टि में जीव, जगत् सब कल्पनामात्र हैं, फलतः असत्य या मिथ्या हैं । एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है । (ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः) जबकि रामानुज और वल्लभ ने जीव और जगत् को ईश्वर का अंश मानकर सत्य स्वीकार किया है । जीव जीवरूप से सत्य नहीं है अपितु ब्रह्मरूप से सत्य है । ब्रह्म से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। धर्मी ईश्वर और उसके अप्राकृत धर्म भिन्न नहीं है, अपितु अभिन्न हैं । ईश्वर सच्चिदानन्द ब्रह्म 'धर्म' और 'धर्मी' दोनों ही स्वरूपों में स्थित रहता है ।

श्री रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं । ये तीन सत्ताएं मानते हैं - चित, अचित, ईश्वर ; किन्तु तीनों सत्ताएं घट-पट की तरह अत्यन्त भिन्न नहीं हैं । चित्, अचित् ईश्वर पर अत्यन्त आश्रित हैं तथा ईश्वर इनका आश्रयभूत है। तत्त्वरूप में ये ईश्वर से भिन्न नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ये भिन्न अस्तित्व रखते हैं । इनका परस्पर वैशिष्ट्य तो ज्ञात हो सकता है किन्तु ये ईश्वर से विभाज्य

नही है क्योंकि ईश्वर इनका स्वरूपभूत है।[1]

रामानुज ईश्वर और चिदचिद् में विशेषण विशेष्यभाव का कथन करते हैं। चिदचिद् विशेष्य ईश्वर के विशेषणभूत है जिसप्रकार विशेषण अपने विशेष्य से व्यतिरिक्त अपनी सत्ता नहीं रखता उसी प्रकार विश्व ब्रह्म से स्वतन्त्र अपनी सत्ता नही रखता इसलिए रामानुज उसे ब्रह्म का अपृथक्सिद्ध विशेषण स्वीकार करते हैं। चिद, अचिद ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः ब्रह्म " प्रकारी" और चिदचि "प्रकार " है। प्रकार रूप से ही उनकी सत्ता है।[2] चिदचिदात्मक विश्व ब्रह्म पर ही आश्रित है और ब्रह्म द्वारा ही संचालित है अतः विश्व और ब्रह्म में "शरीरशरीरीभाव" भी है " जगत् सर्वं शरीरं ते " ; "यस्यात्मा शरीरं तानि सर्वाणि तद्वपुः "," तस्यैष एवं शरीर आत्मा " इत्यादि श्रुतियाँ जीव और जगत् का ईश्वर के " शरीर " रूप से कथनकरती हैं।

लोक में ऐसा देखा जाता है कि शरीर के हस्तादि अंगों में चोट इत्यादि लगने पर शरीरधारी कष्ट का अनुभव करता है अतः जीव को ईश्वर का शरीर मानने पर जीव के दुःखादि धर्मों से ईश्वर भी संस्पृष्ट होगा, ऐसी शंका होने पर उसके निवारणार्थ आचार्य कहते हैं कि परमात्मा के प्रति जीव का शरीर रूप

- -

1. "तदैक्षत बहुस्याम"," तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत " इति ब्रह्मैव स्वसंकल्पाद्विचित्रस्थिरचरस्वरूपतया नानाप्रकारमवस्थितम् - श्रीभाष्य - 1/1/1

2. अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वम् - श्रीभाष्य -1/1/1

से सम्बन्ध होने पर भी जीव के धर्म परमात्मा को उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते जिस प्रकार अपने शरीर के बालत्व, युवत्वादि धर्म "जीव" को स्पर्श नहीं करते।[1] इस प्रकार चिदचिदात्मक यह सारा विश्व ब्रह्म का "शरीरभूत" है और ब्रह्म इसका नियामक "शरीरी" है। ब्रह्म और विश्व का तादात्म्य "आत्म-शरीरी-भाव" से ही है।[2] यह अपृथग्सिद्धि ही रामानुज के मत में अद्वैत का अर्थ है। प्रलय तथा मोक्षकाल में भी विश्वसंघात का ब्रह्म से स्वरूपैक्य नहीं होता, फलतः ब्रह्म के स्वरूप में चिदचिद्वस्तुजन्य स्वगतभेद सदैव ही रहता है।

यहाँ आचार्य वल्लभ का रामानुज से मत - वैभिन्य है। वे परब्रह्म को अखण्डैकरस ही स्वीकार करते हैं, उसमें किसी भी तरह का द्वैत वे स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म व्यापक है, फलतः देशकाल वस्तुगत सीमाओं से अतीत है। विभु ब्रह्म में देशगत परिच्छिन्नता तो सम्भव ही नहीं है, कालगत परिच्छिन्नता की भी सम्भावना नहीं है क्योंकि काल भी ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्तिविशेष है, मात्र वस्तुगत परिच्छेद की ही सम्भावना हो सकती है किन्तु वल्लभ उसका भी निषेध करते हुए स्पष्ट रूप से ब्रह्म को त्रिविधभेदशून्य कहते हैं -

---

1. द्रष्टव्य श्रीभाष्य 1/1/1

2. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्। जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते। अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यात्मशरीरभावादेवेति निश्चीयते। श्रीभाष्य 1/1/1

"सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतविवर्जितम्" [तत्वदी०नि० 1/67] [1] अर्थात् इनके अनुसार सजातीय [चेतन सृष्टि] उससे भिन्न नहीं है और न ही विजातीय [जड़ सृष्टि] उससे भिन्न है तथा स्वगत [अन्तर्यामी] रूप भी उससे भिन्न नहीं अपितु अभिन्न है ।

यद्यपि जीव और जड का स्वरूप वाल्लभ मत में भी वही है जो रामानुज को मान्य है किन्तु सबसे बडा अन्तर यह है कि वल्लभ जीव और जड तत्त्व को रामानुज के चिदचिद की भाँति ब्रह्म का नित्य विशेषण नहीं मानते । सृष्टिकाल में ब्रह्म ही जीव जड़रूप से परिणत होता है । जीव और जड़ की सत्ता भी ब्रह्म-रूप से ही है, जीव,जगदादिरूप से नहीं । जीव - जड की व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रति रामानुज की जैसी संवेदनशीलता है वैसी वल्लभ की नहीं फलतः वल्लभ ब्रह्म और चिदचिद् में शरीर- शरीरी भाव, विशेषण - विशेष्य भाव, प्रकार प्रकारी भाव कुछ भी स्वीकार नहीं करते ।

रामानुज प्रलयावस्था में भी ब्रह्म को सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट मानते हैं किन्तु वल्लभ ऐसा नहीं मानते हैं । वे प्रलयदशा में जीव और जगत का ब्रह्म में लय स्वीकार करते हैं ।

---

1. सजातीयजीवा विजातीयजडाः, स्वगता अन्तर्यामिणः । त्रिष्वपि भगवाननु-स्यूतस्वरूपश्च भवतीति तैर्निरूपितं द्वैतं भेदस्तद्वर्जितम् ।
   - तत्वदी०नि० 1/67 पर प्रकाश ।

जड़, जीव और स्वभाव-सांकर्य के जिन दोषों से बचने के लिए रामानुज शरीर- शरीरी भाव या विशेषण -विशेष्य भाव की कल्पना करते हैं उन्हें वल्लभ श्रुति के आधार पर ही निराकृत कर देते हैं। ब्रह्म के विकृत होने की संभावना ही नहीं है क्योंकि श्रुतियों में उसे " अविकृत " और "अपरिणामी" कहा है।

ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ :

पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म में छः अप्राकृत धर्म व्यक्त होते हैं तब उसे ईश्वर या भगवान कहते हैं। ये छः गुण हैं - ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। विष्णु पुराण (6/5/44) में भी ऐश्वर्यादि को भगवान का लक्षण माना गया है ये गुण जिसमें हों वही भगवान है। भगवान के ये छः गुण सभी वैष्णव आचार्य स्वीकार करते हैं। रामानुज इन छः गुणों में सत्य संकल्प और निष्पाप दो और गुणों को जोड़कर ईश्वर के आठ गुण बतलाते हैं इसे ही "गुणाष्टक" कहा जाता है।

वैष्णवाचार्य होने के कारण आचार्य वल्लभ भी ब्रह्ममेंउपर्युक्त छः गुण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीव में ये गुण तिरोहित हो जाते हैं इसीलिए उसे अन्यथा-ज्ञान होने लगता है और वह दुःख का भागी बनता है।[1] ईश्वर भक्ति के द्वारा जब वह उसकी कृपा को प्राप्त करता है तब पुनः उपर्युक्त छः गुणों का आश्रयभूत बन जाता है। तब वह अपने आनन्दस्वरूप का ज्ञाता होने के कारण ब्रह्मवत् हो

---

1. अस्य जीवस्यैश्वर्यादितिरोहितम ", अणुभाष्य - 3/2/5

जाता है ।

वेदान्तसूत्रों में कहीं भी परमतत्व को विष्णु शिव आदि देवों के नाम से निर्दिष्ट कर उसे विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न देव नहीं कहा गया है किन्तु सभी वैष्णव भाष्यकारों ने उसे एक विशिष्ट विग्रह सम्पन्न देव रूप में भी स्वीकार किया है । वल्लभ के अनुसार यह परमतत्व " श्रीकृष्ण " है और रामानुज के अनुसार "नारायण " है ।

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ :

रामानुज - मत में ईश्वर यद्यपि एक है किन्तु भक्तों की मुक्ति और सहायता को ध्यान में रखकर अपने को पाँच रूपों में अभिव्यक्त करता है -

1) पर :-

यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट रूप है इसी का नाम वासुदेव है, इसका रूप नित्योदित है, इसमें आविर्भाव- तिरोभाव, काल और परिणाम नहीं है । परब्रह्म स्वयं अपने अन्दर समस्त भौतिक वस्तुओं के साथ ही इस जगत की सभी परिमित आत्माओं को समाहित किये है । कहीं - कहीं परम अवस्था को नारायण अथवा ब्रह्म कहा गया है, जो वैकुण्ठ में निवास करता है ।[1] जहाँ ईश्वर केवल सत्वगुण से निर्मित शरीर के साथ विद्यमान है । ईश्वर अपनी अनन्त पूर्णता में अपनी अभिव्यक्तियों से ऊपर है । सर्वोपरि सत्ता षड्गुणों ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसेयुक्त है ।[2]

---

1. परब्रह्म परवासुदेवादिवाच्यो नारायणः - यतीन्द्रमतदीपिका ।

2. विष्णु पुराण । 6/5/79

(2) व्यूह :

यह ईश्वर का द्वितीय रूप है , इसका उदय और अस्त होता है । जब ईश्वर स्रष्टा संरक्षक, संहारक के रूप में प्रकट होता है तब ईश्वर का यह रूप व्यूह कहा जाता है । रामानुज के अनुसार व्यूह वे आकृतियाँ हैं जिन्हें सर्वोच्च ब्रह्म सृष्टि आदि व्यापारों की निष्पत्ति, जीवों की रक्षा तथा उपासकों पर अनुग्रह सम्पादन के लिए धारण करता है । वासुदेव नामक परब्रह्म अपने आश्रित जीवों के समाश्रयण करने के लिए चार रूपों वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध में अवस्थित होते हैं ।[1] वासुदेव रूप से भगवान मोक्ष प्रदान करते हैं , संकर्षण रूप से दुष्टों का संहार करते हैं , प्रद्युम्न रूप से सृष्टि की रक्षा करते हैं और अनिरुद्ध रूप से धर्म की रक्षा करते हैं । सात्वत संहिता में वासुदेव के इन चारों रूपों की उपासना करने का विधान किया गया है ।

विभव :

राम, कृष्ण आदि अवतारों में उनका विभव स्वरूप प्राप्त है ।[2] "विभव" से तात्पर्य मत्स्य, कच्छपादि, चौबीस, अवतारों से है। क्रियाशक्ति से युक्त मत्स्यादि अवतार जीवों के दुःखों का विनाश करते हैं । अपने गीताभाष्य की प्रस्तावना में श्री रामानुज कहते हैं कि ईश्वर ने अपनी अनन्त दया से "नानाविध रूप धारण किए किन्तु अपने ईश्वरत्व के स्वरूप को भी स्थिर रखा ।[3] इनके दो भेद हैं - मुख्य और

1· वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाऽऽश्रितवत्सलं स्वाश्रितसमाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया । - श्रीभाष्य - 2/2/41

2· विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः - श्रीभाष्य, पृ0- 810

3· श्रीमद्भगवद्गीता, रामानुजभाष्य - पृ0- 11

गौण । मुख्य विभव भगवान के अंश और अप्राकृत देह विशिष्ट हैं । मुख्य विभव मुमुक्षुओं के उपास्य हैं । साहंकार जीवों में अधिष्ठित रहने के कारण गौण विभवों की उपासना नहीं होती ।

अन्तर्यामी :

भगवान का यह रूप प्राणियों के अन्तर में प्रविष्ट होकर उनका नियंत्रण करते हैं ।[1] भगवान का यह रूप सभी अवस्थाओं में सब प्रकार के जीवों का साथी है और शुभदेहयुक्त है । जीवों के ध्यान के लिए जीवों की रक्षा करने के लिए परमात्मा मित्र बनकर जीवों के हृदय कमल में अवस्थान करते हैं ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ :

आचार्य वल्लभ तो ब्रह्म की बहुत सी अभिव्यक्तियाँ स्वीकार करते हैं किन्तु उनमें प्रमुख अभिव्यक्तियाँ हैं -

परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म, अन्तर्यामी, काल, कर्म और स्वभाव ।

पूर्ण सच्चिदानन्द, साकार, भक्तिमात्र के द्वारा प्राप्य, भक्त द्वारा सेवित पुरुषोत्तम "श्रीकृष्ण" ही परब्रह्म है ।[2] परब्रह्म जब अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा अन्तरात्मा में रमण करता है तब उसे अन्तर्यामी कहते हैं और जब वह बाह्य रमण की इच्छा से बाह्य अभिव्यक्ति करता है तब "अक्षर" ब्रह्म कहलाता है ।

---

1. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः । - बृहदारण्यक 3/7/3
2. परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्, - सिद्धान्तमुक्तावली, षोडश ग्रन्थ भट्टरमानाथ शर्मा , पृ० 24

की इच्छा से वाच्य अभिव्यक्ति करता है तब अक्षर ब्रह्म कहलाता है ।

आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया द्वारा अक्षर ब्रह्म की ही अनेकरूपता होती है । अक्षर ब्रह्म से ही जीव जगत् की उत्पत्ति होती है । पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म अप्राकृत रूप और अप्राकृत गुणों से युक्त अक्षर धाम में सदैव एकरस अपने आनन्दाकार में मग्न रहता है । वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार परब्रह्म की जगत्-सिसृक्षा मात्र से किंचित् आनन्द तिरोभूत सा हो जाता है जिससे अक्षर का रूप आविर्भूत होता है अर्थात् अक्षर ब्रह्म में किंचिद् आनन्द का तिरोभाव रहता है।[1] इसीलिए इसे "गणितानन्द " कहते हैं । गणितानन्द का अर्थ है जिसमें आनन्द परिमित हो, यह विशुद्ध ज्ञानगम्य है । ज्ञानमार्गीय साधक अक्षर ब्रह्म को ही लक्ष्य रूप में स्वीकार करते हैं । विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ज्ञानमार्गीय साधकों को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है । उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति सर्वात्मना समर्पण से ही हो सकती है ।[2]

पुरुषोत्तम स्वरूप तो पूर्णानन्दवाला है, इसका आनन्द अपरिच्छिन्न है ।

काल, कर्म और स्वभाव अक्षर के अन्य रूप हैं जिन्हें वल्लभ अक्षर के भेद के रूप में स्वीकार करते हैं । काल ब्रह्म का क्रियाप्रधान रूप है, इसमें भी जड़ की तरह

- -

1. ईषदानन्दतिरोभावेन ब्रह्माक्षरम् उच्यते - अणुभाष्य 1/2/21

2. " पुरुषः स परः पार्थ " (गीता 8/22) इत्यनेनाक्षरात् परस्य .....।

- अणुभाष्य - 3/3/33

चिद् और आनन्दांश का तिरोभाव रहता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि काल और जड़ एक ही है । जड़ तत्व से इसका पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए काल को "ईषत्सत्वांशप्रकट" कहा गया है । कर्म भगवद्रूप है और उसमें भी चिदानन्द तिरोहित रहता है । स्वभाव भगवान की इच्छा से आर्विभूत होता है । अक्षर के ये रूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के ही भेद और कार्य हैं । सृष्टि की प्रक्रिया में अक्षर से अट्ठाइस तत्त्व आर्विभूत होते हैं, वे इस प्रकार हैं - सत्त्व, रजस् तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत् अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और मन । इन अट्ठाइस तत्त्वों से ब्रह्म की कारणात्मक क्षमता प्रकट होती है ।[1] सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं, वहाँ त्रिगुणों को ही प्रकृति माना जाता है जबकि शुद्धाद्वैत मत में "त्रिगुण" प्रकृति से भिन्न भी है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अक्षर ब्रह्म के गुणावतार हैं जो क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों को प्रकट करते हैं ।[2]

अक्षर ब्रह्म ही अपने सत्वगुण से विष्णु के रूप में प्रकट होकर सृष्टि की स्थिति में सहायक होता है, वही रजोगुणविशिष्ट रूप में ब्रह्मा के रूप में प्रकट होकर सृष्टि की उत्पत्ति करता है और तमोगुणविशिष्ट रूप में महेश के रूप में प्रकट होकर सृष्टि का संहार करता है ।

---

1. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन - राम कृष्ण आचार्य ।

2. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - राधारानी सुप्रबाल ।

ब्रह्मभाव अथवा पराभक्ति की प्राप्ति पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की अनन्या भक्ति द्वारा होती है,[1] किन्तु अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है ।

ब्रह्म के द्वारा जो जगत् सृष्टि होती है, उसमें चिदंश से जीव और सदंश से जड़ का आविर्भाव होता है । इसके अतिरिक्त आनन्दांश से जो आविर्भूत होता है उसे अन्तर्यामी कहते हैं ।[2] ये अन्तर्यामी जीव का अन्तर्यमन करते हैं । प्रत्येक जीव का अन्तर्यामी पृथक् - पृथक् होता है इसलिए अनन्त जीवात्माएं होने के कारण अन्तर्यामी भी अनन्त होते हैं । इस प्रकार वल्लभ जीव की भाँति अन्तर्यामी का भी नानात्व स्वीकार करते हैं ।

अक्षर और अन्तर्यामी में इतना ही अन्तर है कि अक्षर किंचिद् तिरोहितानन्द है जबकि अन्तर्यामी पूर्ण सच्चिदानन्द, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्तर्यामी पुरुषोत्तम का ही पर्याय है । दोनों में मात्र इतना अन्तर है कि अन्तर्यामी प्रत्येक जीव में पृथक् -पृथक् होते हैं और उनके अन्दर निवास करने के कारण वह परिच्छिन्न है जबकि पुरुषोत्तम सीमाबन्धनरहित, सर्वदा स्वतन्त्र और अपरिच्छिन्न है ।

सृष्टिकाल में यह अन्तर्यामी समस्त पदार्थों और कार्यों में व्याप्त होकर समस्त कार्य - समूह को स्वयं में स्थापित करता है किन्तु इस कार्य समूह से सम्पृक्त नहीं होता ।

---

1. " भक्त्या मामभिजानाति" {श्रीमद्भगवद्गीता 18/55} इति वाक्ये मामिति पदात् पुरुषोत्तमविषयकं ज्ञानमुच्यते न त्वक्षरविषयकम् । -अणुभाष्य -3/3/33
2. ....आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण: - त०दी०नि० 1/33

परब्रह्म श्रीकृष्ण, अक्षर और अन्तर्यामी को वल्लभ क्रमश: ब्रह्म का आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप स्वीकार करते हैं। ये इनमें नियम्य-नियामकभाव मानते हैं। अन्तर्यामी जीवों का नियामक है। अन्तर्यामी का नियामक अक्षर और अक्षर का नियामक ब्रह्म है। इनमें से ब्रह्म की शक्ति माया, अक्षर की प्रकृति तथा जीव की शक्ति अविद्या है। अन्तर्यामी की किसी शक्ति का उल्लेख वल्लभ ने नहीं किया है।

वाल्लभ दर्शन में अन्तर्यामी स्वरूप का महत्व रामानुज दर्शन की अपेक्षा बहुत कम है। रामानुज का तो सारा दर्शन ही ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप पर आश्रित है। रामानुज दर्शन में जो स्थान "अन्तर्यामी" का है वाल्लभ दर्शन में वही स्थान "अक्षर" का है। अक्षर ही पुरुषोत्तम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। अन्तर्यामी स्वरूप की कोई विशेष भूमिका वल्लभ के सिद्धान्त में नहीं है। इसी प्रकार रामानुज ने ब्रह्म की अक्षर रूप से किसी अभिव्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है। शुद्धाद्वैत के अक्षर ब्रह्म जैसी महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति रामानुज दर्शन में अन्तर्यामी की है।

ब्रह्म का शक्तिमत्व :

ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, ऐसा पहले भी कहा जा चुका है, अत: ब्रह्म के स्वरूप व अभिव्यक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब उसकी शक्तियों की चर्चा की जायेगी। ब्रह्म अनन्त शक्तियों का स्वामी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है -

1. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। 6/8

यहाँ "परा" शब्द यह निर्देश करता है कि ब्रह्म की शक्तियाँ मन,वाणी आदि इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है, ये ब्रह्म से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न हैं। ब्रह्म की शक्तियाँ आगन्तुकी नहीं अपितु स्वाभाविकी है। ब्रह्म की शक्तियों में सर्वप्रमुख शक्ति माया है। आचार्य शंकर भी अपने सिद्धान्त में माया को स्थान देते हैं किन्तु उन्होंने माया को ब्रह्म की उपाधि माना है। उनकी तो सम्पूर्ण सृष्टि- प्रक्रिया ही माया के द्वारा होती है किन्तु शांकर मत में माया का अपना अस्तित्व ही बड़ा अस्पष्ट सा है, वे न तो माया को सत् मानते हैं और न ही असत् अतएव इस प्रकार की अनिश्चित स्वरूप वाली माया से निर्मित सृष्टि को भी वे किसी मायावी द्वारा सृष्ट वस्तुओं की भाँति मिथ्या ही स्वीकार करते हैं। जबकि रामानुजादि समस्त वैष्णवाचार्य माया को ब्रह्म की उपाधि न मानकर ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं। ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया भी ब्रह्म की ही तरह सत्य है क्योंकि माया को असत्य मानने पर उसके शक्तिमान् ब्रह्म में भी असत्यत्व की प्रसक्ति होगी जो कि किसी भी आचार्य को अभीष्ट नहीं है। आचार्य रामानुज ने शंकर के मायावाद का बड़े विस्तार से खण्डन किया है। यह ब्रह्म की शक्ति है और ब्रह्म द्वारा ही नियमित व संचालित भी है। उन्होंने माया के रूप पर तो विशेष प्रकाश नहीं डाला है किन्तु शंकर के मायावाद का सुन्दर व तर्कपूर्ण खण्डन किया है। मायावाद के खण्डन में उन्होंने सात अनुपपत्तियाँ

प्रस्तुत की है जिन्हें सप्तविधानुपपत्ति कहते हैं, वे इस प्रकार हैं -

§1§ आश्रयानुपपत्ति

§2§ तिरोधानानुपपत्ति

§3§ स्वरूपानुपपत्ति

§4§ अनिर्वचनीयानुपपत्ति

§5§ प्रमाणानुपपत्ति

§6§ निवर्तकानुपपत्ति

§7§ निवृत्त्यनुपपत्ति

इनका विस्तृत वर्णन " माया की अवधारणा " अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा ।

आचार्य वल्लभ भी माया को ब्रह्म की शक्ति अतएव सत्य स्वीकार करते हैं । शांकर मायावाद का विरोध वे भी करते हैं किन्तु रामानुज की तरह उन्होंने मायावाद का विस्तृत या योजनाबद्ध रूप से खण्डन नहीं किया है, हाँ, उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने अवश्य माया के अनादित्वादि का सविस्तार खण्डन किया है, इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी । उनके अनुसार माया ब्रह्म की कार्यकरणसामर्थ्यरूपा शक्ति है । अपनी इसी शक्ति के द्वारा ब्रह्म विचित्ररचनात्मक जगत की सृष्टि करता है । ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया भी सत्य है । यह ब्रह्म में उसी तरह रहती है जिस प्रकार पुरुष में उसकी कार्यकरणात्मिका

शक्ति ।[1] इसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी ।

बृह्म का सृष्टिकर्तृत्व :

बृह्म के शक्तिमत्व की चर्चा के अनन्तर बृह्म के सृष्टिकर्तृत्व पर भी दो शब्द कहना अनिवार्य हो जाता है अतः सम्प्रति बृह्म के सृष्टिकर्तृत्व पर विचार किया जाएगा ।

समस्त वैष्णवाचार्यों के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि चाहे वह चेतन हो या अचेतन, बृह्म का ही परिणाम है । आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य के अनुसार जीव और जगत् के सन्दर्भ में बृह्म की स्थिति का वर्णन किया जायेगा -

रामानुजाचार्य के अनुसार जीव बृह्म का ही अंश है, किन्तु बृह्म को जीव का अंशी स्वीकार करने पर बृह्म में खण्डभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । बृह्म अखण्ड है, यहाँ अंश से तात्पर्य "स्थान घेरने वाला टुकड़ा"[2] नहीं है अपितु रामानुजाचार्य के अनुसार किसी वस्तु का एकदेश होना अंशत्व है ।[3] विशिष्ट वस्तु का विशेषण उसका अंश होता है । जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का अंश है, गुण गुणी का उसी प्रकार जीव भी बृह्म का अंश है । रामानुज जीव और बृह्म में शरीर -शरीरीभाव सम्बन्ध मानते हैं । बृह्म "शरीरी" या देही

---

1. माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता । यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् - त०दी०नि० 2/7। पर प्रकाश ।
2. भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन - आचार्य बल्देव उपाध्याय ।
3. एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम् विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव श्रीभाष्य - 2/3/47

ही और जीव उसका "शरीर" ।"यस्यात्मा शरीरम् आदि श्रुतियाँ भी जीव को ब्रह्म का शरीर बताती है ।[1] ब्रह्म जीव सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा जीव सम्बन्धी अध्याय में की जायेगी । ब्रह्म का शरीर होने के कारण रामानुज जीव को भी सत्य स्वीकार करते हैं ।

आचार्य शंकर जीव को ब्रह्म का विवर्त्त मानते हैं । जिस प्रकार रज्जु अज्ञान के कारण सर्प, भूच्छिद्रादि अनेक रूपों में प्रतीत होती है उसी प्रकार ब्रह्म भी अज्ञान के कारण जीव रूप में कल्पित किया जाता है तथा जिस प्रकार रज्जु का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर सर्पादि रूपों का ज्ञान बाधित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जीव विषयक अज्ञान भी बाधित हो जाता है तथा जीव भी ब्रह्म हो जाता है । आचार्य शंकर मोक्षावस्था में ब्रह्म और जीव की एकता अर्थात् जीव का ब्रह्म में लय स्वीकार करते हैं जबकि रामानुजाचार्य का मत इसके सर्वथा विपरीत है । वे मोक्ष दशा में भी जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । रामानुज जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं मानते बल्कि वे जीव को "शेष" और ब्रह्म को "शेषी" मानते हैं । दोनों में शेष-शेषी, देह-देही और अग्नि-स्फुलिंग सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।[2] ब्रह्म का शरीर होने के कारण जीव भी ब्रह्म के समान सत्य है, यदि शंकर की

---

1. श्रीभाष्य - 2/1/23
2. आल्वार भक्तों कातमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण काव्य
 - डा० मलिक मोहम्मद, पृ०- 68

भांति जीव को असत्य माने तो उसके शरीरी ब्रह्म में भी असत्यत्व की प्रसक्ति होगी ।

रामानुज जीव को ब्रह्म का कार्य कहते हैं । रामानुज के मतानुसार "कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः तज्जीवस्याप्यस्त्येव [1]" अर्थात् द्रव्य का अवस्थान्तर को प्राप्त होना "कार्यत्व" है अतः ब्रह्म का अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाना अर्थात् जीवभाव को प्राप्त होना ही उसका "कार्यत्व" है अतः ब्रह्म का अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाना अर्थात् जीवभाव को प्राप्त होना ही उसका "कार्यत्व" है ।

रामानुज जीव के समस्त ज्ञान और कर्मों का नियन्त्रक ईश्वर को मानते हैं । इस प्रकार ये जीव को "नियम्य" और ईश्वर को उसका "नियामक" स्वीकार करते हैं । अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि वाक्य में ईश्वर को उसका नियामक बताकर "नाऽन्योऽस्तीति" इत्यादि में इसके अतिरिक्त किसी अन्य नियामक का निषेध किया गया है ।[2]

जीव स्वभावतः अणु है । आधेयत्व, विधेयत्व, पराधीन- कर्तृत्व, परतन्त्रतत्व ये समस्त गुण जीव में इसलिए पाये जाते हैं क्योंकि वह ईश्वर से पूर्णतया नियन्त्रित और धार्य है ।

- -

1. श्री भाष्य 2/3/18

2. श्री भाष्य 1/4/1

ब्रह्म का अवस्थान्तर जीवरूप में आचार्य वल्लभ भी स्वीकार करते हैं किन्तु वल्लभ उसे "कार्य" की संज्ञा नहीं देते । जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, गीता में भी कृष्ण ने जीवात्मा को अपना सनातन अंश कहा है ।[1] आचार्य वल्लभ ब्रह्म और जीव में अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं । ब्रह्म "अंशी " है तथा जीव उसका "अंश" इसकी चर्चा विस्तार से जीव - सम्बन्धी अध्याय में की जायेगी । ब्रह्म के सत् और चिदंश से जीव का आविर्भाव होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि जीव में केवल आनन्दांश का तिरोभाव रहता है । आनन्दरहित होने के कारण जीव "निराकार" कहलाते हैं ।[2] यहाँ आकार का अभिप्राय "आनन्द" से है अतः निराकार का अर्थ है " निरानन्द " वाल्लभ मत में आकार का यह विशिष्ट अर्थ है ।

आनन्दांश तिरोभूत होने पर ऐश्वर्यादि षड्गुणों का भी तिरोभाव हो जाता है और जीव क्लेशादि समस्त दुःखों का विषय बन जाता है । रामानुज की तरह वल्लभ भी ब्रह्म को जीव का नियामक या शासक मानते हैं । जीव नियम्य तथा शासित है फिर भी वल्लभ जीव की स्वतन्त्र सत्ता या रामानुज की भाँति अंशी ब्रह्म पर आश्रित होते हुए भी अंशरूप से जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । जीव ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है, ब्रह्म ही भोक्ता जीव रूप से प्रकट होता है ।[3]

---

1. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः - गीता 15/7
2. तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्म भूतांश चेतनाः, सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।। - त0दी0नि0 1/32
3. जीवो भोक्ता भगवदंश : - श्रीमद्भागवत 2/5 पर सुबोधिनी ।

आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की तरह जीव को अणु मानते हैं किन्तु उनके अनुसार जीव अणुमात्र होने पर भी अपने चैतन्य गुण से समस्त शरीरों में व्याप्त रहता है।[1] " स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति[2] इस श्रुति के आधार पर वल्लभ का कथन है कि "स्व" शब्द से जीव का अणु होना सिद्ध होता है।[3] इस प्रकार यद्यपि जीव अणु है। तथापि वह ब्रह्म का अंश होने से व्यापक भी है। अणुत्व चिदंश का धर्म है अतः उसका अणु होना स्वाभाविक ही है। आनन्दांशाभिव्यक्ति होने पर, ब्रह्मभाव होने के पश्चात् वह व्यापक भी हो जाता है क्योंकि ब्रह्मभाव होने पर जीव में भगवद्धर्मों का आवेश होता है। इस प्रकार वल्लभ मोक्ष दशा में ब्रह्म का अणुपरिमाण स्वीकार करते हैं।

रामानुजाचार्य के ही समान आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव को सत्य मानते हैं किन्तु ये जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकार करते अर्थात् वल्लभाभिमत जीव का अस्तित्व ब्रह्म रूप से ही है। ब्रह्म से अलग उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वल्लभ जीव का अस्तित्व मोक्ष दशा में भी स्वीकार करते हैं। शंकर की भाँति वे ब्रह्म में जीव का लीन होना नहीं मानते, अपितु रामानुज की तरह मोक्ष दशा में आनन्द का उपभोग करने के लिए जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

---

1. अणुभाष्य - 2:3/25,26
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/9
3. अणुभाष्य - 2/3/22

इस प्रकार दोनों ही आचार्य जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार ब्रह्मांश होने के कारण जीव भी सत्य है। दोनों में मतभेद इतना ही है कि रामानुज तो जीव की "प्रकार " या "शेषरूप " से स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृति प्रदान करते हैं किन्तु वल्लभ को ब्रह्मरूप से ही जीव का सत्यत्व मान्य है। दोनों ही आचार्य जीव का कर्तृत्व ब्रह्माधीन मानते हैं यद्यपि रामानुज जीव की "प्रकाररूप" से सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु उनका जीव, ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्म ही उसका नियामक है, जीव, ब्रह्म का "शेष" है और ब्रह्म उसका "शेषी"। जीव का ब्रह्म द्वारा नियम्यत्व आचार्य वल्लभ को भी स्वीकार है किन्तु वे उसे प्रकार अथवा शेष की संज्ञा नहीं देते। इसके अतिरिक्त जीव सम्बन्धी विचारों में दोनों में एक अन्य महत्वपूर्ण पार्थक्य यह है कि रामानुज जीव का परिमाण सदैव अणु ही स्वीकार करते हैं, आचार्य वल्लभ भी बद्धावस्था में तो जीव को अणु ही मानते हैं किन्तु मोक्ष दशा में उसके उभयपरिमाण का कथन करते हैं; उनके अनुसार मोक्ष दशा में जीव में भगवद्धर्मों का आवेश होता है अतः उसमें व्यापकत्व का भी व्यपदेश होता है और इस प्रकार मुक्तावस्था में वल्लभ जीव का उभयपरिमाण स्वीकार करते हैं।

जीव की ही भाँति जगत को भी दोनों आचार्य सत्य स्वीकार करते हैं। आचार्य रामानुज जगत् को भी ब्रह्म का "शरीर" अथवा "विशेषण" मानते हैं। जगत् ब्रह्म का अचिदंश है। "अद्भुत रचनायुक्त यह सारा जगत् जो अद्भुत नियम और

विधि द्वारा नियंत्रित है, ब्रह्म से उत्पन्न तथा उसी के द्वारा पोषित है।[1] जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहृति ब्रह्म के द्वारा ही होती है ।[2] यहाँ जगत की उत्पत्ति से तात्पर्य ब्रह्म के अवस्थान्तर को प्राप्त होने से है । जगत् ब्रह्म का कार्य है । रामानुज जगत् की उत्पत्ति नहीं मानते अपितु जगत् का प्राकट्य स्वीकार करते हैं ।

उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन प्राप्त है रामानुज उसे अक्षरशः सत्य मानते है । उनका मत है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी इच्छा से स्वयं ही इस विचित्र जगत की उत्पत्ति करता है । सर्वव्यापी ब्रह्म में विद्यमान अचित् तत्त्व ही प्रकृति है, इसी से समस्त भौतिक विषय ईश्वर की इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं । श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी प्रकृति तत्त्व को जगत का बीज या मूल कहा गया है।[3] स्मृति पुराणों में भी यही बात कही गयी है ।

सांख्याचार्यों के समान आचार्य रामानुज भी प्रकृति को अजा और शाश्वत स्वीकार करते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत और सांख्य मत में प्रमुख अन्तर यह है कि सांख्य मत में प्रकृति को पुरुष से भिन्न एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकृति प्राप्त है जबकि रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश और ईश्वर द्वारा संचालित मानते हैं ।

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग - तीन)
   - दास गुप्ता , पृ0- 156
2. जन्माद्यस्य यतः" ब्रह्मसूत्र 1/1/2
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4-5
   मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।
   तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। -श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/10

ये चित् जीव और अचिद जगत् को ईश्वर का शरीर स्वीकार करते हैं अत: जिस प्रकार शरीर आत्मा द्वारा संचालित होता है उसी प्रकार चित् और अचित् ईश्वर द्वारा संचालित होते हैं।

रामानुज जगत् की सत्ता सृष्टि के पूर्व भी स्वीकार करते हैं। छान्दोग्यो-पनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व भी जगत् सत् था।[1] सृष्टि के पूर्व जगत प्रकृति में अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।[2] प्रलयावस्था में ईश्वर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रहता है[3] तथा सृष्टिकाल में स्थूलचिदचिद्विशिष्ट। इस तरह चिदचिद् को रामानुज ईश्वर का नित्य सहवर्ती विशेषण स्वीकार करते हैं। ये ब्रह्म और चिदचिद् में अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं। " ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" अर्थात् यह सारा जगत इस ब्रह्म का आत्मीय है, इस श्रुति में समस्त चिदचिद की ब्रह्मात्मकता का उपदेश किया गया है। " तत्त्वमसि " तुम वही हो, इस वाक्य में भी उसी को प्रकारान्तर से बतलाया गया है। " इदं सर्वं यदयमात्मा" "ब्रह्मेवेदं सर्वम्," "आत्मेवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म और जगत् की अनन्यता का विधान और द्वैतका निषेध किया गया है।[4]

- -

1. छान्दोग्योपनिषद 6/8/6
2. श्रीभाष्य - 2/1/18
3. वेदार्थ संग्रह पृ0 - 17-18
4. श्रीभाष्य - 2/1/8

ब्रह्म का शरीर होने के कारण जगत् सत्य है । आचार्य शंकर मायाजन्य होने के कारण जगत् को असत्य या भ्रममात्र मानते हैं किन्तु आचार्य रामानुज ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् को भी उतना ही सत्य स्वीकार करते हैं जितना ब्रह्म को । उपनिषद् के जो वाक्य नानात्व का निषेध और एकता का प्रतिपादन करते हैं उनके सम्बन्ध में रामानुज का कहना है कि वे वाक्य विषयों की सत्ता अस्वीकार नहीं करते, केवल यही बतलाते है कि उन सबमें एक ही ब्रह्म निहित हेजिस पर वे समाश्रित है ।

आचार्य वल्लभ भी जगत को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं । ब्रह्म के सदंश से जगत का आविर्भाव होता है अर्थात ब्रह्म अपने चिद् और आनन्दांश को तिरोभूत कर जगद्रूप में आविर्भूत होता है । जगत् विद्यामाया की रचना है । ब्रह्म का सदंश होने के कारण वल्लभ भी जगत् को सत्य स्वीकार करते हैं । " स वै न रेमे ", "तस्मा- देकाकी न रमते ", " स द्वितीयमैच्छत् " आदि श्रुतिवाक्यों में भी एकाकी और आत्माराम ब्रह्म के रमण करने, एक से बहुत होने अथवा आनन्दादि धर्मों के आस्वादन करने की इच्छा से उसके जगत् रूप में आविर्भूत होने का संकेत मिलता है ।

जिस प्रकार ब्रह्म अपनी इच्छा से, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में से आनन्दांश को तिरोभूत कर भोक्ता जीव रूप से प्रकट होता है उसी प्रकार आनन्द और चित् का तिरोभाव करके भोग्य जगत् रूप से आविर्भूत होता है । इस प्रकार जगत् ब्रह्म का सदंशप्रधान रूप है ।[1] आनन्द तथा चैतन्य के तिरोभाव में यह जड और अचेतन

1· तदिच्छामात्रतः तस्माद - बृन्दयादो निर्गता, सर्वे ······संदंशेन जडा अपि····
तत्दी॰ नि॰ 1/33

होने के कारण इसे ब्रह्म से भिन्न मानना उचित नहीं है । श्रुति सर्व प्रपंच की ब्रह्म रूपता का कथन करती है।[1] ब्रह्म ही जगत् रूप से परिणत होता है अतः प्रपंच भी उतना ही सत्य है, जितना कि उसका कारण ब्रह्म ।[2]

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों ही जगत् का ब्रह्म का अंश स्वीकार कर उसे सत्य मानते हैं । सृष्टि के पूर्व भी जगत् की सत्ता दोनों को स्वीकार है, दोनों में वैषम्य मात्र इतना ही है कि प्रलय दशा में रामानुज जीव, जगत् की ब्रह्म में सूक्ष्म रूप में अवस्थिति स्वीकार करते हैं जबकि वल्लभ प्रलयकाल में जीव जगत् का ब्रह्म में लय मानते हैं ।

इसके अतिरिक्त दोनों में जो विशेष अन्तर है वह जगत् और संसार की कल्पना को लेकर है । आचार्य शंकर और रामानुज जगत् और संसार को समानार्थक मानते हैं किन्तु वाल्लभ मत में जगत् और संसार भिन्न - भिन्न हैं । जगत् भगवत्कार्य होने के कारण सत्य है , जबकि संसार जीव की अविद्या से जन्य होने के कारण मिथ्या है । उनके अनुसार जीव के बंधन का कारण जगत् नहीं है अपितु

---

1. .....:"श्रुतितो हि प्रपंचस्य ब्रह्मतोच्यते " - त०दी०नि० 1/27 पर प्रकाश

2. कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपंचे भासते इति वाच्यम् ।"
- अणुभाष्य - 1/1/2

जगत् में जीव की अहंकृति है यही उसके बन्धन का कारण है । यह "अहंकृति" ही संसार है । भक्ति और तत्स्वरूप के ज्ञान से जीव का यह संसार बाधित हो जाता है, इस प्रकार संसार का तो नाश होता है किन्तु जगत् का नाश नहीं होता । आचार्य के अनुसार जगत् ब्रह्म से आविर्भूत होता है , तथा प्रलयकाल में पुनः अपने मूल उत्स ब्रह्म में समा जाता है जबकि रामानुजाचार्य के अनुसार तो वह सृष्टि के पूर्व और पश्चात् भी ब्रह्म में ही शरीररूप से विद्यमान रहता है ।

वल्लभाचार्य कहते हैं कि पुराणों में जहाँ कहीं जगत् को माया रूप कहा गया है वहाँ उसका अभिप्राय वस्तुतः वैराग्य उत्पन्न करना है ।[1] भगवदनुग्रह द्वारा जब जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है तब उसके संसार का तो नाश हो जाता है किन्तु जगत् की सत्ता तब भी बनी रहती है । प्रलयकाल में भगवान जब आत्मरमण की इच्छा करते हैं तब भी जगत् का नाश नहीं होता अपितु इसका तिरोभाव होता है , वह तो अपने मूल उत्स परब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार घट के टूट जाने पर उसके अन्दर का घटाकाश वृहदाकाश में समा जाता है ।

इस प्रकार जगत को भगवत्कार्य अतएव सत्य मानने में दोनों आचार्यों का ऐकमत्य है । दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म सा अन्तर यह है कि रामानुज जगत् को भगवान का शरीर मानते हैं और शरीर रूप से इसकी स्थिति प्रत्येक दशा में स्वीकार करते

---

1. " मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीयते " शिवानन्द ।

सृष्टि से पूर्व यह जगत् ईश्वर में सूक्ष्मरूप में नाम रूप भेद रहित अवस्था में रहता है तथा सृष्टिकाल में यही नामरूप के भेद से युक्त होकर स्थूलरूप में प्रकट होता है । आचार्य बल्लभ भी यद्यपि सृष्टि के पूर्व ब्रह्म में जगत की स्थिति सूक्ष्म रूप में स्वीकार करते हैं - किन्तु बल्लभ के अनुसार प्रलयकाल में यह ब्रह्म में ही लीन हो जाता है ।। जबकि रामानुज चिद अचिद को ईश्वर का नित्य सहवर्ती विशेषण स्वीकार करते है अतएव उसकी विशेषण तथा शरीर रूप से स्थिति को भी प्रत्येक दशा में स्वीकृति देते हैं ।

इसके अतिरिक्त दोनों आचार्यों में प्रमुख वैषम्य जगत् और संसार की कल्पना में है । रामानुज दोनों को समानार्थक मानते हैं जबकि वल्लभ भिन्नार्थक स्वीकार करते हैं । वल्लभ के अनुसार जगत् तो सत्य है किन्तु संसार नाशवान् है । जगत् और संसार की भिन्न - भिन्न कल्पना, आचार्य वल्लभ की मौलिक विशेषता है ।

ब्रह्म अविकारी है :

इन विविध रूपों में अवतीर्ण होकर भी ब्रह्म कूटस्थ और अपरिणामी ही रहता है । जीव जड़ादि के रूप में स्वयं को प्रकट करने पर भी ब्रह्म के स्वरूप व गुणों में कोई विकार नहीं आता, क्योंकि आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म अविकारी और अपरिणामी है । परिणाम से यहाँ तात्पर्य दुग्धदधिवत परिणाम से नहीं है अपितु सुवर्ण कुण्डलवत् परिणाम से है । आचार्य के अनुसार सृष्टि का तात्पर्य किसी नये पदार्थ की उत्पत्ति से नहीं है, बल्कि उसी पदार्थ के रूप - परिवर्तन से

है। एक ही पदार्थ अपना अस्तित्व खोये बिना दूसरी अवस्था में प्राप्त होता है। सृष्टि के पूर्व और प्रलयावस्था में चित् और अचित् के विभिन्न रूप और आकार ऐसी सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं कि वे अस्तित्वहीन से प्रतीत होते हैं, वही सृष्टि के समय पूर्णतया विकसित होकर प्रकट रूप में आ जाते हैं, इस प्रकार एक ही ब्रह्म रचना और विनाश के समय प्रकट अथवा अप्रकट रूप में स्थित रहता है। इस प्रकार कार्य और कारण वास्तव में भिन्न नहीं है।

ब्रह्म लौकिक आकृति रहित है। अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात "[2] सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य रामानुज कहते हैं कि देवादि शरीरों में अनुप्रवेश करते हुए उन- उन रूपों में युक्त होकर भी ब्रह्म निश्चित ही निराकार की तरह रहता है अर्थात् उसमें जीव की सी कर्माधीनता नहीं रहती। ब्रह्म सब में प्रविष्ट होकर भी नामरूप जन्य किसी भी प्रकार के कार्य से अस्पृष्ट नहीं होता।" आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरात्तद्ब्रह्म " अर्थात् आकाश ही नामरूप का निर्वाहक है, ये नाम और रूप जिसमें स्थित हैं वही ब्रह्म है। यह श्रुति भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। ईश्वर अपने शरीरभूत चिदचिद् का "शरीरी" होने पर भी शरीरगत सुखदुःखादि धर्मों से सम्पृक्त नहीं होता क्योंकि सुख - दुख का कारण कर्म है, शरीरधारी होना मात्र नहीं है[3]

---

129. According to Ramanuja, Cousation does not mean creation of a new substance; it simply means 'avasthaparivartana' or change of states "-A critical study of the Philosphy of Rāmanuja - Anima Sen Gupta.

2. श्री भाष्य, 3/2/14

3. श्री भाष्य, 1/1/21

ब्रह्म जीवात्माओं के दुखों अथवा प्रकृति के विकारों से अछूता रहता है । मुण्डक और कठोपनिषद् की निम्न श्रुतियों में भी यही भाव प्रदर्शित किया गया है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य

नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। {3/1/9}

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।

छायाऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्न्यो ये च त्रिणाचिकेताः ।। 1/3/1

आचार्य वल्लभ श्री ब्रह्म को अविकारी और अपरिणामी मानते हैं इसीकारण शुद्धाद्वैतवाद को " अविकृतपरिणामवाद " भी कहा जाता है । ब्रह्मवाद या अविकृतपरिणामवाद का अर्थ यह है कि मूलकारण{ परब्रह्म } जीव और जडादि के रूप में कारण से कार्यरूप प्राप्त कर लेता है फिर भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, जीव जगद्रूप में परिणत होने पर भी परमसत्ता अपरिणामी ही बनी रहती है । क्योंकि आचार्य वल्लभ को भी रामानुज की तरह सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम ही अभीष्ट है । जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डलादि विभिन्न आभूषणों के रूप में परिणमित होने पर भी विकारग्रस्त नहीं होता, उसी प्रकार जीव जडादि परस्पर अत्यन्त भिन्न रूपों में परिणमित होने पर भी ब्रह्म के सच्चिदानन्दस्वरूप में कोई विकार नहीं आता , वह अविकारी ही रहता है । वस्तुतः जीवादि के रूप में उसका

परिणमन नहीं होता अपितु उसके गुणों का प्राकट्य होता है या विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती है ।

इस सिद्धान्त से ऐसा सूचित होता है कि ब्रह्म का यह "परिणाम" लौकिक परिणाम से किंचिद् भिन्न प्रकार का है , यह परिणाम अभिव्यक्ति रूप का है । कारण व्यापार जन्य कार्य की भाँति न होकर ब्रह्म की गुणाभिव्यक्तिरूप का है । वैष्णव वेदान्त में ब्रह्म की इस अभिव्यक्ति को परिणाम इस लिए कहा गया है क्योंकि ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति बिना किसी उपाधि के सहज रूप से होती है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो ब्रह्म सृष्टि रूप में परिणमित होता है , वह अविकारी कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं जीव रूप से अभिव्यक्त होता है वह "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव " भी नहीं हो सकता, फिर " आत्मा वाऽरेद्रष्टव्यः" आदि श्रुतियों से जो उसके ज्ञेयत्व का कथन किया गया है वह भी अनुपपन्न होगा फलतः ब्रह्म का उपास्यत्व भी अबाधित न रह सकेगा किन्तु आचार्य वल्लभ इन शंकाओं का निराकरण करते हुए कहते हैं कि ऐसा तो उसी स्थिति में सम्भव होता जबकि ब्रह्म विश्व मात्र होता । विश्व के अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही न होती किन्तु ब्रह्म तो विश्व से परिछिन्न नहीं है अपितु समस्त विश्व में अनुस्यूत होकर भी विश्वातीत है, यही बात पुरुष सूक्त के "अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्" में भी कही गयी है ।

विश्व का अस्तित्व विश्वरूप से नहीं अपितु ब्रह्मरूप से है, ब्रह्म से पृथक उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । वह तो ब्रह्म की अभिव्यक्ति विशेष है जबकि ब्रह्म अपने अस्तित्व में सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष है । विश्व तो ब्रह्म के एकदेश-मात्र में स्थित है जबकि ब्रह्म उसके अतिरिक्त भी है ।[1] इस प्रकार ब्रह्म में परिच्छिन्नत्व और विकारित्व की संभावना असंगत विचार है । वह विविध रूपों में परिणत होकर भी सर्वथा अविकारी, अपरिच्छिन्न तथा अपरिणामी है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि दोनों ही आचार्य " अविकृतपरिणामवाद " के पोषक हैं । जीव, जगदादि विभिन्न रूपों में परिणत होने पर भी ब्रह्म के अविका-रित्व के प्रति आग्रह दोनों आचार्यों में समानरूपेण स्पष्ट है क्योंकि दोनों को ही सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम ही अभीष्ट है । दोनों आचार्यों के मत में पार्थक्य है तो ब्रह्म की परिणमन- प्रक्रिया के सन्दर्भ में । आचार्य वल्लभ ब्रह्म का साक्षात्परिणाम स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म स्वयं ही अपने गुणों के आविर्भाव - तिरोभाव द्वारा विभिन्न रूपों में परिणत होता है किन्तु आचार्य रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण परिणमन क्रिया ब्रह्म के चिदचिदंशोंमें होती है इस प्रकार रामानुज को अभीष्ट परिणाम " द्वारक परिणाम " कहा जा सकता है फिर भी ब्रह्म का अविकारित्व दोनों आचार्य स्वीकार करते हैं ।

---

1. " विश्वेन न भगवानावृत: परिच्छिन्न: किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम् । ......तस्माधावान् भगवान् सर्वं तावानधिकस्ततोऽप्यधिक इति न परिच्छेद: सम्भवति " - श्रीमद्भागवत 2/6/15 पर सुबोधिनी ।

ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है -

ब्रह्म के कारणत्व का विचार किए बिना तो परमसत्ता का स्वरूप अधूरा ही रह जायेगा, अतः अब ब्रह्म के कारणत्व की चर्चा की जायेगी -

आचार्य शंकर मायोपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता स्वीकार करते हैं, वस्तुतः परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) को तो वे अकर्ता, अभोक्ता मानते हैं। किन्तु आचार्य रामानुज चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को और वल्लभ उपाधि-रहित शुद्ध ब्रह्म को ही सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहर्ता, सभी कुछ स्वीकार करते हैं।

कर्त्ता का स्वतन्त्र होना आवश्यक है तथा ब्रह्म की ही सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता है अतः उसके अतिरिक्त किसी अन्य के कर्तृत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। "जन्माद्यस्य यतः" तथा "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्रों में दोनों ही आचार्यों ने पृथक्- पृथक् रूप से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ब्रह्माण्ड का सर्वकर्तृत्व ब्रह्म का ही है। सर्जना करना उसका सहज स्वभाव है तथा उसके निर्गुण और अद्वैत स्वरूप की सिद्धि भी उसकी शक्ति के सहज स्वभाव द्वारा होती है। ब्रह्म के द्वारा जगत् का रूप धारण करना या उसका जगत् और जीव के रूप में आविर्भूत होना, शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म का सहज स्वभाव है। इस प्रकार रामानुज और वल्लभ ने ब्रह्म को निर्गुण (प्राकृत गुण राहित्य) भी माना है तथा उसके सर्वकर्तृत्व को भी स्वीकार किया है।

ब्रह्म सृष्टि का कर्ता होने के साथ - साथ अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भी है । जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल का निमित्तकारण भी स्वयं ही है और उपादानकारण भी, उसी प्रकार ब्रह्म ही इस प्रपंच का उपादानकारण तथा निमित्तकारण दोनों ही है । ऊर्णनाभ की तरह जगत की रचना करने के लिए उसे किसी अतिरिक्त उपादान सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

श्रुति "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"[1] "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्" इत्यादि रूप से एकमात्र ब्रह्म का ही सत्यत्व प्रतिपादित करती है । ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं, अतः ब्रह्म से भिन्न किसी पदार्थ का उपादान अथवा निमित्तकारणत्व स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार ब्रह्म ही कारण भी है और वही कार्य भी है । अपनी अव्यक्तावस्था में वह कारण ब्रह्म है तथा व्यक्तावस्था में कार्यब्रह्म ।[2]

ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य रामानुज कहते हैं कि ब्रह्म ही इस जगत् का उपादान और निमित्तकारण है । इनके अनुसार सृष्टि का निमित्तकारण ब्रह्म है तथा उपादानकारण ब्रह्म का चिद्-चिद्रूप शरीर है । रामानुज वस्तुतः सम्पूर्ण परिणमन क्रिया ब्रह्म के विशेषणों अर्थात्

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
2. तदेव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थानम् । नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम् ।

- वेदार्थसंग्रह पृ0- 17

चिदचिद् में मानते हैं इस प्रकार ब्रह्म का उपादानत्व होते हुए भी संघात का उपादानत्व होने के कारण चिदचिद् और ब्रह्म में स्वभाव सांकर्य नहीं होने पाता तथा जीव जड़गत दोषों की प्रसक्ति भी ब्रह्म में नहीं होती ।[1] ब्रह्म की सृष्टिरूप परिणाम क्रिया अचिद् में साक्षात् तथा चिद् में उसके धर्मभूतज्ञान के माध्यम से होती है और इस तरह ईश्वर नित्य अविकारी और कूटस्थ ही बना रहता है । इस प्रकार ब्रह्म का परिणाम "सद्वारक" अर्थात् जीव जड़ के सम्बन्ध से कहा जाता है।

रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनों कारण स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार इस जगत् का समवायिकरण ब्रह्म है, समग्र विश्व इसी में ओत-प्रोत है, ऐसा वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित है ।

यही निमित कारण भी है और कर्ता भी है । जब यह स्वयं में रमण करता है तब प्रपंच का संवरण कर लेता है और जब प्रपंच में रमण करने की इच्छा होती है तब प्रपंच का विस्तार कर लेता है । यह प्रपंचभाव ब्रह्म से ही प्रकट होता है तथा उसी में लीन होता है ।[2]

- -

1. ......अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्यकारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणमिति ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः । - श्रीभाष्य 1/1/1

2. जगतः समवायिस्याव तदेव च निमित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम् ।। त०दी०नि० 1/69

ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई मतभेद नहीं है । ब्रह्म को निमित्तकारण तो ईश्वरवादी नैयायिकादि भी मानते है किन्तु उपादानकारण के विषय में मतवैभिन्य है । वल्लभ ने अणुभाष्य {2/2/13} में समवाय के स्वतन्त्र पदार्थ होने का खण्डन किया है । उनके अनुसार समवाय का अर्थ तादात्म्य है।[1] वल्लभ " तत्तुसमन्वयात " सूत्र की व्याख्या में इस मत को स्थापित करते हैं कि ब्रह्म जगत का समवायिकारण है क्योंकि वह सत चित और आनन्दरूप में अपने त्रिविध स्वरूप में सर्वत्र अस्तित्व रखता है । प्रपंच नाम, रूप , कर्म से निर्मित्त होता है और ब्रह्म उन सबका कारण है क्योंकि वह सर्वत्र अपने त्रिविध स्वरूप में स्थित रहता है ।[2]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज व वल्लभ ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व के विषय में एकमत हैं । दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि आचार्य वल्लभ ब्रह्म को ही निमित्त और उपादान दोनों कारण मानते हैं जबकि आचार्य रामानुज निमित्त कारण तो ब्रह्म को मानते है तथा उपादानकारण ब्रह्म के चिदचिद विशेषणों को, इस प्रकार का विभाजन करके सम्भवतः वे अपने ब्रह्म को परिणामवाद की सभी सीमाओं से मुक्त रखना चाहते हैं ।

---

1. समवायश्च तादात्म्यमेव न तु पदार्थान्तरम् - आवरण भंग
2. भारतीय दर्शन का इतिहास {भाग - 4}
   - डा० एस०एन०दास गुप्ता ।

अवतारवाद :

समस्त वैष्णवाचार्यों ने परब्रह्म को लीलाविशिष्ट स्वीकार किया है, अतः सभी ने अपने सिद्धान्तों में किसी न किसी रूप में अवतारों की चर्चा की है । वस्तुतः ब्रह्म के अवतारवाद की संकल्पना मूलतः मनोवैज्ञानिक है । रामानुज तथा परवर्ती समस्त वैष्णवाचार्यों ने ब्रह्म के अवतार रूप की कल्पना की है । लोकहित के लिए, भक्तों की रक्षा तथा धर्म की संस्थापना के लिए प्रत्येक युग में ईश्वर विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं ।[1]

आचार्य रामानुज ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में कई स्थलों पर अवतारों की चर्चा की है । लोकहित के लिए प्रत्येक युग में भगवान विभिन्न रूपों में प्रकट होते है। "अवतार " शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द "अवतरणम् " से हुई है - "अवतरणमवतार :" जिसका अर्थ है " नीचे आना "[2] अर्थात् अवतार का तात्पर्य है अप्राकृत का प्राकृत व्यवस्था में अवतरण । इस प्रकार ईश्वर का अवतार उसका वह रूप है जो कि वह संघर्ष, दुःख तथा निराशा से पूर्ण संसार में आने के लिए धारण करता है । अपने समस्त अवतरणों में ईश्वर जो रूप धारण करता है वह अप्राकृत है ।[3] इसका तात्पर्य है कि इस जगत में ईश्वर का अवतरण उसके पूर्वकर्मों

---

1. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां,
   धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। गीता 4/8
2. A Critical study of the Philosphy of Ramanuja-Anima Sen Gupta, Page 163
3. महाभारते चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते - न भूत संघसंस्थानों देहोऽस्य परमात्मनः - श्रीभाष्य 1/1/21

का फल नहीं है । ईश्वर तो समस्त कर्मफलों से परे है । जब वह संसार में आता है तब भी उसका दैवी स्वरूप अविकृत ही रहता है । गीता के चतुर्थ अध्याय के सप्तम श्लोक की व्याख्या में श्री रामानुज कहते हैं कि ईश्वर इस जगत् में अपनी इच्छा से आता है ।[1] ईश्वर अपनी दिव्यता अवतार रूप में भी स्थिर रखता है यही कारण है कि श्रीकृष्ण अपना विराट् रूप अर्जुन को दिखा सके । सामान्य चक्षुओं से लोग ईश्वर के दैवी स्वरूप को नहीं देख सकते इसलिए अवतार के रूप में ईश्वर सामान्यतया अपनी योगमाया से आवृत रहता है जिससे साधारण जन उसे मानव और मृत्युशील समझ सकें । अपने निवास स्थान वैकुण्ठ से इस जगत में आने का ईश्वर का प्रमुख कारण है अपने भक्तों को दर्शन देकर उनका दुःख दूर करना,[2] दुष्टों को दण्ड देना और धर्म तथा सामाजिक सन्तुलन की रक्षा करना ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर सर्वोच्च सत्ता के रूप में अनादि, अनन्त और संसार के सभी प्राणियों और वस्तुओं का स्वामी है, फिर भी अव्यवस्था और बुराई को पृथ्वी से मिटाने के लिए वह इस संसार में स्वेच्छा से विभिन्न रूपों में अवतरित होता है । ईश्वर के अवतारों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर

---

1. तदा अहमेव स्वसंकल्पेन आत्मानं सृजामि - गीता 4 /7 रामानुज भाष्य
2. साधवः उक्तलक्षणधर्मशीलाः वैष्णवाग्रेसराः मत्समाश्रयणे प्रवृत्ता मन्नामकर्मस्वरूपाणाम् अवाङ्‌मनसगोचरतया मद्दर्शनाद् ऋते स्वात्मधारणपोषणादि सुखम् अलभमाना अणुमात्रकालम् अपि कल्पसहस्रं मन्वानाः प्रशिथिलसर्वगात्रा भवेयुः इति मत्स्वरूप चेष्टितावलोकनालापादिदानेन तेषां परित्राणाय ......आदि ।

- गीता, रामानुजभाष्य 4/8

जीव मुक्ति प्राप्त करने और ईश्वर - सम्पर्क का आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ।[1]

वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में कई स्थानों पर ईश्वर के अवतारों का वर्णन किया है । वल्लभ के अनुसार ईश्वर आविर्भाव और तिरोभाव द्वारा इस जगत में विभिन्न रूपों में प्रकट होता है. ईश्वर का यह "प्राकट्य " ही अवतार कहा जाता है । व्यापि वैकुण्ठ से भगवान का जगत में आगमन ही उनका अवतार है ।[2] अपने ग्रन्थ सुबोधिनी में वल्लभ कहते हैं कि " अपने मूल स्थान से इस लोक में अवतरित होना ही " अवतार " है ।[3] इन अवतारों के माध्यम से भगवान लोकहित के विभिन्न कार्य करते हैं । आचार्य के अनुसार भगवान के अवतार भी भगवद्रूप होने से भगवान से अभिन्न है । ये अवतार भक्तिनिमित्तक होते हैं । अतएव भक्ति के अनेकविध होने के कारण अवतार भी अनेकविध होते हैं । कुछ अवतार क्रियाशक्ति प्रधान है तथा कुछ ज्ञानशक्ति प्रधान । जब भगवान का प्राकट्य सत्व को आधार बनाकर होता है तब उसे " अंशावतार " कहते हैं और जब ईश्वर अपने सच्चिदानन्दस्वरूप से आविर्भूत होते हैं तो वह ब्रह्म का " पूर्णावतार " कहलाता है । ऐसा प्राकट्य केवल श्रीकृष्ण का ही है अतः वे साक्षात "अवतारी" कहे जाते हैं । अन्य अवतारों की अपेक्षा पूर्ण प्राकट्य ही श्रेष्ठ माना जाता है ।[4]

---

1. मदीयदिव्यजन्मचेष्टितयाथात्म्यविज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्मा अस्मिन् एव जन्मनि यथोदितप्रकारेण माम् आश्रित्य मदेकप्रियो, मदेकचित्तोमाम् एव प्राप्नोति - गीता , रामानुजभाष्य - 4/9
2. अवतरणमवतार: व्यापिवैकुण्ठात भगवत: प्रपंचसमागमनम् - सुबोधिनी 2/3/1
3. अवतारो नाम अवतरणं मूलस्थानादिहागमनम् - सुबो 2/6/4।
4. यत्राधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्ध साकार ब्रह्माविर्भवति भक्तार्थं स स्वयं पूर्णो भगवानुच्यते, एतदेव च श्रेष्ठम् - अणुभाष्य - 3/3/3 पर भा०प्र०

इस प्रकार रामानुज तथा वल्लभ दोनों ही आचार्यों ने ईश्वर के अवतार रूप का वर्णन किया है । अवतारवाद की लोकप्रियता का प्रमुख कारण यह था कि उपनिषदों का गूढ़ दर्शन दार्शनिक गवेषणा की चरम उपलब्धि होने पर भी सामान्य जन की पहुँच से बाहर था । सामान्य व्यक्ति को ऐक ऐसे आलम्बन की आवश्यकता थी जो उसकी आर्त्त पुकार पर उसकी सहायतार्थ प्रस्तुत हो सके । शंकर का निराकार ब्रह्म ऐसे प्रयोजन की पूर्ति में असमर्थ था फलतः इसकी प्रतिक्रिया में रामानुज ने ईश्वरवादी दर्शन का प्रवर्तन किया । इनकी विग्रहवान् ईश्वर की धारणा को परवर्ती समस्त वैष्णवाचार्यों ने भी अपनाया है ।

मुक्ति का स्वरूप स साधन :

जीव का ब्रह्मभूत होना ही मुक्ति है । आचार्य शंकर मुक्ति में जीव और ब्रह्म का स्वरूपैक्य स्वीकार करते हैं, जीव ब्रह्म ही है" जीवो ब्रह्मैव नापरः । अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव रूप से प्रतीत होता है किन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार मोक्ष जीव और ब्रह्म का स्वपैक्य नहीं है बल्कि जीव का ब्रह्मभाव को प्राप्त होना ही मुक्ति है।[1] ब्रह्म भाव ब्रह्म और जीव की एकता नहीं है, अपितु जीव का "ब्रह्म की प्रकारता " का अनुभव है । जीव और ब्रह्म का ऐक्य तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि जीव अल्पज्ञ, अणु तथा ईश्वराधीन है , इसके विपरीत ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु तथा स्वतन्त्र है , अतः अल्पज्ञ और सर्वज्ञ या अणु और विभु एक तो हो ही नहीं सकते। जीव और ईश्वर की अभिन्नता का अर्थ है कि समस्त चराचर जगत् में व्याप्त रहने के कारण ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और उसको नियंत्रित करता है ।

1- ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम् श्रीभाष्य -1/1/1

उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि " मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है" ; उसका यही तात्पर्य है कि मुक्तात्मा ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि गुणों से समता प्राप्त कर ब्रह्म के सदृश हो जाता है ।[1] ब्रह्मप्रकार ही हो जाता है ।

शंकर के अद्वैत में जीव का ब्रह्म हो जाना मोक्ष है, मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है किन्तु रामानुज ऐसा नहीं मानते । वे मोक्ष दशा में भी ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करने के लिए जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं ।

आचार्य शंकर एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकार करते है किन्तु रामानुज "ज्ञानसहित भक्ति" को मोक्ष साधन रूप से अंगीकार करते हैं । उपनिषदों में ज्ञान को मोक्ष साधन कहा गया है किन्तु रामानुज के अनुसार इसका तात्पर्य उपासना या भक्तिसहित ज्ञान है ।[2] इस प्रकार आचार्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति केवल कर्म या केवल ज्ञान द्वारा नहीं होती है अपितु कर्मज्ञानयुक्त भक्ति तथा ईश्वर की कृपा द्वारा ही होती है । यहाँ ज्ञान से तात्पर्य ध्यान और निदिध्यासन से है ।[3] " तेल की धारा के समान अविच्छिन्न स्मृति प्रवाह को ध्यान " कहते हैं, यही ध्रुवानुस्मृति है और यही मोक्ष का साक्षात् साधन है ।

- -

1. ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारता उच्यते - श्रीभाष्य - पृ० 7।
2. अतो ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदनम् उपासनं स्यात उपासनापर्याय-त्वात् भक्तिशब्दस्य । - श्रीभाष्य - 1/1/1
3. श्रीभाष्य - 3/4/26

ध्यानानुस्मृति रूप ध्यान अथवा उपासना को रामानुजानुयायी "भक्ति" कहते हैं। रामानुज के अनुसार भक्ति केवल त्रैवर्णिक व्यक्तियों के लिए ही है, शेष लोगों के लिए उन्होंने प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की है। प्रपत्ति का अर्थ है "शरणागति अर्थात् "पूर्ण आत्मसमर्पण"। ईश्वर की शरण स्वीकार करने वाले को भगवान स्वयं मुक्ति प्रदान करते हैं। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन साधना सम्बन्धी अध्याय में किया जायेगा।

आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की भाँति जीव का ब्रह्मभाव को प्राप्त होना ही मुक्ति मानते हैं। अविद्याग्रस्त जीव ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। मोक्ष का अर्थ है भगवद्सायुज्य प्राप्त कर ब्रह्मानन्द का उपभोग करना। यह आनन्द भक्ति द्वारा ही प्राप्य है।

वल्लभ का भक्तिमार्ग "पुष्टिमार्ग" नाम से प्रसिद्ध है। "पुष्टि" शब्द का आधार भागवत का "पोषणं तदनुग्रहः"[1] यह वाक्य है। भगवदनुग्रह को ही वल्लभ पुष्टि कहते हैं। पुष्टिमार्ग में ईश्वरानुग्रह ही एकमात्र नियामक है। भगवदनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है, तब भक्त स्वयं को भगवान का सेवक समझता हुआ अपना सर्वस्व भगवान को समर्पण कर देता है।

आचार्य वल्लभ भी मुक्तावस्था में जीव की स्थिति स्वीकार करते हैं। वह ब्रह्म की सन्निधि में रहता हुआ उसके आनन्द का उपभोग करता है।

---

1. श्रीमद्भागवत 2/10

इस प्रकार दोनों आचार्य भक्ति को मोक्ष साधन स्वीकार करते हैं । रामानुज की भक्ति ज्ञान व कर्म से सहकृत है । यद्यपि भक्तिमार्ग में ज्ञान और कर्म की महत्ता वल्लभ को भी अभीष्ट है किन्तु उनका अधिक आग्रह प्रेम पर है जबकि रामानुज ज्ञान पर अधिक बल देते हैं । रामानुज द्वारा प्रतिपादित प्रपत्तिमार्ग, वल्लभाचार्य की स्वीकृत पुष्टिमार्ग के अधिक निकट है । दोनों ही मार्ग समस्त बन्धनों से रहित, समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त है ।

मोक्ष का अर्थ भी दोनों आचार्यों को एक एक जैसा ही अर्थात् जीव का प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होकर " ब्रह्म की समता " को प्राप्त करना है । इसके अतिरिक्त जीव की स्थिति दोनों आचार्य मोक्षदशा में भी स्वीकार करते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत परमसत्ता के स्वरूप का विस्तृत एवं तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है. संक्षेप में दोनों ही आचार्यों द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप का साम्य और वैषम्य इस प्रकार है -

ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, दोनों आचार्य एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं । ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप, व्यापक एवं नाशरहित है । जागतिक गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म "निर्गुण " कहलाता है । स्वरूपत: वह सगुण ही है क्योंकि वह आनन्दस्वरूप तथा दिव्यगुणों का स्वामी है ।

विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत मत की एक प्रमुख विशेषता है ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करना । रामानुजाचार्य के अनुसार श्रुति कर्तृत्व, ईप्सितृत्व, नियामकत्व तथा उपास्यत्व आदि धर्मों का विधान ब्रह्म में कथन करती है । रामानुज की तरह बल्लभाचार्य भी ब्रह्म को सर्वधर्ममय स्वीकार करते हैं । अपने ग्रन्थ "तत्वदीपनिबन्ध" में ब्रह्म स्वरूप की चर्चा करते हुए बल्लभ कहते हैं कि "ब्रह्म को निर्धर्मक नहीं माना जा सकता, धर्मरहित मानने पर तो वह अनुपास्य, अप्राप्य और अफल हो जायेगा ।"

विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत दोनो ही सम्प्रदायोंमें ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रयी माना गया है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म सगुण होते हुए भी निर्गुण (प्राकृतगुण-रहित) है । बल्लभाचार्य ने तो ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है, ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रयी संज्ञा भी बल्लभ ने ही प्रदान की है । उनके अनुसार अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ और चल दोनो प्रकार का है । वह अविभक्त भी है और विभक्त भी है क्योंकि सिसृक्षा होने पर वही विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है ।

रामानुज और बल्लभ दोनों आचार्य जीव और जगत् को ईश्वर का अंश स्वीकार करते हैं । जीव जीवरूप से सत्य नहीं है अपितु ब्रह्मरूप से सत्य है । यहाँ ध्यातव्य है कि रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं अर्थात वे ईश्वर चित् और अचित् ये तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं, चिदचिद ईश्वराश्रित हैं, ईश्वर से भिन्न नहीं है । यहाँ पर बल्लभ का रामानुज से मतवैभिन्य है, बल्लभ

परब्रह्म को अखण्डेकरस ही स्वीकार करते हैं, उसमें किसी भी प्रकार का भेद उन्हें स्वीकार नहीं है ।

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर यद्यपि एक है किन्तु भक्तों की मुक्ति एवं सहायतार्थ वह स्वयं को पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार के रूप में अभिव्यक्त करता है । आचार्य वल्लभ भी परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ स्वीकार करते हैं । इन अभिव्यक्तियों को वह ब्रह्म का क्रमशः आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप स्वीकार करते हैं ।

वाल्लभ मत में अन्तर्यामी का महत्व रामानुज मत की अपेक्षा अत्यन्त कम है । रामानुज का तो सारा दर्शन ही ब्रह्म के अन्तर्यामी स्वरूप पर आश्रित है । रामानुज दर्शन में जो स्थान अन्तर्यामी का है वही स्थान दर्शन में अक्षर ब्रह्म का है ।

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं, ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया भी सत्य है । शक्ति और शक्तिमान् में अभेद सम्बन्ध होता है अतः माया को असत्य मानने पर ब्रह्म में भी असत्यत्व की प्रसक्ति होगी । दोनों ही आचार्यों ने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है । रामानुज ने शांकर मायावाद के खण्डन में सात अनुपपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं - आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति, निवृत्त्यनुपपत्ति ।

रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही जीव को ब्रह्मांश स्वीकार करते हैं किन्तु ब्रह्म को अंशी स्वीकार करने से ब्रह्म में विभाग की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती । रामानुज के अनुसार जीव स्वभावतः अणु है । आध्येत्व, विधेयत्व, पराधीनकर्तृत्व, परतन्त्रत्व आदि समस्त धर्म जीव में इसलिए पाये जाते हैं क्योंकि वह ईश्वर से पूर्णतः नियंत्रित और धार्य है । वल्लभ भी जीव को अणुमात्र स्वीकार करते हैं किन्तु वह अणु होने पर भी अपने चैतन्य गुण से समस्त शरीर में व्याप्त रहता है ।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म का अचिदंश ही जगत् है ,वल्लभ के मतानुसार ब्रह्म के सदंश से जगत् का आविर्भाव होता है। यद्यपि रामानुज और वल्लभ दोनों ही जीव-जगत् को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं तथापि दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि रामानुज अंशरूप से जीव,जगत्,का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं जबकि वल्लभ ब्रह्म रूप से ही जगत् और जीव की सत्ता स्वीकार करते हैं । रामानुज और वल्लभ में एक अन्तर यह भी है कि रामानुज तो जगत और संसार को समानार्थक मानते हैं जबकि वल्लभ जगत् और संसार को भिन्नार्थक स्वीकार करते हैं;जगत् नित्य है तथा संसार जीव-वासना रूप होने से अनित्य ।

ब्रह्म विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी अविकारी ही रहता है । 'रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों को सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम ही अभीष्ट है, दुग्धदधिवत् परिणाम नहीं । ब्रह्म सृष्टि का कर्ता होने के साथ ही साथ उसका निमित्त और उपादानकारण भी है ।

आचार्य रामानुज ने अपने सिद्धान्तों में कई स्थलों पर अवतारों की चर्चा की है । लोकहित के लिए प्रत्येक युग में भगवान विभिन्नरूपों में प्रकट होते हैं । उनके विचार से ईश्वर अनादि अनन्त एवं समस्त चराचर जगत के स्वामी हैं किन्तु अव्यवस्था एवं बुराई को पृथ्वी से मिटाने के लिए वह इस संसार में स्वेच्छा से विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं ।

आचार्य वल्लभ भी अवतारवाद की संकल्पना को स्वीकार करते हैं वे कहते हैं कि व्यापि वैकुण्ठ से भगवान का जगत् में आगमन ही उनका अवतरण है ।

जीव का ब्रह्मभूत होना मुक्ति है । रामानुजाचार्य एवं वल्लभ के अनुसार मोक्ष जीव और ब्रह्म का स्वरूपैक्य नहीं है अपितु आचार्य रामानुज के अनुसार जीव का ब्रह्म साम्य को प्राप्त होना तथा वल्लभ के अनुसार जीव का ब्रह्मभाव को प्राप्त होना ही मुक्ति है ।

इस प्रकार रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दोनों की ही दृष्टियों में परमसत्ता का स्वरूप शंकराचार्य के निर्गुण निस्संग ब्रह्म की अपेक्षा यथार्थ के ठोस धरातल पर आधारित है । उन्होंने जनसाधारण की पहुँच से परे वर्तमान ईश्वर को श्री नारायण एवं श्रीकृष्ण के रूप में सर्वप्राप्य बना दिया ।

चतुर्थ अध्याय

आलोच्य दर्शनों में माया की अवधारणा

समस्त दार्शनिक विचारधाराओं में माया एक महत्वपूर्ण तत्त्व है । ब्रह्मसूत्रों के आधार पर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सभी दार्शनिकों ने इस तत्त्व पर विचार किया है, भले ही उन्होंने इसे सत्य स्वीकार किया हो अथवा असत्य ।

माया की धारणा अत्यन्त प्राचीन है । ऋग्वेद में माया का उल्लेख इन्द्र की शक्तिरूप में प्राप्त होता है - " इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते "[1] अर्थात् इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूपों को धारण करता है । अधिकांश दार्शनिक प्रस्थानों में माया को ईश्वर की शक्ति माना गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत मतों में मान्य तत्त्वों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की जा रही है । दोनों ही मतावलम्बियों ने एकमात्र "ब्रह्म" की सत्ता स्वीकार की है इसके अतिरिक्त दृश्यमान् सम्पूर्ण प्रपंच का ही प्रकार, परिणाम या अभिव्यक्तिमात्र है । पिछले अध्यायों में दोनों मतों के अनुसार उस परम तत्त्व " ब्रह्म " की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है । सम्प्रति दोनों सम्प्रदायों में माया की स्थिति का तुलनात्मक विवेचन किया जा रहा है ।

- -

1· ऋग्वेद 6/48/18

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य रामानुज ने माया को ब्रह्म की शक्ति मानकर इसे सत्य स्वीकार किया है तथा पूर्ववर्ती आचार्य शंकर के मायावाद का प्रत्याख्यान किया है । अतः खण्डन से पूर्व आचार्य शंकर की माया विषयक मान्यता क्या है अथवा आचार्य के मायावाद की संधारणा क्या है, इसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । फलतः यहाँ शंकराचार्य के मायावाद का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है -

वस्तुतः किसी मतवाद में माया की स्थिति क्या है, यह ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर करता है । सम्बन्ध की भिन्नता के कारण ही निर्विशेष-वादी शंकर तथा सविशेषवादी वैष्णवाचार्यों की मायाविषयक धारणा में अन्तर है ।

निर्विशेषवादी आचार्य शंकर के अनुसार परम तत्त्व सर्वथा निर्विशेष है, उसे विशेषों से युक्त मानना उसके व्यापकत्व को सीमित करना है । वह सर्वातीत, निर्गुण , निष्कल, निरंजन अद्वैत तत्त्व है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की सत्ता ही नहीं है । अतः व्यक्ति को प्रतीयमान यह सम्पूर्ण प्रपंच, उसका व्यवहार तथा सम्बन्ध आदि की व्याख्या तथा ब्रह्म के साथ उसकी अन्विति बैठाने के लिए आचार्य को मायोपाधि की कल्पना करनी पड़ी । इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत मायारूप है, वस्तुरूप में इस माया तथा तज्जन्य जगत या जागतिक व्यवहार का कोई अस्तित्व नहीं है । यह माया भी जिस ब्रह्म की

उपाधि है वह भी निर्विशेष परब्रह्म का एक विकल्पमात्र है, पारमार्थिक दृष्टि से इसकी कोई सत्ता नहीं है । जिस प्रकार रज्जु, अज्ञान या अन्धकार के कारण सर्परूप से प्रतीत होती है उसी प्रकार ब्रह्म भी माया के कारण जीव, जगद्रूप से प्रतीत होता है ।[1] तथा जिस प्रकार रज्जु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सर्पविषयक अज्ञान बाधित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर तद्भिन्न समस्त अज्ञान तथा अज्ञानकर्तृक पदार्थों का भी बाध हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्म और जगत् वस्तुत: एक ही हैं जिनमें से एक यथार्थ सत्ता है तथा दूसरा उसका आभासमात्र है ।[2] अतएव ये दोनों वस्तुत: अलग- अलग नहीं अपितु एक ही हैं । ब्रह्म और जगत को कारण और कार्य भी कहना उचित नहीं है क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम ब्रह्म और जगत् में भेद करते हैं जबकि यथार्थत: दोनों में अभेद है । माया के कारण ही जीव, जगत् की प्रतीति होती है, माया के आवरण के हटते ही ब्रह्म अपने शुद्ध अद्वैत रूप में भासित होने लगता है ।

आचार्य माया की दो शक्तियाँ स्वीकार करते हैं - आवरण और विक्षेप । आवरण शक्ति के द्वारा वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती

---

1. "मायामात्रं ह्येतद् यत परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्जेव सर्पादिभावेन ...." - शांकर भाष्य 2/1/9
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन्, पृ० - 565

है तथा विक्षेप के द्वारा उसमें अन्य रूप की सृष्टि करती है।[1] माया के कारण ही विविध प्रकार के नाम और रूप का विकास होता है जिसका पुंज अथवा कुल-योग यह जगत् अथवा विश्व है।

इस प्रकार शंकराचार्य माया को ब्रह्म स्वरूप का आवरक मानते हैं, उनके अनुसार माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर उसमें जगदादि अनेक नाम रूप विशेषों की उद्भावना कर देती है। आचार्य माया को सत् तो नहीं मानते किन्तु उसे पूर्णतः असत्य भी नहीं कहते अतः माया के लिए वे "अनिर्वचनीय" शब्द का प्रयोग करते हैं।[2]

आचार्य शंकर के इस मत का समस्त वैष्णवाचार्यों ने एक स्वर से खण्डन किया है, जिनमें आचार्य रामानुज अग्रगण्य हैं। इन्होंने शंकर के मायावाद का प्रबल खण्डन किया है जिसे उनके परवर्ती समस्त आचार्यों ने मौनभाव से स्वीकार किया है। आचार्य द्वारा किये गये खण्ड की चर्चा से पूर्व आचार्य की माया के सम्बन्ध में मान्यता क्या है, इसे जान लेना असमीचीन न होगा।

- -

1. वेदान्तसार, सदानन्दयोगीन्द्र, 4

2. "अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति, - वेदान्तसार, सदानन्द।

अस्तित्वशेष रहता है और न ही मायोपहित ब्रह्म तथा मायाजन्य प्रपंच का, तब तो एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है । किन्तु आचार्य रामानुज द्वारा मान्य ब्रह्म का शक्तिमत्व शंकर की तरह औपाधिक अथवा प्रातीतिक नहीं है अपितु स्वाभाविक है अतः रामानुज का ब्रह्म वास्तविक अर्थ में शक्तिमान् है इस प्रकार सत्य ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया का सत्यत्व सहज ही सिद्ध है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि माया ब्रह्म से भिन्न कोई स्वतन्त्र तत्त्व है, माया की सत्यता ब्रह्म की सत्यता से भिन्न और कुछ नहीं है। जिस प्रकार दाहकता अग्नि से अभिन्न है, उसी प्रकार माया शक्ति भी अपने शक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म से स्वतन्त्र उसका कोई अस्तित्व नहीं है, ईश्वर से ही वह अपना अस्तित्व प्राप्त करती है अतएव ईश्वर के अधीन तथा उससे नियमित है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार माया की स्वरूप समीक्षा :

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य की माया की धारणा लगभग एक सी ही है । आचार्य वल्लभ भी माया को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है जिसके द्वारा सृष्टि में आविर्भाव एवं तिरोभाव सम्पादित होता है ।[1] माया ब्रह्म की उपाधि नहीं अपितु उसकी कार्य-

---

1. 'According to Vallabha, Maya is one of the powers of the Lord with which He brings about the manifestation and concealment of the world'.
   - A philosophy of Vallabhacharya - Mridula Marfatia Page-58

करणसामर्थ्यरूपा शक्ति है । अपनी इसी शक्ति द्वारा ईश्वर सम्पूर्ण प्रपंच को अभिव्यक्त करता है । ब्रह्म की यह शक्ति ब्रह्म के अधीन तथा उससे निर्मित व अभिन्न है । ब्रह्म से स्वतन्त्र उसकी कोई सत्ता नहीं है । 'तत्त्वदीपनिबन्ध' में आचार्य कहते हैं कि माया ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति है, वह उसमें अभिन्न होकर उसी तरह स्थित है जिस प्रकार पुरुष की कार्य करने की क्षमता उसमें निहित होती है ।[1] ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया असत् हो ही नहीं सकती क्योंकि माया को असत्य मानने पर उसके शक्तिमान् ब्रह्म को भी असत्य स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार आचार्य वल्लभ भी शंकर की तरह ब्रह्म का शक्तिमत्व औपाधिक न मानकर रामानुज की तरह स्वाभाविक ही स्वीकार करते हैं । वल्लभ मत में ब्रह्म की कोई उपाधि नहीं मानी गयी है अतः उसके धर्मों को औपाधिक मानने का प्रश्न ही नहीं उठता । आचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है अतः ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य किसी भी तत्व की सत्ता न होने से जो कुछ भी है, वह ब्रह्म का रूपान्तरमात्र है । अतः ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया भी उतनी ही सत्य है, जितना कि ब्रह्म। इस प्रकार माया और ब्रह्म में आचार्य वल्लभ भी अभेद सम्बन्ध मानते हैं ।

---

1. "माया हि भगवतो शक्तिः, सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता । यथा पुरुषस्य कर्मकारणादौ सामर्थ्यम् ।। ", तत्त्वदीपनिबन्ध, 1/27, पर प्रकाश ।

वाल्लभमत के अनन्य पोषक, आचार्य श्री के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ब्रह्म की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है -

नैतस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।[1]

प्रस्तुत श्रुति में "परा" शब्द से तात्पर्य है कि ब्रह्म की ये विविध शक्तियाँ आगन्तुकी नहीं अपितु स्वाभाविकी हैं । इनका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता , ये ब्रह्म से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न और ब्रह्म-रूप ही है, अतः इन्हें अविद्याकल्पित मानना सर्वथा अनुचित है ।[2]

इस प्रकार श्री विट्ठलनाथ ने माया के आविद्यक होने का खण्डन किया है।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/8

2. " परा मनोवचसामपीदमपीदमित्यतया ज्ञातुमशक्या विविधा अनेकरूपाः शक्तयः । शक्तिस्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपान्नातिरिच्यते इति ज्ञापनायैकवचनम् । तेन अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वमुक्तं भवति । सापि शक्तिः स्वाभाविकी, नत्वागन्तुकी। ......एवं सति नित्यं वस्तु सदविद्यया कल्पितमिति वक्तुं न शक्यं - विरोधाद" विद्वन्मण्डनम् , पृ० 21।

माया ब्रह्म की शक्ति है, उपाधि नहीं । ब्रह्म मायिक नहीं, अपितु मायाधीश है और अपनी माया शक्ति द्वारा सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होता है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य, ये दोनों ही माया को ब्रह्म की शक्ति;अतएव सत्य स्वीकार करते हैं । वैसे माया का जो स्वरूप रामानुज तथा वल्लभ को मान्य है, वैसा ही आचार्य शंकर भी मानते हैं । दोनों में अन्तर मात्र इतना है कि आचार्य शंकर माया को केवल व्यावहारिक स्तर पर ही स्वीकार करते हैं, पारमार्थिक स्तर पर उसका कोई अस्तित्व नहीं है " जबकि रामानुज और वल्लभ के मतों में व्यवहार और परमार्थ जैसा कोई विभाजन नहीं है, वे दोनों ही आचार्य माया को ईश्वर शक्ति के रूप में परमार्थ सत्य स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ भी रामानुज की तरह शंकर के मायावाद के घोर विरोधी हैं यद्यपि आचार्य शंकराभिमत माया- सिद्धान्त का विरोध करते हैं तथापि उन्होंने मायावाद का खण्डन कहीं योजनाबद्ध रूप से नहीं किया है। वे अपने मत की स्थापना करते समय प्रसंगानुसार शांकरी माया का खण्डन करते चलते हैं । शंकर के मायावाद पर प्रबल प्रहार आचार्य रामानुज ने किया है । उन्होंने माया के खण्डन में सात प्रमुख दोष बताए हैं जिन्हें "सप्तविधानुपपत्ति

- -

1. सर्वाधारं वायमाय मानन्दाकारमुत्तमम् " - त0दी0नि0 1/68

कहते हैं । ये दोष इस प्रकार है - आश्रयानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति और निवृत्यनुपपत्ति ।

रामानुजाचार्य द्वारा मायावाद का खण्डन :

आचार्य रामानुज के अनुसार यह जगत् जिसे हम देखते हैं, अनुभव करते हैं, सत्य है क्योंकि यह ब्रह्म का अंशविशेष है । अतः इसे असत्य या भ्रमात्मक मानना सर्वथा अनुचित है । आचार्य ने शंकर के मायावाद के विरुद्ध अनेक आक्षेप किए हैं जो सप्तविधानुपपत्ति नाम से प्रसिद्ध हैं । इन सात अनुपपत्तियों का विवरण इस प्रकार है :-

§1§ आश्रयानुपपत्ति :-

रामानुज का प्रथम आक्षेप अविद्या के आश्रय पर है । आचार्य के अनुसार जिस अविद्या या अज्ञान से जगत् की उत्पत्ति होती है उसका आधार क्या है अर्थात् वह किसके आश्रय से भ्रमोत्पादन करती है। यदि यह कहा जाय कि जीव के आश्रय से भ्रमोत्पादन करती है तो यह उचित नहीं है क्योंकि जीव-भाव स्वयं ही अविद्या परिकल्पित है । अतः जो कारण है वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है इस प्रकार जीव माया का आश्रय नहीं हो सकता । ब्रह्म को भी उसका आश्रय नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश तथा

ज्ञानस्वरूप है । अज्ञान तो ज्ञान विरोधी तथा ज्ञान द्वारा निवर्त्य है अत: ज्ञान -स्वरूप ब्रह्म में अज्ञानरूपिणी माया कैसे रह सकती है ? इसके अतिरिक्त स्वयं प्रकाश होने के कारण ब्रह्म को आच्छादित किया ही नहीं जा सकता । अत: शांकराभिमत अविद्या या माया का आश्रय न जीव है और न ब्रह्म , इस प्रकार उसका कोई आधार नहीं है । आश्रय के असिद्ध होने से अविद्या स्वयं भी असिद्ध है ।

2) तिरोधानानुपपत्ति :-

आचार्य शंकरनेमाया का कार्य तिरोधान या आच्छादन बताया है । उनका मत है कि अज्ञान ब्रह्म को आच्छादित कर उसमें जीव,जगदादि अनेक रूपों की उद्भावना कर देता है, इस पर आचार्य रामानुज का आक्षेप है कि यदि हम अविद्या में विश्वास करें तो हमें पूर्णज्ञान को आच्छादित मानना पड़ेगा जो कि असम्भव है । ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है और प्रकाश स्वरूप है अत: उसे अज्ञान कैसे आवृत कर सकता है , उसे अविद्या से तिरोहित करना ब्रह्म का स्वरूप नाश मानना है अर्थात् यदि माया ब्रह्म को आवृत कर लेती है, यह माना जाय तो इसका अर्थ हुआ कि ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो गया ।

प्रकाशोत्पत्ति का प्रतिबन्ध ही प्रकाश का तिरोधान है अथवा उसके अस्तित्व का नाश है । प्रकाश की अनुत्पाद्यता तो हो नहीं सकती इसलिए प्रकाश

तिरोधान का अर्थ प्रकाश नाश ही होगा ।[1] इसी को डा० आशमा सेन गुप्ता इस तरह स्पष्ट करती हैं कि आवृत्त होने के दो अर्थ है - एक तो ज्ञान की उत्पत्ति को रोकना और दूसरा ज्ञान का विनाश करना ; किन्तु शुद्ध ज्ञान किसी का कार्य नहीं है या शुद्ध ज्ञान उत्पाद्य नहीं है अत: उसका विनाश नहीं हो सकता । वह तो नित्य है अत: स्वयं प्रकाश और ज्ञानरूप ब्रह्म कैसे आवृत होता है, यह सिद्ध ही नहीं किया जा सकता ।

§3§ स्वरूपानुपपत्ति :-

तीसरा आक्षेप माया के स्वरूप पर है । रामानुज कहते हैं कि अविद्या का स्वरूप क्या है, वह सत् है या असत्, या सदसत् है अथवा अनुभय है ? यदि वह सत् है तो अविद्या कैसे हो सकती है क्योंकि विद्या का अभाव ही अविद्या है, इसके अतिरिक्त अविद्या को सत् मानने पर ब्रह्म और अविद्या दो सत्य हो जायेंगे । और इस प्रकार अद्वैतत्व की क्षति होगी । पुनश्च भावरूप अविद्या का नाश भी नहीं हो सकेगा, अद्वैती स्वयं मानता है कि अविद्या ज्ञान से नष्ट हो जाती है अत: वह सत् या भावरूप नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त अविद्या को असत्य जगत् का असत्य कारण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर असत्य से असत्य

---

1. (i) अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता, स्वरूपनाश एवोक्त: स्यात्, प्रकाश तिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्ति प्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा । प्रकाशस्य अनुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाश तिरोधानं प्रकाशनाश एवं ।" श्रीभाष्य 1/1/1 पृ० 148

(ii) शेषांश अगले पृष्ठ पर

के जन्म का क्रम चलता ही रहेगा फलत: अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी ।
पुनश्च अविद्या सदसत् या भावाभाव रूप नहीं हो सकती क्योंकि सत् और असत्
प्रकाश और अन्धकार के समान एक साथ नहीं रह सकते और उसे अनुभय मानना
स्वव्याघाती है ।

यदि यह माने कि माया ब्रह्म से प्रकट होती है तो भी स्थिति स्पष्ट
नहीं होती क्योंकि ब्रह्म नित्य है अत: ब्रह्म से उत्पत्ति मानने पर अविद्या भी
नित्य होगी और नित्य होने से उसका ज्ञान जीवों को होता रहेगा । चूंकि
अविद्या कभी समाप्त नहीं होगी इसलिए जीवों की कभी मुक्ति नहीं होगी ।

4. <u>अनिर्वचनीयानुपपत्ति :-</u>

चौथा आक्षेप शांकर माया के अनिर्वचनीयत्व पर है । शंकर कहते हैं कि
माया सत्, असत् से विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय है । किन्तु यह असम्भव है माया या
अविद्या को अनिर्वचनीय कहना भी उसका निर्वचन करना है और यह विरोध युक्त
है, क्योंकि संसार के समस्त पदार्थ प्रतीति के आधार पर ही निर्धारित होते हैं।

---

1. "...Obscuration means two things: firstly contraction of a barrier preventing origination of knowledge and secondly destruction of knowledge, But pure knowledge is not a product and so it is not also liable to destruction--- How or why self revealing pure consciousness makes itself obscure by 'avidya' is an insoluble riddle of the Shankar Vedant.

- A Critical Study of the Philosophy of Ramanuja-Anima

सभी पदार्थ सद् या असद् रूप में ही जाने जाते हैं, सदसद् विलक्षण किसी वस्तु का अनुभव नहीं किया जा सकता[1] और यदि इस तरह की कोई चीज प्रमाणित नहीं की जा सकती तो स्पष्ट है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। यदि कहा जाय कि अनिर्वचनीय वस्तु भी ज्ञान का विषय हो सकती है तो फिर सभी वस्तुओं में, जिनका अस्तित्व भी नहीं है, उनमें भी ज्ञान विषयता की प्रसक्ति होने लगेगी अर्थात् यदि सदसद् आकार वाली सदसद् विलक्षण वस्तु को ही प्रमाणित करने लगेगी तो कोई भी वस्तु प्रतीति का विषय ही नहीं रह जायेगी। अतः यह विरोधयुक्त कल्पना है।

§5§ प्रमाणानुपपत्ति :-

पाँचवाँ आक्षेप माया की प्रामाणिकता पर है। अनिर्वचनीय वस्तु का किसी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता। रामानुज का कथन है कि माया का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। सदसद्विलक्षण होने से उसका प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान तो किसी वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व का ही होता है, भावाभावविलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता। अनुमान प्रमाण

1· ",सर्वं हि वस्तुना तं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम्। सर्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा। सदसदाकारायास्तु प्रतीतेः सदसद्विलक्षणं विषय इत्यभ्युपगम्यमाने सर्वं सर्व प्रतीतेर्विषयस्यात्।" - श्री भाष्य 1/1/1 पृ० 148

से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता, अनुमान प्रमाण के लिए लिंग,ज्ञान और व्याप्ति की आवश्यकता होती है । इस अनिर्वचनीय" वस्तु का कोई लिंग और व्याप्ति नहीं बन सकती, व्याप्ति के अभाव में व्याप्य व्यापक भाव नहीं बन पाता अतः इसका अनुमान भी नहीं हो सकता । शास्त्रों के द्वारा भी अनिर्वचनीया माया की सिद्धि नहीं होती क्योंकि शास्त्र तो उसे सत्य जगत की सृष्टि करने वाली ईश्वर की शक्ति बताते हैं अतः अनिर्वचनीय माया प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती ।

6) निवर्तकानुपपत्ति :-

अद्वैत मत के अनुसार निर्विकार और निर्गुण ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या का निवारण होता है किन्तु ऐसा ज्ञान सम्भव नहीं है । ज्ञान सदैव भेद का ज्ञान कराता है तथा ज्ञान की एक सीमा होती है जबकि ब्रह्म सीमा रहित है अतः उसका पूर्णज्ञान तो हो नहीं सकता इसके अतिरिक्त जो निर्गुण निराकार है उसका ज्ञान कैसे सम्भव है , फलतः अविद्या का निराकरण भी सम्भव नहीं है ।

7) निवृत्यनुपपत्ति :

रामानुज का यह आक्षेप शंकर के मुक्ति सिद्धान्त के विरुद्ध है । अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान नहीं है बल्कि वह ज्ञान है जो स्वयं ब्रह्म रूप है । यह शुद्ध ज्ञान है और सत्ता के ज्ञान से भिन्न है जिसे निर्विषय ज्ञान कहते हैं ।

रामानुज के अनुसार यह निर्वर्तक ज्ञान ब्रह्म से भिन्न होने के कारण अविद्या का ही एक रूप माना जाना चाहिए क्योंकि ब्रह्म से भिन्न प्रत्येक वस्तु अविद्या के क्षेत्र में आ जाती है । अद्वैतवाद के अनुसार निवर्तक ज्ञान अविद्या का नाश करता है । तदुपरान्त स्वयं को नष्ट कर देता है । शंकराचार्य इस तथ्य को एक लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं जैसे जंगल की अग्नि जंगल को जलाकर नष्ट कर देती है और फिर स्वयं भी नष्ट हो जाती है । परन्तु रामानुज को यह मत मान्य नहीं है । क्योंकि यह सामान्य अनुभव है कि अग्नि स्वयं बुझने पर भी राख छोड़ जाती है अतः यदि मान लें कि अविद्या ज्ञानाग्नि से जल जाती है तो हमें मानना पड़ेगा कि अविद्या के नष्ट होने के पश्चात् भी . उसका कोई अंश अवशिष्ट रहता है अतः किसी भी रूप में अविद्या के रहने पर पूर्णतः मुक्ति असम्भव है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज ने सभी दृष्टियों से शंकर के मायावाद का खण्डन किया है । सम्भवतः इसीलिए आचार्य वल्लभ शंकर की मायाविषयक मान्यता के घोर विरोधी होने पर भी उनके खण्डन में उतने तत्पर नहीं दिखाई देते जितने कि आचार्य रामानुज । आचार्य वल्लभ ने रामानुजाचार्य की तरह शंकर के माया सिद्धान्त का खण्डन कहीं योजनाबद्ध रूप से नहीं किया है अपितु ब्रह्म जीव और सृष्टि का वर्णन करते हुए जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ी, वहीं शांकरी माया के विरुद्ध अपने विचार प्रस्तुत कर दिये । वैसे भी आचार्य वल्लभ परमत खण्डन की अपेक्षा स्वमत -स्थापन में अधिक प्रवृत्त दिखाई देते हैं । माया के खण्डन में आचार्य श्री के पुत्र

भी विट्ठल नाथ अधिक प्रवृत्त दिखाई देते हैं किन्तु उन्होंने भी मायावाद का खण्डन अन्यान्य सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में ही किया है ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार मायावाद का खण्डन :

वल्लभाचार्य ने माया के उपाधिरूपत्व का तीव्र विरोध किया है । शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं की गयी है उनके अनुसार माया को उपाधि मानने के कारण ही शांकर मत में अनेक विसंगतियाँ हैं ।

शुद्धाद्वैत मत में माया का खण्डन तीन प्रमुख बिन्दुओं पर विशेषतः किया गया है -

1) माया का अनादित्व ।

2) माया का अनिर्वचनीयत्व, तथा

3) माया का आश्रय ।

आचार्य वल्लभ ने मायोपाधि के अनादित्व का घोर खण्डन किया है । उनके अनुसार मायोपाधि को अनादि स्वीकार करने पर "अद्वितीय" आदि श्रुतियों से विरोध होगा । भाष्यप्रकाशकार पुरुषोत्तम ने भी अनेक स्थलों पर माया के अनादित्व का खण्डन किया है । उनके अनुसार ब्रह्म की उपाधि माया को अनादि मानने पर "सदेवसोम्येदमग्रआसीदेकमेवाऽद्वितीयम " श्रुति से विरोध होगा । प्रस्तुत श्रुति ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता का निर्धारण करती है अतः मायोपाधि के वर्तमान

रहने पर ब्रह्म का यह अद्वैतत्व उपपन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि उपाधि ब्रह्मात्मक नहीं है और संसार की कारण भूता अविद्या के रहने पर जीवों की स्थिति भी सदैव बनी रहेगी।[1]

आचार्य विट्ठल ने भी माया के अनादित्व का खण्डन किया है, उनके अनुसार मायावाद में संकल्पविशिष्ट मायोपहित ब्रह्म ही कारण माना जाता है। अत: यदि मायोपाधि को अनादि स्वीकार किया जाय तो ब्रह्म और उपाधि दोनों के अनादि होने पर सदैव सृष्टि ही होती रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं अत: मायोपाधि को अनादि मानना सर्वथा तर्क विरुद्ध है।

मायावाद में ब्रह्म और उपाधि के सम्बन्ध को ही जीवभाव का कारण माना गया है अर्थात् मायावाद के अनुसार ब्रह्म ही मायोपाधि से युक्त होकर जीवों की सृष्टि करता है अत: यदि उपाधि को अनादि स्वीकार किया जाय तो ब्रह्म से उसका सम्बन्ध भी अनादि होगा अत: ब्रह्म और उपाधि सम्बन्ध के जीव भाव का कारण होने से जीव भाव को भी अनादि मानना पड़ेगा जबकि जीवभाव अनादि नहीं है। श्रीमद्भागवत में "बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिः" श्रुति में

---

1. ..... तथा सतीश्वरस्यानीशत्वं, सदैव सोम्येदमग्राऽसीदेकमेवाद्वितीयामिति श्रुतिविरोधश्च। संसारहेतुभूताया अविद्याया जीवानां च सत्वाव इ......।

अनुभाष्य 2/3/18 पर भाष्यप्रकाश।

जो अनादित्व का कथन है वह घट-पटादि की अपेक्षा से है, अनादि का तात्पर्य यहाँ प्राचीन से है अर्थात् घट-पटादि लौकिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक कालावस्थायी होने के कारण ही इसे यहाँ अनादि कहा गया है वस्तुतः यह अनादि नहीं है ।[1]

इस प्रकार विट्ठल ने मायोपाधि के अनादित्व का अनेकशः खण्डन किया है ।

माया की अनिर्वचनीयता ही, शांकरमत की सबसे बड़ी अनुपपत्ति है तथा समस्त वैष्णवाचार्यों के विरोध का मुख्य बिन्दु है । आचार्य वल्लभ ने भी माया की अनिर्वचनीयता को अस्वीकार किया है किन्तु इसके खण्डन में वे विशेष प्रयत्नशील नहीं दिखायी देते हैं । भाष्यप्रकाशकार ने अवश्य माया की अनिर्वचनीयता के विरुद्ध आक्षेप उठाये हैं । रामानुजाचार्य की ही तरह भाष्यप्रकाशकार भी कहते हैं कि माया को सत् मानने पर अद्वैतत्व की हानि होती है तथा असत् मानने पर संसार की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती क्योंकि असत् माया से संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि उसे सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय तत्त्व माना जाय तो ब्रह्म और उसकी उपाधि में भेद ही नहीं रह जायेगा क्योंकि सदसत् से विलक्षण तो केवल ब्रह्म ही है ।

- -

1. द्रष्टव्य विद्वन्मण्डनम् , पृ० - 68

भ्रम उत्पन्न करने वाली माया को यदि अनिर्वचनीय स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उसका आश्रय सिद्ध नहीं किया जा सकता । माया को निराश्रया बताते हुए आचार्य विट्ठल कहते हैं कि यदि सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय माया का अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि इसका आश्रय कौन है ? जीव तो अविद्या का आश्रय हो ही नहीं सकता क्योंकि जीव स्वयं ही अविद्या कार्य है, ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं प्रकाश ब्रह्म ज्ञान रूप होने के कारण स्वभावतया अज्ञान विरोधी है, अतः ब्रह्म को भी अविद्या का आश्रय नहीं माना जा सकता ।[1] इसके अतिरिक्त मायावाद के अनुसार अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्ध से ही जीवभाव होता है इस पर विट्ठल की आपत्ति यह है कि शुद्ध ब्रह्म में अविद्या सम्बन्ध स्वीकार करने पर तो ब्रह्म भी जीव ही हो जायेगा । यह भी नहीं सम्भव है कि अविद्या का सम्बन्ध ब्रह्म के किसी अंश में हो और किसी में न हो क्योंकि ऐसा मानने पर दो आपत्तियाँ हैं - एक तो ब्रह्म निरवयव है अतः उसमें अंशत्व की कल्पना ही असंगत है तथा दूसरी यह कि अविद्या के भी व्यापक परिमाण वाली होने के कारण ब्रह्म के एकांश से उसका सम्बन्ध भी असम्भव है । अतः हर स्थिति में ही अविद्या और ब्रह्म के अनादि सम्बन्ध को

- -

1. अविद्यासम्बन्धाद् ब्रह्मणोऽनेकवदाभासः कस्येति विचारणीयम् । न तावद् ब्रह्मणः तत्र भ्रमायोगात् । नापि जीवस्य, तादृशावभासविषयत्वात् ।.....।

विद्वन्मण्डनम् , पृ० 66

स्वीकार करने पर ब्रह्म अविद्यागत दोषों से मुक्त नहीं रह पायेगा ।[1]

आचार्य ने माया के दो रूप बताये हैं - एक तो जगत् की सृष्टि में करणभूत ब्रह्म की कार्यकरणात्मिका शक्ति तथा दूसरी व्यामोहिका माया, जो जीव का व्यामोहन करती है तथा बन्धन का कारण है । व्यामोहिका माया को ही आचार्य अविद्या कहते हैं । इस प्रकार आचार्य शंकर जहाँ माया, अविद्या और अज्ञान को समानार्थक मानते हैं, आचार्य वल्लभ माया और अविद्या में भेद करते हैं । वल्लभ के अनुसार अविद्या भी यद्यपि भगवान की शक्ति है तथापि यह माया द्वारा नियमित तथा माया के अधीन है इसीलिए आचार्य ने इसे कहीं - कहीं माया का कार्य भी कहा है । श्रीमद्भागवत में भगवान् की शक्तियों में इसकी भी गणना की गयी है -

> श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
>
> विद्याऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ।।

जिस प्रकार माया प्रपंच की करणभूता है उसी प्रकार अविद्या संसार की करणभूता है । आचार्य शंकर और रामानुज जगत् और संसार को समानार्थक स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य वल्लभ जगत् और संसार को भिन्न - भिन्न स्वीकार करते हैं । जगत् और संसार का यह भेद आचार्य वल्लभ की मौलिक धारणा है । जगत् भगवत्कार्य है फलतः सत्य है किन्तु जगत् में जो जीवन की

---

1. दृष्टव्य विद्वन्मण्डनम्, पृ0 - 72

"अहं प्रतीति " है वही"संसार " कही जाती है तथा यह जीव की अविद्या से जन्य होने के कारण असत्य है । वस्तुतः तो अविद्या भी ब्रह्म की शक्ति है किन्तु ब्रह्म के जीव रूप से घनिष्टतमेव सम्बन्ध होने के कारण जीव की कही जाती है ।[1]

आचार्य के अनुसार ये अविद्या पाँच पर्वों वाली है । ये पर्व हैं :- अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास और स्वरूप विस्मरण ।

माया से महत् की उत्पत्ति होती है और महत् से अहंकार की । महत् और अहंकार अन्तःकरण कहे जाते हैं अतः सर्वप्रथम अन्तःकरणाध्यास होता है । "अहं" का ही रूपान्तर प्राण है , अतः अन्तःकरणाध्यास के बाद प्राणाध्यास होता है , तदनन्तर इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है अतः प्राणाध्यास के बाद इन्द्रियाध्यास होता है । सबसे बाद में भूतों की उत्पत्ति होती है और देह के भौतिक होने के कारण सबसे बाद में देहाध्यास होता है, इस प्रकार चतुर्विध अध्यास होने पर स्वरूप विस्मरण होताहै और इस प्रकार पंचपर्वा अविद्या द्वारा पूर्णतः ग्रस्त होने पर जीव देहादि के धर्मों से बद्ध होकर जन्म- मृत्यु के आवर्त्त में फँसकर अनेक दुःखों का भागी बनता है ।

---

1. अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य माया कृष्णस्य । - त०दी०नि० 2/120

2. स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियास्वः।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्द्धाध्यास: उच्यते ।।
पंचपर्वा तु अविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम् । त०दी०नि० 1/32

ये पाँच पर्व ही अविद्या का स्वरूप हैं, इस प्रकार अविद्या भ्रमात्मिका है।

अविद्याग्रस्त जीव को जो भ्रम होता है उसे आचार्य "विषयता" की संज्ञा देते हैं। अविद्या जीव को व्यामोहित करके उसकी बुद्धि में सद्वस्तु सदृश मायिक पदार्थों की सृष्टि करके सद्वस्तु में प्रक्षिप्त कर देती है। जिससे जीव को वस्तु का भ्रमात्मक ज्ञान होता है। इस प्रकार पदार्थ अन्यथा न होने पर भी मायाजन्य विषयता के कारण अन्यथा से प्रतीत होते हैं।

यह विषयता जीव की बुद्धि में रहती है तथा जगत् के समान आकार वाली होती है। वस्तुतः यह जगत् से भिन्न होने पर भी अभिन्न सी प्रतीत होती है।

पुरुषोत्तम महाराज विषयता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं -

"काचिद्विषयता विषयासम्बद्धोऽपि सम्बद्धत्वेन भासमानः कश्चित्पदार्थः स्वीकर्तव्यः अर्थात् विषयता विषय से असम्बद्ध होने पर भी सम्बद्ध सा प्रतीत होने वाला कोई पदार्थ है।

- -

1. श्रीमद्भागवत, 2/9/33, सुबो0 पृ0

यह विषयता दो प्रकार की होती है - "आच्छादिका" और अन्यथा-प्रतीतिजनक। इनमें से प्रथम जगत् के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर देती है तथा द्वितीय उस पर ब्रह्मभिन्नधर्मों का आरोप कर देती है। इस द्विविध विषयता के कारण पदार्थ ब्रह्मभिन्न न होने पर भी ब्रह्मभिन्न प्रतीत होते हैं। विषयता के ये प्रकार शांकरी माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों जैसे ही हैं।

इस अविद्या की निवृत्ति विद्या द्वारा होती है। विद्या भी ब्रह्म की शक्ति है।[1] किन्तु जीव रूप से घनिष्ट रूपेण सम्बद्ध होने के कारण जीव की कही जाती है। विद्या और अविद्या ये दोनों माया कार्य कही जाती हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है।[2] अन्तःकरण देह, इन्द्रिय और प्राण समस्त अध्यास समाप्त हो जाते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि अध्यास की ही समाप्ति होती है, देहादि की नहीं।

अविद्या की ही भाँति विद्या के भी पाँच पर्व हैं जो कि इसके साधन -स्वरूप हैं - सर्वप्रथम विषयों से वैराग्य तत्पश्चात् नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक सर्वपरित्याग तदनन्तर अष्टांयोग साधन और फिर विचारपूर्वक तत्त्वावलोचन

1· विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते। - तत्त्वदीपनि० 1/31

2· विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति।
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि
तथापि न्यूलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम्॥ तत्त्वदीपनि० 1/34-35

और अन्त में निरन्तर चिन्तन पूर्वक ईश्वर में अतिशय प्रेम। इस प्रकार साधना -नुष्ठान से विद्या पूर्ण होकर अविद्या का नाश करती है और परिणामत: जीव को मुक्ति प्रदान करती है , किन्तु विद्या द्वारा जीव को परम मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जब तक अविद्या का कारण माया की निवृत्ति नहीं होगी तब तक आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। कार्य का सर्वथा नाश समवायिकारण के नाश से ही हो सकता है। तथा विद्या, माया की निवृत्ति में समर्थ नहीं है क्योंकि विद्या भी माया का ही कार्य तथा माया के अधीन है। अत: माया की स्थिति बनी रहने पर अविद्या का पूर्णनाश सम्भव नहीं है, अपने कारण माया में उसकी स्थिति सूक्ष्म रूप से बनी ही रहेगी। अत: विद्या द्वारा केवल जन्ममरणाभाव रूप मोक्ष की ही प्राप्ति होती है। गीता में भगवान् ने भक्ति द्वारा माया की निवृत्ति का निर्देश किया है - " मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"[1] इस प्रकार भक्ति द्वारा माया की निवृत्ति होने पर उसकी कार्यभूत विद्या, अविद्या की भी निवृत्ति हो जाती है और तभी सार्वकालिक और आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

1. गीता 7/14

इस प्रकार आचार्य भक्तिकृत मोक्ष और विद्याकृत मोक्ष में भेद स्वीकार करते हैं जो कि वैष्णवों की ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करने की प्रवृत्ति के अनुकूल है ।

इस प्रकार वल्लभ को स्वीकृत अविद्या की धारणा शंकर की अविद्या की धारणा के पर्याप्त निकट है । शंकर की माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों के समान ही वल्लभ को मान्य आच्छादिका और अन्यथाप्रतीतिजनक विरूपता है । दोनों की अविद्या सम्बन्धी धारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि शांकर अविद्या अध्यासरूपा है जबकि वाल्लभ अविद्या अध्यास की जनक है तथा शांकर अविद्या मिथ्या है जबकि वल्लभ को मान्य अविद्या ब्रह्म की शक्ति होने के कारण सत्य है ।

इस प्रकार शंकर और वल्लभ को स्वीकृत अविद्या में तो पर्याप्त समानताएं हैं किन्तु रामानुज को स्वीकृत अविद्या वाल्लभ अविद्या से पर्याप्त भिन्न है । रामानुज माया और अविद्या को समानार्थक स्वीकार करते हैं उन्हें अविद्या का वह अर्थ स्वीकार नहीं है जो वल्लभ को मान्य है । वल्लभ जिसे अविद्या कहते हैं उसे रामानुज अज्ञान और भ्रम की संज्ञा देते हैं । अज्ञान से ग्रस्त जीव ब्रह्मात्मक पदार्थों में ब्रह्मभिन्न बुद्धि स्थापित कर संसारी बनता है तथा अनेक कष्टों का भोग करता है ।

आचार्य रामानुज प्रकृति को भी माया की ही एक स्थिति मानते हैं वस्तुतः उनके मत में माया और प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं है । सामान्यतः प्रकृति और माया एक ही पदार्थ की दो संज्ञाएं हैं । प्रकृति की विचित्र सर्गशीलता के कारण उसे ही माया कहते हैं । रामानुज मत में प्रकृति सृष्टि का उपादान कारण है ।

आचार्य वल्लभ ने भी प्रकृति की स्थिति स्वीकार की है किन्तु उनके मत में प्रकृति की भूमिका नगण्य सी है । जिस प्रकार सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म ही अक्षर कहलाता है उसी प्रकार प्रकृति भी माया की ही एक स्थिति-विशेष है । इसे आचार्य ने ब्रह्म के अक्षर रूप की शक्ति स्वीकार किया है किन्तु आचार्य के मत में इसका महत्व रामानुज दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त कम या यूँ कहिए कि न के बराबर है ।

निष्कर्ष :

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ के माया सम्बन्धी विचारों की समीक्षा के पश्चात् निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि सविशेषवस्तुवादी आचार्य होने के कारण सामान्यतः दोनों आचार्यों की माया सम्बन्धी धारणा लगभग एक सी है ।

दोनों आचार्य माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं अतः ब्रह्मात्मक होने के कारण माया भी सत्य है । माया को असत्य मानने पर ब्रह्म में भी

असत्यत्व की प्रसक्ति होगी क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद सम्बन्ध होता है अत: माया और ब्रह्म में भी अभेद है ।

यहाँ ध्यातव्य है कि माया को सत्य स्वीकार करने का यह अभिप्राय नहीं है कि माया ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र तत्व है । माया की सत्यता ब्रह्म की सत्यता से भिन्न नहीं है । माया ब्रह्म द्वारा नियमित और संचालित है।

आचार्य रामानुज के अनुसार यह विचित्र कार्य करने वाली होने के कारण "माया" कहलाती है ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार यह ईश्वर की कार्यकरणसामर्थ्य है तथा यह ब्रह्म में उसी प्रकार निहित रहती है जिस प्रकार पुरुष में उसकी कार्य करने की क्षमता ।

आचार्य शंकर माया को ब्रह्म की उपाधि मानते हैं । मायोपाधि से युक्त होकर ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है किन्तु आचार्य रामानुज और वल्लभ माया को उपाधि नहीं मानते हैं अपितु ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं । न सिर्फ रामानुज और वल्लभ ने, अपितु समस्त वैष्णवाचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन किया है जिनमें रामानुज का खण्डन सर्वाधिक महत्वपूर्ण व युक्ति एवं तर्कपूर्ण है । उन्होंने मायावाद के खण्डन में सात आक्षेप उठाये हैं जो इस प्रकार

है - आश्रयानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति और निवृत्यनुपपत्ति ।

आचार्य वल्लभ को भी शंकर का मायावाद मान्य नहीं है किन्तु उनकी प्रवृत्ति परमतखण्डन की अपेक्षा स्वपक्षस्थापन की अधिक है अतः उन्होंने रामानुज की तरह सुनियोजित ढंग से तो नहीं किन्तु यत्र-तत्र प्रसंगानुसार मायावाद का खण्डन किया है । उनके खण्डन की प्रमुख दिशायें हैं - माया का अनादित्व तथा आश्रयानुपपत्ति ।

आचार्य रामानुज ने शांकर माया के खण्डन के अतिरिक्त माया के विषय में कुछ नहीं कहा है वस्तुतः उनकी माया सम्बन्धी सम्पूर्ण धारणा मायावाद के खण्डन में ही समाविष्ट हो गयी है ।

रामानुज और वल्लभ में जो भेद दिखाई देता है वह अविद्या सम्बन्धी धारणा को लेकर है । रामानुज माया और अविद्या में भेद नहीं करते जबकि वल्लभ माया और अविद्या को भिन्नार्थक मानते हैं । माया प्रपंच की कारणभूता है जबकि अविद्या जगत में होने वाला विपरीत ज्ञान है । वल्लभ जिसे अविद्या कहते हैं रामानुज उसे अज्ञान की संज्ञा देते हैं ।

वल्लभ माया की तरह विद्या और अविद्या को भी ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं। अविद्या यद्यपि भ्रमात्मिका है किन्तु स्वयं भ्रम या मिथ्या नहीं है। ब्रह्म की शक्ति होने के कारण यह सत्य है यही शांकर अविद्या और वाल्लभ अविद्या में मौलिक अन्तर है। विद्या और अविद्या पाँच पर्वों वाली है, अविद्या के पाँच पर्व अध्यासरूप हैं, विद्या के पर्व उसके साधन रूप हैं। विद्या से अविद्या का उपशम होता है तथा जन्ममरणाभावरूप मोक्ष होता है। आत्यन्तिक मोक्ष तो माया की निवृत्ति के अनन्तर ही होता है। माया की निवृत्ति एक मात्र भक्ति द्वारा ही होती है। इस विषय में रामानुज और वल्लभ एकमत हैं। दोनों ही माया को भक्तिनिवर्त्यस्वीकार करते हैं।

रामानुज और वल्लभ में एक वैषम्य प्रकृति की धारणा में भी है। रामानुज मत में प्रकृति की स्थिति वल्लभ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। प्रकृति ही विचित्रार्थ सर्गकरी होने के कारण माया कहलाती है तथा यह सृष्टि की उपादान कारणभूता है। वल्लभ ने प्रकृति को स्वीकार तो किया है किन्तु प्रकृति का स्वरूप उनके मत में बहुत स्पष्ट नहीं है, न ही उसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका है। अक्षर ब्रह्म की शक्ति के रूप में उसका उल्लेखमात्र हुआ है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि माया सम्बन्धी धारणा में दोनों आचार्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है या यह भी कह सकते हैं कि अन्तर न के बराबर है । जो थोड़ा बहुत अन्तर है वह उसकी अभिव्यक्ति में है, उससे उनके सिद्धान्तभित्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । माया के सत्त्व के विषय में दोनों आचार्य एकमत हैं ।

xxxxxxxxx

पंचम अध्याय

आलोच्य दर्शनों में जीव विचार

दार्शनिक विचारणा का दूसरा प्रमुख तत्व जीव है । समस्त अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार्य है । इसके अतिरिक्त जो कुछ भी दृष्टि-गोचर होता है, वह ब्रह्म का ही रूप या परिणाम है । सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म ही जीव जगद्रूप से परिणमित होता है । इस प्रकार जीव,जगत् भी ब्रह्मात्मक हैं । कुछ आचार्य जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब या आभास मानकर असत्य स्वीकार करते हैं, कुछ जीव को ब्रह्म का कार्य या परिणाम मानकर सत्य स्वीकार करते हैं, किन्तु जीव का अस्तित्व सभी को मान्य है ।

आचार्य शंकर जीव को ब्रह्म का अन्यथारूप या विवर्त[1] मानते हैं जिसकी प्रतीति अज्ञान के कारण होती है अतः अज्ञानजन्य होने के कारण वे जीव-भाव को व्यावहारिक सत्यमात्र मानते हैं । उनके अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है - " जीवो ब्रह्मैव नापरः"। मायोपाधि के कारण ब्रह्म ही जीवरूप से प्रतीत होता है । शंकर जीव को निरवयव मानते हैं, वे उसे ब्रह्म का अंश नहीं मानते अपितु अंश को " अंश इव " के रूप में स्वीकार करते हैं तथा जीव को परिच्छिन्न और विभु मानते हैं ।

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य न तो जीव को असत्य मानते हैं और न ही औपाधिक । वे जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं अतः उनके अनुसार ब्रह्मांश होने के कारण जीव भी ब्रह्म की भाँति सत्य है । " नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव" ब्रह्म के स्वरूप में किसी उपाधि के लिए स्थान नहीं है । अब अंश विवर-

- -

1. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त्त इति उदाहृतः "
   = वेदान्तसार ,सदानन्द ।

रूप में रमण करने की इच्छा करता है तब स्वयं ही अपने गुणों द्वारा जीवरूप से प्रकट होता है इस प्रकार जीवभाव औपाधिक नहीं, अपितु सहज और स्वाभाविक है ।[1]

विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत दोनों ही सम्प्रदाय ब्रह्म की ही एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं । वह अविभाज्य होते हुए भी विरुद्ध धर्मों का आश्रय होने के कारण अनेक रूप धारण करता है । ब्रह्म की " एक से अनेक होने की इच्छा " ही सृष्टि का कारण बनती है । " एकोऽहं बहुस्याम् " इस प्रकार की इच्छा होने पर स्वयं ब्रह्म ही अपने धर्मों द्वारा जीवरूप से प्रकट होता है ।

आचार्य रामानुज के मत में चित्, अचित् और ईश्वर ये मूल तत्त्व हैं ।चित् और अचित् ईश्वर के विशेषण हैं अतः इन दोनों से विशिष्ट ईश्वर का अद्वैत विशिष्टाद्वैत कहलाता है । चित् तत्त्व जीवात्मा है, यह देवादि देह से विलक्षण, नित्य, अणु, स्वप्रकाश, ज्ञानमात्रस्वरूप है ।[2] रामानुज चिदचिद् को ईश्वर का 'शरीर' मानते हैं, अत : ब्रह्म का शरीर होने के कारण जीव भी ब्रह्म की भाँति सत्य है । श्रीरामानुज यद्यपि चिदचिद् की ईश्वर से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार ये दोनों अपने समस्त कार्य-कलाप के लिए ईश्वर के अधीन हैं, ईश्वर ही इनके समस्त कर्मों का नियामक है । ईश्वर से भिन्न इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।

1· आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन,

- डा० राजलक्ष्मी वर्मा

2· आत्मस्वरूपं तु देवादिदेहविलक्षणं ज्ञानैकाकारम्, तच्च परशेषैकस्वरूपम् "

- वेदार्थ संग्रह पृ० - 349

" जीव को हम मूलत: ज्ञान के रूप में परिभाषित कर सकते हैं और यह मूलस्वभाव सभी जीवों में समाविष्ट है ।[1]

रामानुज के अनुसार जीव चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का चिदंश है । "चैतन्य" आत्मा का गुण है तथा प्रत्येक स्थिति में उसमें विद्यमान रहता है । अद्वैत वेदान्ती भी "ज्ञान " को आत्मा का स्वरूप मानते हैं किन्तु रामानुज ज्ञान को आत्मा का स्वरूप न मानकर उसका स्वरूपनिर्धारक धर्म स्वीकार करते हैं । सुषुप्ति में भी " अहं प्रतीति " विद्यमान रहती है । इसी 'अहं' (मैं) शब्द द्वारा सूचित होने वाले पदार्थ को रामानुज आत्मा कहते हैं ।[2]

जीव के गुणों का वर्णन करते समय विशिष्टाद्वैती ने जीव की पृथकता उन सभी चीजों से प्रकट करने का प्रयास किया है जिनसे सामान्यतया उसे एक माना जाता है । आचार्य के अनुसार जीवात्मा देह, बाह्येन्द्रिय, मन, प्राण और केवल ज्ञान से भिन्न है ।[3] अत: अब क्रमश: इनसे भेद प्रदर्शित करते हुए आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करेंगे -

<u>जीव का शरीर से भेद :</u>

शरीर आत्मा से भिन्न है । यहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग सर्वत्र जीव

- -

1. Nature and Desting of Soul in Indian-Philosophy
   -G. Sundara Ramaiah

2. स्वरूपेण एव अहमर्थ: आत्मा । मुक्तो अपि अहमर्थ: प्रकाशते । -श्रीभाष्य 1/1/1

3. देहेन्द्रियमन: प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधन: ।
   नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रं आत्मा भिन्न: स्वत: सुखी ।।
   - आत्मसिद्धि पृ० 5, श्रीभाष्य 1/1/1 में उद्धृत

के लिए हुआ है । आत्मा की सदैव अहम् रूप से -'मैं' इस प्रकार की प्रतीति होती है जबकि देहादि की " यह देह है " आदि में 'इदम रूप' से|अतः " अहंकारगोचर " आत्मा " इदंकारगोचर " देहादि से भिन्न सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त शरीरादि " यह मेरा शरीर है " इत्यादि रूप से आत्माश्रित प्रतीत होते हैं और आत्मा उनके आश्रय रूप से, इसलिए आत्मा देहादि से भिन्न सिद्ध होता है । जनन्मरणशील होने के कारण देहादि की कभी उपलब्धि होती है और कभी नहीं होती जबकि नित्य होने के कारण आत्मा की उपलब्धि सदा होती है, इससे भी आत्मा शरीरादि से विलक्षण सिद्ध होता है । शरीर कई अंगों का एक संगठित रूप है । यदि कहा जाय कि शरीर और आत्मा एक हैं तो प्रश्न होता है कि चेतनता शरीर के सभी अंगों में है या एक अंग में ? यदि सभी अंगों में मानें तो एक ही समय में अनेक विचार होंगे, जो कि अनुभव द्वारा असिद्ध है । यदि चेतनता एक अंग में मानें तो उस अंग के अभाव में भूतकालिक अनुभव की स्मृति नहीं रह सकती और वर्तमान अनुभव में भी सुख और दुःख का अनुभव उसी एक अंग में होगा, सबमें नहीं । इसलिए ऐसा माना गया है कि चेतनता किसी ऐसे तत्त्व में निहित है जो शरीर या उसके अंगों से भिन्न है और वह तत्त्व "आत्मा " है ।

जीव का बाह्येन्द्रियों से भेद :

जीव इन्द्रियों से भिन्न है । इन्द्रियों के निश्चित विषय का ग्रहण करने की व्यवस्था होने के कारण इन्द्रियाँ भी जीवात्मा नहीं हो सकतीं । यदि किसी इन्द्रिय से इसे अभिन्न माना जाय तो उस इन्द्रिय के अभाव में चैतन्य का अभाव हो जायेगा जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं होता । वस्तुतः तो किसी शरीर में

जीवात्मा ज्ञाता है और इन्द्रियाँ ज्ञाता के " करण " हैं । ज्ञाता का इन्द्रियों से भेद सिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त स्वप्न काल में जबकि बाह्येन्द्रियाँ व्यापार-रहित हो जाती हैं, तब भी मनुष्य को व्याघ्रादिरूप का दर्शन होता है, यदि इन्द्रियाँ ही जीवात्मा होती तो उनके उपरत हो जाने पर एतद्विषयक ज्ञान न होता । इस प्रकार जीवात्मा की बाह्येन्द्रियों से पृथकता सिद्ध होती है ।

जीव का प्राण से भेद :

प्राण से भी जीव का तादात्म्य नहीं है क्योंकि " यह मेरे प्राण हैं " इस प्रतीति से प्राण का आत्मा से भेद स्पष्ट होता है इसके अतिरिक्त प्राण पंचविध हैं । यदि जीव और प्राण में अभेद स्वीकार किया जाय तो प्रत्येक शरीर में पाँच जीव हो जायेंगे जो कि सर्वथा असिद्ध है ।

जीव का मनस् से भेद :

आत्मा " मन" नहीं है अपितु मन से भी भिन्न है । आत्मा कर्ता है और मन करण । मन की करणता तो श्रुति और अनुमान दोनों से सिद्ध है। " मनसा ह्येवानुपश्यति "[1] श्रुति निर्देश करती है कि मन से ही आत्मा देखता है । इस प्रकार मन के करण होने के कारण कर्ता रूप आत्मा से उसका भेद स्वत: स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त मनस् की " अहंकार जन्यता " श्रुतिसिद्ध है जबकि आत्मा अहंकार से उत्पन्न नहीं होता । इससे भी आत्मा का मनस् से भेद उत्पन्न है ।

- -

1. बृहदा: 3/5/3

जीव का ज्ञान से भेद :

जीव "ज्ञान " नहीं है । ज्ञान को आत्मा मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग हैं । प्रथम तो बौद्धों का - जो क्षणिक ज्ञान को आत्मा मानते हैं तथा द्वितीय अद्वैत वेदान्तियों का, जो स्थिर ज्ञान को आत्मा मानते हैं ।[1]

किन्तु विशिष्टाद्वैती आचार्यों को दोनों ही मत अनभीष्ट है । बौद्धों के अनुसार तो ज्ञान क्षणिक है, अगले क्षण वह नष्ट हो जाता है इस प्रकार कर्ता आत्मा और भोक्ता आत्मा भिन्न - भिन्न हो जायेंगे । अतः कर्ता और भोक्ता रूप आत्मा के पृथक होने के कारण किसी भी कर्म में प्रवृत्ति होना असम्भव है । दोनों के क्षणमात्रास्तित्व के कारण दोनों में अभेद भी नहीं माना जा सकता । अतः बौद्धों का मत तर्कसंगत नहीं है ।[2]

अद्वैतमतानुयायियों के अनुसार ज्ञान, विषय और आश्रय से रहित स्थिर अर्थात् नित्य है और वही आत्मा है ।[3]

लोक में " अहं जानामि " इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह विषय और आश्रय से रहित नहीं होता । विषय और आश्रय से रहित ज्ञान के अनुभूत न होने के कारण अद्वैत सम्मत ज्ञान अप्रामाणिक है फलतः वह " अहं प्रतीतिविषयक"

- -

1. आचार्य रामानुज का भक्ति सिद्धान्त
   - डा० राम किशोर शास्त्री

2. श्रीभाष्य 2/2/24

3. §1§ पंचदशी 3/13-14
   §2§ ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 2/3/18

आत्मा नहीं बन सकता ।[1]

इस प्रकार जीवात्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और ज्ञानादि से विलक्षण है । आचार्य रामानुज के अनुसार जिस प्रकार माला में सूत्र सर्वदा अनुवृत्त होता है उसी प्रकार " अहं रूप " से सदैव अनुवर्तमान तत्त्व ही " आत्मा " है[2] और यह ज्ञाता, भोक्ता, स्वयंप्रकाश, नित्य, अनेक और अणुपरिमाण है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव का स्वरूप :

शुद्धाद्वैतवाद में जीव सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत करते समय आचार्य द्वारा शंकर के प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद का खण्डन किया गया है ।

प्रतिबिम्बवाद का खण्डन :

वल्लभाचार्य ने आचार्य शंकर के प्रतिबिम्बवाद का खण्डन किया है, अत: खण्डन से पूर्व आचार्य की जीव की प्रतिबिम्बविषयक मान्यता क्या है, इसकी चर्चा आवश्यक है -

आचार्य शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है । जिस प्रकार व्यापक आकाश घट के सम्बन्ध से परिच्छिन्न प्रतीत होता है उसी प्रकार अविद्या के सम्बन्ध से ब्रह्म स्वयं को परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता तथा अज्ञ मानता है यही "जीव" का स्वरूप है।[3] जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखप्रतिबिम्ब तथा मुख में कोई

- -

1· आचार्य रामानुज का भक्ति सिद्धान्त
 - डा० रामकिशोर शास्त्री

2· ब्रह्मसूत्र 1/2/2।

3· विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन,
 - आभा वर्मा, पृ० - 12।

अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दोनों में जो भेद प्रतीत होता है वह अतात्त्विक और अज्ञानकृत है ।[1] श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है अतः अज्ञानजन्य कार्यरूप प्रपंच भी निवृत्त हो जाता है और जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ।

आचार्य शंकर के इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन वल्लभाचार्य के पुत्र श्रीविट्ठलनाथ ने किया है यद्यपि उन्होंने वाल्लभ सिद्धान्त से भिन्न किसी नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित नहीं किया है किन्तु जहाँ कहीं आचार्य वल्लभ अपने सिद्धान्त को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके हैं उसे श्रीविट्ठलनाथ ने तर्कसंवलित कर प्रस्तुत किया है अतः वाल्लभ मत में उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता ।

आचार्य विट्ठल के अनुसार सर्वज्ञ ब्रह्म का ज्ञानविरोधी अविद्या से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । यदि सम्बन्ध माना भी जाय तो " यह अविद्या जीव में है, ब्रह्म में नहीं " यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि शांकर मत में ब्रह्म और जीव को अभिन्न माना गया है । इसके अतिरिक्त रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है , किन्तु ब्रह्म तो रूपहीन है । अतः रूपहीन का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है तथा प्रतिबिम्ब भी किसी स्वच्छ दर्पणादि में ही पड़ता है अतः मलिन अविद्या में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? इसके अतिरिक्त ब्रह्म तो सर्वव्यापक

---

1. एवं च जीवब्रह्मभेदः अतात्त्विकः । अज्ञानकृतत्वात् । अज्ञानकृतः । ज्ञाननिवर्त्यत्वात् ।

— सुवर्णसूत्रम्, पुरुषोत्तम जी पृ0-44

होने के कारण सर्वत्र है जहाँ उसके प्रतिबिम्बित होने की बात कही जाती है, वहाँ भी है विद्यमान है अतः जहाँ वह स्वयं ही विद्यमान है वहाँ प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है ? जो सबकुछ स्वयं में समाहित करके सर्वस्व आवृतकर स्थित हो वह भला कहाँ प्रतिबिम्बित होगा, अतः सर्वव्यापक ब्रह्म उसी प्रकार प्रतिबिम्बित नहीं होता जिस प्रकार दर्पण में पड़ी रेखा, दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं होती ।[1]

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
>
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।[2]

इस श्रुति में जीव को भोक्ता और ईश्वर को केवल साक्षी और द्रष्टामात्र बताया गया है । यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर लिया जाय तो जीव को भी साक्षी और द्रष्टमात्र स्वीकार करना पड़ेगा तथा जीव को भोक्ता नहीं माना जा सकेगा क्योंकि प्रतिबिम्ब की क्रिया बिम्ब के अधीन होती है । इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब और बिम्ब की स्थिति एक ही देश में नहीं हो सकती जबकि उपर्युक्त श्रुति में " समानं वृक्षं परिषस्वजाते " इत्यादि शब्दों से दोनों का समानाधिकरण्य प्रतिपादित किया गया है अतः जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानने की कल्पना श्रुतिविरोधी एवं असंगत है ।

1· यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिबिम्बते । उपरिस्थित एव भ्रान्त्या प्रतीत आकाशः प्रतिबिम्बते । वस्तुतस्तु प्रभामण्डलविद्यमानं न प्रतिबिम्बते । सर्वथा दर्पणरेखावद तत्र विद्यमानं न प्रतिबिम्बते - त०दी०नि० 1/60 पर प्रकाश ।

2· मुण्डक, 3/1/1

जीव को प्रतिबिम्बस्वरूप मान लेने पर मुक्ति को जीवनाशरूप मानने का अनिष्टप्रसंग भी उपस्थित होगा । अतः मुक्ति में यदि जीव का नाश होता है तो उसके लिए किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि कोई स्वयं अपना नाश करना नहीं चाहता फलतः किसी की भी प्रवृत्ति मोक्षप्राप्ति के लिए नहीं होगी ।[1] अतएव जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना सर्वथा अनुचित है ।

आभासवाद का खण्डन :

मायावादियों का यह विचार है कि " वह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान एक रूप में और दश रूपों में अर्थात् अनेक रूपों में दिखाई देता है ।" इस श्रुति से सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म का आभास है । आचार्य वल्लभ मायावादियों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म के आनन्दांश के तिरोहित होने के कारण ही जीव को " आभास " कहा है, अतः यहाँ माया-वादियों के प्रतिबिम्बवाद के सदृश सर्वथा मिथ्यात्व अभिप्रेत नहीं है । ब्रह्मसूत्र 2/3/50 के भाष्य में आचार्य वल्लभ कहते हैं कि जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म का आभास है, सच्चिदानन्द नहीं, उसमें आनन्दांश तिरोहित रहता है । " एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् " यहाँ एक

---

1. "....And since the annihilation of one's self is not an object of human persuit, liberation would not be regarded as an object of pursuit and soul would become unreal (since it can be destroyed). That being so, nobody would strive for an attainment of anything otherworldly or divine."

- The Philosophy of Vallabhacharya - Mridula Marfatia P. 246.

का अनेकत्व ही दृष्टान्त का विषय है, मिथ्यात्मक आभास नहीं है।[2]

आचार्य वल्लभ के इस विचार को भी विट्ठलनाथ ने अपने ग्रंथ "विद्वन्मण्डनम् " में और भी स्पष्ट किया है । उन्होंने मायावादियों के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि जैसे नेत्र के मध्य अंगुलि रखकर देखने से एक ही चन्द्र अनेक चन्द्रमाओं सा प्रतीत होता है वैसे ही जीव भी ब्रह्म का आभासमात्र है । मायावादी कहते हैं कि नृसिंहोत्तरतापिनी श्रुति - "माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति " भी जीव के लिए स्पष्टतः "आभास " शब्द का प्रयोग करती है ।[3]

विट्ठलनाथ कहते हैं कि मायावादियों का यह सिद्धान्त उचित नहीं है। अविद्या सम्बन्ध से अनेक रूपों में आभास किसका होगा ? यह आभास ब्रह्म का हो नहीं सकता क्योंकि यह भ्रम का विषय नहीं है । जीव का भी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव तो स्वयं ही आभास का विषय है ।

हरितोषिणीकार के अनुसार अविद्या के सम्बन्ध से ब्रह्म अनेक रूपों में आभासित होता है, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म एवं भ्रमरूपा अविद्या

- -

1· एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् -
- ब्रह्मबिन्दूपनिषद् , 12

2· आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन -
- डा0 राजलक्ष्मी वर्मा ।

3· विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन -
- आभा वर्मा, पृ0 - 134

में कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता ।[1]

आचार्य वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म के आनन्द का तिरोधान हो जाने से जीव ब्रह्म नहीं है किन्तु चैतन्यादि गुणों के द्वारा वह ब्रह्मसदृश है इसलिए जीव ब्रह्माभास है । यह आभास वैसा ही है जैसा कि अनाचारी ब्राह्मण में ब्राह्मणाभास रहता है ।[2] जीव और जड़ दोनों की यही स्थिति है । ये जगत् प्रतिबिम्ब की तरह सर्वथा मिथ्या नहीं है जैसा कि मायावादी एक चन्द्र का अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्ब वाला दृष्टान्त उपस्थित करके सिद्ध करना चाहते हैं । यह सिद्धान्त उचित नहीं है क्योंकि यदि यह जगत् मिथ्या है तो अध्यास नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्या वस्तु में अध्यास का प्रश्न ही नहीं उठता । इसके अतिरिक्त मिथ्या मानने से "द्वासुपर्णा" आदि श्रुति से भी विरोध होगा । अतः जीव को ब्रह्माभास मानना सर्वथा अनुचित है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि रामानुज भी जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तथा आभास नहीं मानते किन्तु उन्होंने कहीं इस सिद्धान्त का नामतः खण्डन नहीं किया है जबकि आचार्य वल्लभ ने जीव को प्रतिबिम्ब तथा आभास मानने के विचार का अत्यन्त विस्तार तथा युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इसी प्रकार आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की भाँति जीव को शरीर, इन्द्रिय, मनस, प्राण तथा ज्ञान से भिन्न स्वीकार करते हैं किन्तु रामानुज की

---

1. एवमविद्यासम्बन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदवभासो वक्तव्यः स च न सम्भवति । ब्रह्मणिभ्रमरूपाया अविद्यायाः सम्बन्ध एव नास्ति । - हरितोषिणी, पृ0-67
2. अणुभाष्य , 2/3/50

तरह उन्होंने कहीं भी स्वतन्त्र रूप से इस सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं किया है ।

शंकर जब जीव का मिथ्यात्व कहते हैं तब उनका भी तात्पर्य जीव का आत्यन्तिक निषेध नहीं होता क्योंकि उनके मत में भी जीवभाव व्यावहारिक रूप से सत्य ही है । विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि रामानुज और वल्लभ भी यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जीव ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है क्योंकि दोनों ही जीव को स्वतन्त्र रूप से सत्य नहीं मानते अपितु ब्रह्मरूप से ही सत्य मानते हैं । शंकर तथा रामानुज और वल्लभ में अन्तर मात्र इतना ही है कि शंकर जीव को व्यावहारिक सत्य कहते हैं जबकि रामानुज और वल्लभ इसे पारमार्थिक सत्य स्वीकार करते हैं । इस प्रकार वस्तुतः शंकर और इन दोनों आचार्यों में अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ही अन्तर है ।

जीव की ब्रह्मात्मकता :

रामानुज के अनुसार "तत्त्वमसि" महावाक्य पर विचार :

" तत्त्वमसि " महावाक्य द्वारा जीव की ब्रह्मात्मकता सिद्ध की गयी है । शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और जीव तत्त्वतः अभिन्न ही है । ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवरूप से प्रतीत होता है । यहाँ " त्वम् " पद का अर्थ है जीव या अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा तत् पद का अर्थ है ब्रह्म या परोक्षत्व-विशिष्ट चैतन्य । इस प्रकार यहाँ चैतन्य में विरोध नहीं है, वस्तुतः जीव और ब्रह्म दोनों ही पदार्थों का चैतन्य रूप से ऐक्य प्रतिपादित है । यहा "त्वं पदार्थ"

का "तद् पदार्थ भाव" प्रतिपादित किया गया है।[1] इस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य में दोनों पदों का समानाधिकरण्य है और दोनों पदार्थों का चैतन्य रूप से ऐक्य प्रतिपादित है।

किन्तु आचार्य रामानुज के अनुसार तत्त्वमसि वाक्य का यह अर्थ उचित नहीं है। उनके अनुसार " त्वम् " पद का अर्थ है अचिद्विशिष्ट जीवशरीरकब्रह्म अर्थात देहेन्द्रियान्तःकरणविशिष्ट जीव रूप शरीर में अन्तर्यामी आत्मभूत ब्रह्म और "तत्" पद का अर्थ है सत्यसंकल्प जगत्कारण ब्रह्म।[2] इस प्रकार तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ हुआ- ईश्वर जीवरूप शरीर का आत्मा है। वही जगत् रूपी शरीर का भी आत्मा है। जो जीव का अन्तर्यामी है वही समस्त जगत का कारण है, जैसे "सोऽयं देवदत्तः " इस वाक्य में भूतकाल में देखे हुए देवदत्त और वर्तमानकाल में देखे हुए देवदत्त का ऐक्य प्रतिपादित है। यहाँ पर कालिक भेद होने पर भी व्यक्ति (देवदत्त) एक ही है। इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में जो अभेद कहा गया है वह शांकर मत की तरह दो पदार्थों का अभेद नहीं अपितु एक ही पदार्थ की दो अभिव्यक्तियों में अभेद है अर्थात् ईश्वर के एक विशिष्ट प्रकार या रूप में तथा दूसरे विशिष्ट प्रकार या रूप में है। तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु (ब्रह्म) दो प्रकार से विद्यमान है।[3] न कि दो

---

1. तत्त्वमसी त्येवदवाक्यं त्वं पदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे -शारीरिक भाष्य 4/1/2
2. तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति। तत्समानाधिकरण्यं त्वं पदंच अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। श्रीभाष्य पृ0- 80
3. प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन समानाधिकरण्यं च सिद्धम्।
   -श्रीभाष्य 1/1/1

वस्तुओं में स्वरूपैक्य है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार "तत्त्वमसि" महावाक्य पर विचार :

वल्लभाचार्य ने तत्त्वमसि महावाक्य का रामानुज से भिन्न प्रकार का अर्थ किया है । उनके अनुसार " तत्त्वमसि " का अर्थ हुआ है - 'तत्' अर्थात् ब्रह्म, 'त्वम्' अर्थात् जीव दोनों ही शुद्ध एवं अभिन्न हैं । इस प्रकार "तत्त्वमसि" में जो अद्वैत या अभेद का प्रतिपादन किया गया है उसका ज्ञान अभिधा शक्ति से ही होता है । रामानुज शंकर एवं निम्बार्क ने इनमें जो अद्वैत कहा है उसका ज्ञान लक्षणा से होता है क्योंकि उनके मतानुसार यह अभिधामूलक अर्थ बाधित होता है - जीव प्रत्यक्षतः ब्रह्म नहीं है किन्तु वल्लभ कहते हैं कि यहाँ अभिधा - मूलक अर्थ बाधित नहीं होता । जीव प्रत्यक्षतः ब्रह्म है अतः लक्षणा का अवकाश ही नहीं है, किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि जीव "ब्रह्मात्मक है, स्वयं ब्रह्म नहीं है । इस सम्प्रदाय में ब्रह्म एवं जीव के मध्य तादात्म्य भाव नहीं स्वीकार किया जाता, इन दोनों के बीच प्रत्येक स्तर पर भेद अवश्य बना रहता है । यथा जीव आराधक है तो ब्रह्म आराध्य , जीव शासित है तो ब्रह्म शासक । इन सम्बन्धों के लिए जिस दूरी की आवश्यकता होती है वह शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में सर्वदा विद्यमान है ।[1]

- -

1. विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन,
- आभा वर्मा, पृ0 - 143

जीव का नित्यत्व :

आचार्य रामानुज के अनुसार जीव नित्य है, इसका कभी विनाश नहीं होता ।"अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो"[1], "नित्यो नित्यानाम्"[2] "चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्"आदि श्रुतियाँ जीव को नित्य बताती हैं । " ज्ञाज्ञौ द्वावजौ " सर्वज्ञ और अल्पज्ञ अजन्मा है ।" न जायते म्रियते वा विपश्चित् " आदि श्रुतियों से जीव की उत्पत्ति का निषेध ज्ञात होता है । उत्पत्ति के निषेध के साथ - साथ विनाश का निषेध स्वयमेव हो जाता है क्योंकि उत्पन्न हुए पदार्थ का ही नाश सम्भव है । अतएव उत्पत्ति और नाश रहित होने के कारण जीव"नित्य"ही सिद्ध है, किन्तु " यह सब ब्रह्मात्मक है इन कथनों का तात्पर्य यह नहीं है कि जीव की भाँति ब्रह्मात्मक आकाशादि भी नित्य हैं । रामानुजाचार्य के अनुसार एक ही द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति ही 'कार्य'कहलाती है,[3] वही स्थिति जीव की भी है । यद्यपि आकाशादि अचेतन द्रव्य भी अवस्थान्तरप्राप्त कार्य हैं परन्तु जीव की अवस्थान्तरप्राप्ति उनसे भिन्न कुछ विशिष्ट है । जीव का जो अन्यथाभाव है वह ज्ञान संकोचविकासलक्षण वाला है अर्थात् ज्ञान के संकोच विकास के कारण ही वह ब्रह्म से भिन्न है जबकि आकाशादि तो स्वरूप से ही भिन्न है । अत: आकाशादि का अन्यथाभाव स्वरूपान्यथाभाव

1· {क} कठोपनिषद् 2/18

{ख} श्रीमद्भगवद्गीता 2/20

2· श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/13

3· कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्ति :

– श्रीभाष्य – 2/3/18

है फलत: जीव नित्य है । " जीव उत्पन्न होता है, " जीव मरता है "आदि जो प्रयोग लोक में देखे जाते हैं उनका तात्पर्य जीव का प्राकृत देहादि से संयोग और वियोग है ।[1] अत: श्रुत्यादि समस्त प्रमाणों से सिद्ध है कि आत्मा नित्य है ।

रामानुजाचार्य की ही भाँति आचार्य वल्लभ भी जीव की नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं उनके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव भी नित्य है । वल्लभाचार्य जीव को ब्रह्म का कार्य नहीं मानते क्योंकि कार्य मानने पर तो वह अनित्य हो जाएगा और जीव के अनित्य होने पर तदंशी ब्रह्म में भी अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी और इस प्रकार शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ही बाधित हो जायेगा । आचार्य वल्लभ के अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से नहीं होती अपितु उसका आविर्भाव होता है अर्थात् ब्रह्म के सत्, चित् गुणों का जीव रूप से प्राकट्य होता है । वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य में तीन प्रकार की उत्पत्तियों का वर्णन किया है -

> अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागम: ।
> नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ।।[2]

1· श्रीभाष्य - 2/3/18

2· अणुभाष्य - 2/3/1

अनित्य पदार्थों में " जनन " शब्द उत्पत्ति अर्थ का सूचक है , नित्य और परिच्छिन्न में " आविर्भाव" द्योतक तथा नित्य और अपरिच्छिन्न पदार्थों में " इच्छा- प्राकट्य " का सूचक है । जीव नित्य और परिच्छिन्न है, अत: जीव के प्रसंग में आचार्य वल्लभ ने सर्वत्र " आविर्भाव " अर्थ का प्रयोग किया है।

आचार्य वल्लभ जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं अत: उसके नाम रूप से सम्बन्ध को भी वे अस्वीकार करते हैं । आचार्य के अनुसार उत्पत्ति उसी पदार्थ की होती है जो नामरूपविशेषों से युक्त हो, अत: जीव की ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं होती अपितु आविर्भाव होता है । देहेन्द्रियादि से जो जीव का सम्बन्ध है वह स्वाभाविक नहीं बल्कि अविद्या के कारण है । वस्तुत: तो ब्रह्मस्वरूप होने से जीव का नामरूपादि से कोई सम्बन्ध नहीं होता अत: उसकी उत्पत्ति स्वीकार करना उचित नहीं है । अग्नि से स्फुलिंग के समान ब्रह्म से जीव व्युच्चरित होता है, जीव का देह के साथ सम्बन्ध का प्रयोग उपचारमात्र है । व्युच्चरण होने पर जीव नित्य होता है । आचार्य श्रुतियों द्वारा इसकी पुष्टि करते हैं कि आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, यह अजन्मा और नित्य है ।[1] जन्म मरणादि धर्म शरीर के हैं, जीव के नहीं । जीव तो नित्य है किन्तु जीव का शरीर से सम्बन्ध होने के कारण जीवों में इनका व्यपदेश होता है । शरीर के सम्बन्ध से ही जीव

---

1. ननु जीवोऽप्युत्पद्यतां किमिति भाक्तत्वं कल्प्यते इति चेत्, न, आत्मा नोत्पद्यते ...... न हि आत्मन: उत्पत्ति: श्रूयते ..... विस्फुलिंगवदुच्चरणं नोत्पत्ति:, आत्मरूपसम्बन्धाभावात् एतस्य गुणा: स्वरूपं चाग्रे वक्ष्यते, किं च नित्यत्वाच्च, ताभ्य: श्रुतिभ्य: अयमात्माजरामर: न जायते म्रियते ।

– अणुभाष्य 2/3/17

का सुखदुखभोग भी होता है ।

जीव की नित्यता तथा अनुत्पत्ति के विषय में शंकर तथा वल्लभ में मतैक्य है । रामानुज और वल्लभ में यहाँ यह अन्तर है कि रामानुज जीव को शब्दत: कार्य कहते हैं किन्तु वल्लभ उसे कार्य न कहकर ब्रह्म का अंश कहते हैं । शंकर जीवभाव को औपाधिक फलत: असत्य मानते हैं, किन्तु रामानुज और वल्लभ जीवभाव को सत्य और सहज स्वाभाविक मानते हैं । वल्लभ ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते अत: इनके मत में जीव भी ब्रह्म की ही भाँति सत्य है ।

जीव का अणुत्व :

आचार्य रामानुज के अनुसार जीव अणु परिमाण वाला है । " एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:"[1] आदि श्रुतियाँ जीव के अणुपरिमाणत्व का कथन करती हैं । आचार्य शंकर जीव को " विभु " परिमाण मानते हैं किन्तु इनके विपरीत आचार्य रामानुज और वल्लभ ब्रह्म को " विभु " परिमाण तथा जीव को " अणु परिमाण " स्वीकार करते हैं । वेदान्तसूत्र 2/3/23 के भाष्य में भी रामानुज जीव का स्वरूप निरूपण करते हैं - " बाल के अग्रिम भाग को सौ भागों में विभक्त करके, उसके शतांश को भी सौ भागों में विभक्त करके, उसके एक भाग के बराबर ही जीव - स्वरूप जानना चाहिए "[2] इस प्रकार ये श्रुतियाँ

- -

1· मुण्डक , 3/1/9

2· बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवस्य विज्ञेय: ।

– श्रीभाष्य 2/3/23

जीव के अणुपरिमाणत्व का कथन करती हैं । यदि आत्मा को विभु मान लिया जाय तो इन श्रुतिवाक्यों से विरोध उपस्थित होता है । इसी तथ्य को श्री लोकाचार्य ने अपने ग्रन्थ " तत्त्वत्रय" में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है - " हृदिह्येषात्मा "[1] श्रुति जीव की स्थिति हृत्प्रदेश में बताती है , "प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य: "[2] श्रुति जीव का वर्तमान शरीर से उत्क्रमण प्रदर्शित करती है, " ये व के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति "[3] आदि श्रुतियाँ जीव का चन्द्रादिलोक में गमन तथा " तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे "[4] श्रुति जीव का इतर लोक से आगमन प्रतिपादित करती है अत: यदि आत्मा को विभु मान लिया जाय तो आत्मा के सर्वव्यापक होने के कारण उसका हृत्प्रदेशवर्तित्व, उत्क्रमण तथा गमनागमन उपपन्न नहीं होगा अतएव उसे विभु मानना सर्वथा अनुचित है, आत्मा अणु ही सिद्ध होता है ।[5] " नित्य: सर्वगत: स्थाणु:[6] आदि श्रुतियों में जो जीवात्मा के सर्वगतत्वादि का व्यपदेश किया गया है वहाँ सर्वगतत्वादि का कथन जीवात्मा के समुदाय की अपेक्षा से है[7] अर्थात् इसका अभिप्राय यह है

- -

1· प्रश्न उप0 3/6

2· बृहदा0 6/4/2

3· कौशी0 1/2

4· बृहदा0 4/4/6

5· तत्त्वत्रय, पृ0 ॱा

6· श्रीमद्भगवद्गीता 2/24

7· रामानुज बहुजीववाद स्वीकार करते हैं, इसी अध्याय में आगे इसकी विवेचना की जायेगी ।

स्थान में स्थित होकर भी सारे शरीर को आह्लादित करती है तथा जिस प्रकार एकदेशवर्ती सूर्यकान्तमणि का प्रकाश चतुर्दिक देखा जाता है उसी प्रकार हृदयस्थ आत्मा का ज्ञान भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है उसी के द्वारा वह शरीर के विभिन्न अंगों में अधिष्ठान करता है ।[1]

रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी जीव को अणुमात्र स्वीकार करते हैं । " स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वापिति"[2] श्रुति के आधार पर श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि यहाँ "स्व" शब्द से जीव का अणु होना सिद्ध है।[3] अणुत्व चिदंश का धर्म है और आत्मा ब्रह्म का सच्चिद् प्रधान रूप है, इसलिए आत्मा अणु ही है । त0दी0नि0 में आचार्य जीवस्वरूप का निर्देश करते हुए कहते हैं कि - " जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवत् व्यतिरेकवान्"[4] अर्थात् जीव आराग्रमात्र अर्थात् आर के अग्रभाग के बराबर परिमाण वाला और गन्ध की भाँति व्यतिरेकवान् है, अर्थात् जिस स्थान पर उसकी स्थिति होती है उस देश की अपेक्षा अधिक देश में उपलब्ध होने वाले चैतन्य से युक्त है ।

इस प्रकार जीव का परिमाण अणु ही सिद्ध है । "नित्यःसर्वगतः स्थाणुः[5]

- -

1. श्रीभाष्य 2/3/24, 26
2. बृहदा0 4/3/9
3. स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति " इति स्वशब्दोऽणु परिमाणं जीवं बोधयति " - अणुभाष्य 2/3/22
4. तत्त्वदीप निबन्ध शा0प्र0 1/53
5. गीता 2/24

आदि श्रुतियों में जो आत्मा का व्यापकत्व कहा गया है वह जीव में भगवदावेश होने पर भगवान के व्यापकत्वादि धर्मों का जीव में उपचारमात्र है अर्थात् जब जीव में भगवान का आवेश होता है तो भगवान के व्यापकत्वादि धर्म जीव में उपचारित होते हैं और इसी अभिप्राय से " नित्य: सर्वगत: " आदि श्रुति में जीव को व्यापक कहा गया है । वस्तुत: जीव स्वरूपत: व्यापक नहीं है ।[1] इस प्रकार जीव अणु है और अपने चैतन्य गुण के माध्यम से समस्त शरीर में व्याप्त रहता है ।

जीव का स्थान आचार्य वल्लभ भी रामानुज की तरह हृत्प्रदेश ही स्वीकार करते हैं ।[2] " गुहां प्रविष्टौ " आदि श्रुतियों में भी जीव की स्थिति हृदय में बतायी गयी है । जिस प्रकार शरीर के किसी एक भाग में स्थित चन्दन सारे शरीर को सुखकर प्रतीत होता है तथा जिस प्रकार मणिप्रभा एक स्थान पर रहने पर भी दूर तक फैली रहती है उसी प्रकार स्थान विशेष में स्थित जीव अपने चैतन्य गुण से समस्त शरीर में व्याप्त है अर्थात समस्त शरीर को चैतन्य रखता है ।[3]

- -

1. भगवदावेशे भगवद्धर्मा व्यापकत्वादय: तत्र श्रूयन्ते न तु जीवो व्यापक: -
   - त०दी०नि० 1/53 पर प्रकाश

2. हृदि जीवस्य स्थिति: गुहां प्रविष्टाविति हि युक्ति: - अणुभाष्य 2/3/24

3. अणुभाष्य 2/3/23, 25

इस प्रकार जीव के परिमाण के विषय में आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों एकमत हैं । दोनों ही आचार्य जीव को अणु परिमाण मानते हैं तथा जीव की स्थिति हृत्प्रदेश में स्वीकार करते हैं । आचार्य रामानुज के अनुसार हृत्प्रदेशवर्ती जीव धर्मभूतज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में अधिष्ठान करता है तथा आचार्य वल्लभ के अनुसार अपने चैतन्य गुण के द्वारा जीव एकदेश §हृत्प्रदेश§ में स्थित होकर भी समस्त शरीर में व्याप्त रहता है । दोनों आचार्यों की जीव- परिमाण - विषयक मान्यता में अन्तर यह है कि रामानुज तो जीव का अणु परिणाम मोक्षदशा में भी स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य वल्लभ मुक्ति की अवस्था में जीव का उभय परिमाण स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार अणुत्व जिस प्रकार चिदंश का धर्म है उसी प्रकार विभुत्व आनन्दांश का धर्म है । जीव ब्रह्म का सच्चित्प्रधानरूप है , जीव में मात्र आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है तथा जीव का ब्रह्मभाव होने पर उसमें आनन्दांश का भी प्राकट्य होता है । फलतः आनन्दाभिव्यक्ति के बाद जीव भी व्यापक हो जाता है । विरुद्धधर्माश्रयत्व आनन्दांश का विशेष गुण है इसीलिए ब्रह्म विरुद्ध-धर्माश्रय है तथा ब्रह्मभाव होने पर जीव भी विरुद्धधर्माश्रय हो जाता है । इस प्रकार वल्लभाचार्य के अनुसार यद्यपि जीव अणु परिमाण वाला है किन्तु आनन्दा-भिव्यक्ति के अनन्तर आनन्द के विरुद्धधर्मसमर्पक होने के कारण व्यापक भी हो जाता है ।[1]

---

1. आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन
- डा० राजलक्ष्मी वर्मा ।

किन्तु इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि वल्लभ मुक्ति दशा में उसके अणुत्व का क्षय स्वीकार कर जीव का परिमाण विभु मानते हैं अपितु जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से लोहपिण्ड में दाहकता आ जाती है किन्तु दाहकता लोहपिण्ड का धर्म न होकर अग्नि का ही धर्म रहती है उसी प्रकार व्यापकता भी आनन्दांश के सम्बन्ध से चिदंश में प्रकाशितमात्र होती है ।[1]

भेदाभेदवादी आचार्य भास्कर का मत रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य दोनों से ही भिन्न है । ये अवस्थाभेद से जीव का द्विविध परिमाण स्वीकार करते हैं । इन दोनों आचार्यों से भास्कर का मतसाम्य यह है कि संसारदशा में ये भी जीव का परिमाण अणु ही स्वीकार करते हैं किन्तु ये अणुत्व को रामानुज तथा वल्लभ के समान स्वाभाविक न मानकर जीव का औपाधिक परिमाण स्वीकार करते हैं जो कि अन्तःकरणरूप उपाधि के सम्पर्क से उसमें आता है । जीव का जो उपाधिरहित और स्वाभाविक स्वरूप है वह विभु परिमाणवाला है क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है और जो उपाधियुक्त जीवस्वरूप है वह अणु परिमाण है क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न है किन्तु भास्कर को अभिमत यह औपाधिक अणु परिमाण शंकर की भाँति मिथ्या नहीं है । भास्कर जीव की उपाधि को सत्य स्वीकार करते हैं फलतः जीव में उपाधि सम्बन्ध से आये हुए धर्मों को

- -

1. तत्त्वदीपनिबन्ध, प्रकाश पृ० - 83

भी सत्य स्वीकार करते है । वल्लभ भी जीव का ब्रह्मभाव होने पर जीव का विभुत्व स्वीकार करते हैं ।[1] किन्तु दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि यद्यपि वल्लभ ब्रह्मभाव के पश्चात् जीव का व्यापकत्व स्वीकार करते हैं तथापि वे जीव के अणुत्व का क्षय नहीं मानते जबकि भास्कर जीव के ब्रह्मभाव हो जाने पर उसके अणुत्व का क्षय स्वीकार करते हैं ।

जीव का स्वयंप्रकाशत्व :

जीव के नित्यत्व और अणुत्व धर्मों के बाद अब जीव के स्वयंप्रकाशत्व की चर्चा दोनों आचार्यों के अनुसार की जा रही है ।

आचार्य रामानुज के अनुसार आत्मा स्वयंप्रकाश है । वह स्वस्वरूप को स्वयं ही प्रकाशित करता रहता है अतएव विशिष्टाद्वैतमत में इसे " अजड़ " माना गया है । जो बिना किसी की सहायता के स्वतन्त्र रूप से स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है उसे " अजड़ " कहते हैं ।[2] जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित होने के लिए अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा को भी प्रकाशित होने के लिए अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं ही अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है इसीलिए इसे 'स्वयंज्योति' या 'स्वयंप्रकाश' कहते हैं ।[3] आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व के विषय में वेदान्तदेशिकाचार्य अपने ग्रन्थ

1· जीवोऽणुरपि ब्रह्मभावेऽणुत्वाविरोधेनैव व्यापकः सकलजगदाधारो भवति ।
- अणुभाष्य, प्रकाश 2/3/30

2· अजडत्वं नाम ज्ञानमन्तरापि स्वतोभासमानत्वम् - तत्त्वत्रय पृ0- 23

"न्यायसिद्धांजन" में कहते हैं कि "अहमर्थ" ही आत्मा है क्योंकि आत्मा "प्रत्यक्" माना जाता है।[1] किन्तु आत्मा को प्रत्यक् मानने पर यह शंका होती है कि यह "प्रत्यक्त्व" क्या आत्मस्वरूप है अथवा आत्मा में रहने वाला कोई धर्म है ? यदि आत्मा और प्रत्यक्त्व में अभेद स्वीकार करें तो दोनों में विशेष्य -विशेषण-भाव तथा धर्मधर्मिभाव नहीं सिद्ध हो सकेगा । और अभेद में यदि विशेषणविशेष्यभाव की कल्पना भी स्वीकार कर लें तो " भेदव्यपदेशाच्चान्य:[2] आदि ब्रह्मसूत्रों से विरोध होगा । इन सूत्रों की सार्थकता तभी है जबकि अभेद स्थल में विशेषणविशेष्य-भाव न हो, फलत: प्रत्यक्त्व और आत्मस्वरूप में विशेष्यविशेषणभाव न होने से प्रथम पक्ष तो निरस्त हो गया ।

अब यदि प्रत्यक्त्व को आत्मा में रहने वाला धर्म स्वीकार करें तो आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं को ही प्रकाशित कर सकता है, स्वव्यतिरिक्त प्रत्यक्त्वरूप धर्म को नहीं और यदि यह माना जाय कि आत्मा धर्मभूतज्ञान के समान स्वव्यतिरिक्त पदार्थों का प्रकाशक होगा तो धर्मभूतज्ञान के समान आत्मा को भी विषयी स्वीकार करना पड़ेगा । जो कि उचित नहीं है, क्योंकि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में " विषयित्व " धर्मभूतज्ञान का असाधारण धर्म तथा "प्रत्यक्त्व " आत्मा का

- -

1• (क) न्याय सिद्धांजन, पृ० 253

(ख) जो पदार्थ अपने लिए प्रकाशित होता है वह "प्रत्यक् " और जो दूसरे के लिए प्रकाशित होता है वह "पराक्" कहलाता है ।

2• ब्रह्मसूत्र 1/1/22

असाधारण धर्म स्वीकार किया गया है ।[1] इस प्रकार प्रत्यक्त्व आत्मा का धर्म है । इसके प्रकाशन से आत्मा का "विषयित्व" नहीं सिद्ध होता क्योंकि विषयित्व का स्वरूप है - " अपने में अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले धर्मों के अतिरिक्त इतर पदार्थों का प्रकाशक होना ।" आत्मस्वरूप स्वयं मेंअपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले प्रत्यक्त्व और एकत्व इत्यादि को ही प्रकाशित करता है, व्यतिरिक्त पदार्थ धर्मभूतज्ञान द्वारा प्रकाशित होते हैं अत: आत्मा का विषयित्व मानना उचित नहीं है, इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आत्मा "अहमहम् " इस प्रकार प्रत्यक्त्व और एकत्व धर्म से विशिष्ट होकर सदा स्वयं प्रकाशित रहता है ।[2]

इस प्रकार शास्त्रीय विवेचन करके पुन: आचार्य श्रुतियों द्वारा भी अपने मत को पुष्ट करते हैं "हृदयन्तर्ज्योति पुरुष: "[3] अर्थात् हृदय के भीतर स्वयंप्रकाशस्वरूप पुरुष (जीवात्मा) विद्यमान है, "आत्मा ज्ञानमयोऽमलं" अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं सभी प्राकृतिक दोषों से रहित है, ये सभी वाक्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप अतएव स्वयंप्रकाश बताते हैं । आत्मा की स्वयंप्रकाशता " एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष:[4] आदि श्रुतियों द्वारा ही सिद्ध है । उपर्युक्त श्रुति में विज्ञानात्मा पद द्वारा आत्मा की ज्ञानरूपता बतायी गयी है । ज्ञानरूप पदार्थ का स्वयंप्रकाश होना सिद्ध ही है ।

- -

1· न्याय सिद्धाञ्जन, पृ0- 259

2· न्याय सिद्धाञ्जन, पृ0 - 260

3· बृहदा0 6/3/7

4· प्रश्नोपनिषद 4/9

आचार्य वल्लभ भी आत्मा को स्वयंप्रकाश मानते हैं। इनके अनुसार जीव चिद्रूप है अतः चिद्रूप होने के कारण उसका स्वयंप्रकाश होना सिद्ध ही है किन्तु आचार्य वल्लभ ने जीव के स्वयंप्रकाशत्व का रामानुजाचार्य की तरह बहुत विस्तार से वर्णन नहीं किया है। चिद्रूप व ज्ञाता होने के कारण जीव स्वयंप्रकाश तो है ही।

इस प्रकार जीव के स्वयंप्रकाशत्व के सन्दर्भ में दोनों आचार्यों में मतसाम्य है। दोनों ही जीव को चैतन्यस्वभाव व ज्ञानरूप होने के कारण स्वयंप्रकाश स्वीकार करते हैं।

जीव का कर्तृत्व :

आचार्य रामानुज जीव को कर्ता, भोक्ता और दृष्टा भी स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व वास्तविक नहीं है, अपितु औपचारिक है और बुद्धि उपाधि के सम्पर्क से जीव में इनका व्यपदेशमात्र होता है। " तद्गुणसारत्वात् व्यपदेशः प्राज्ञवत्"[1] सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने इस तथ्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

किन्तु रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य का मत इनके सर्वथा विपरीत है। शंकर जहाँ जीव के कर्तृत्व को औपचारिक या व्यावहारिक मानते हैं वहीं रामानुज और वल्लभ उसे वास्तविक स्वीकार करते हैं।

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/3/29

आचार्य रामानुज जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वीकार तो करते हैं किन्तु उनके अनुसार जीव में ये स्वभावतः नहीं होते, यह जीव में तभी उत्पन्न होते हैं जब वह शरीर और मन से संयुक्त होता है ।

सांख्य मतावलम्बी " भोक्तृत्व " तो जीव में स्वीकार करते हैं किन्तु कर्तृत्व जीव का न मानकर अचेतन प्रकृति का स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार पुरुष के सम्पर्क में आने पर जब बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो बुद्धि चेतनवती हो जाती है और यही चेतनवती बुद्धि सृष्टि करती है । विशिष्टाद्वैतियों को सांख्यों का यह मत मान्य नहीं है कि कर्म कोई और करे और उसका फलभोग कोई और । उनके अनुसार कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही जीव के गुण हैं । शास्त्रों में जीव को कर्ता कहा गया है - " कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् " [1] अर्थात् जीव ही कर्ता है क्योंकि शास्त्रों के विधि- निषेध रूप से प्रवर्तित वाक्य का विषय वही है विशिष्टाद्वैत में कर्तृत्व और भोक्तृत्व सम्बन्धी सांख्य-मत का सविस्तार खण्डन किया गया है । यदि सांख्य के अनुसार आत्मा का अकर्तृत्व और प्रकृति का कर्तृत्व स्वीकार करें तो एक तो यह बाधा उपस्थित होगी कि प्रकृति जड़ है और लोक में ऐसा देखा जाता कि जो जड़ होता है वह कर्ता नहीं होता है अतः अचेतन प्रकृति को कर्ता न मानकर चेतन जीव का ही कर्तृत्व स्वीकार करना उचित है । यदि यह कहें कि पुरुष के चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि चेतनवती हो जाती है और

- -

1. श्रीभाष्य 2/3/33

त्व वही सृष्टि करती है तथा इस प्रकार प्रकृति का कर्तृत्व स्वीकार किया जा सकता है तो ऐसा मानने पर सर्वसुलभ प्रकृति के समस्त कर्म सभी के लिए भोग का साधन हो जायेंगे और फलतः भोग की विषमता का कोई नियम भी न रह जायेगा।[1] इसके अतिरिक्त बुद्धि को कर्ता मानने पर भोक्तृत्व भी उसी का मानना पड़ेगा क्योंकि कर्ता से भोक्ता को भिन्न नहीं किया जा सकता।[2] इस प्रकार आत्मा की भोक्तृत्व शक्ति समाप्त हो जायेगी फलतः "पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्" यह वाक्य भी अनुपपन्न होगा अथवा इसे भी बुद्धिपरक मानना होगा जो कि शास्त्र-विरुद्ध है। बुद्धि की कर्तृता होने पर मोक्ष की साधनभूता समाधि क्रिया भी बुद्धि की ही होगी और ऐसी स्थिति में समाधि अवस्था में "प्रकृतेरन्योऽस्मि" इस प्रकार का जो ज्ञान होता है यह अनुपपन्न हो जायेगा क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का स्वरूप है फलतः वह स्वयं को स्वयं से कैसे निवृत्त कर सकेगी ? अतः इतनी सारी अनुपपत्तियों के समाधानार्थ आत्मा का कर्तृत्व मानना ही तर्कसंगत है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैती आचार्य जीव का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं आचार्य रामानुज के अनुसार आत्मा की सांसारिक कर्मों में प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं अपितु सत्त्वादि गुणत्रय के संसर्ग के कारण होती है फलतः सांसारिक क्रियाओं में कर्तृत्व और फलस्वरूप भोक्तृत्व जीव के "अशाश्वत" गुण हैं। ये जीव में तभी प्रकट होते हैं जब जीव

---

1. आत्मनोऽकर्तृत्वे प्रकृतेश्चकर्तृत्वे तस्याः सर्व पुरुषसाधारणत्वात् सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः नैव वा कस्यचिद् - श्रीभाष्य 2/3/36
2. बुद्धेः कर्तृत्वे कर्तुरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्व शक्तिरपि तस्या एव स्यात् - श्रीभाष्य 2/3/37

अथ जीव तीनों गुणों से संयुक्त होकर संसार का प्राणी बनता है किन्तु जीव का स्वरूप इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व से प्रभावित नहीं होता ।

यद्यपि जीव समस्त कर्मों का कर्ता है तथापि इसका कर्तृत्व ईश्वर परतन्त्र है -"परात्तुतच्छ्रुतेः ।[1] उसके ज्ञान से क्रियारूप अवस्था के विकास के लिए ईश्वर की अनुमति आवश्यक है । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा"[2] "य आत्मनि तिष्ठन्"[3] सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च" "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"[4] आदि श्रुतियाँ जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन बतलाती हैं ।

यहाँ यह शंका होती है कि जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन मानने पर तो विधिनिषेधात्मक वाक्यों के वैयर्थ्य का प्रसंग उपस्थित होगा ?

इसके समाधानार्थ भगवान बादरायण प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त करते हैं -"कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः[5] अर्थात् जीव का कर्तृत्व ईश्वर के संकल्पाधीन स्वीकार करने पर भी विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ नहीं होंगे क्योंकि जीवों द्वारा किये गये आद्य प्रयत्न के अनुसार ही भगवान उसे कर्म

- -

1. (क) परात्तुतच्छ्रुतेः, ब्रह्मसूत्र 2/3/40
   (ख) कर्तृत्वं चेश्वराधीनत्वम् ।
2. बृहदा० 5/4/22
3. बृहदा० 5/7/22
4. गीता 18/61
5. ब्रह्मसूत्र 2/3/41.

विरोध में प्रवर्तित करते हैं । ईश्वर की अनुमति के बिना जीव की प्रवृत्ति नहीं होती । जो जीव ईश्वर के अत्यन्त अनुकूल कार्यों को करता है उसे ईश्वर अपनी कृपा का पात्र बना लेता है और अपनी प्राप्ति के अनुकूल कार्यों के प्रति उसमें रुचि उत्पन्न कर तत्कर्मों में उसे प्रवृत्त करता है और जो जीव उसके अत्यन्त प्रतिकूल आचरण करते हैं उनकी रुचि ईश्वर शास्त्र - प्रतिषिद्ध-कर्मों में उत्पन्न कर उनसे वैसे ही कर्म करवाता है । इस प्रकार जीव की आद्य स्वातन्त्र्य शक्ति भी ईश्वर प्रदत्त है अतः उसकी स्वाधीनता भी ईश्वर - प्रदत्त है ।

आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की तरह सांख्याभिमत अचेतन प्रकृति का कर्तृत्व न स्वीकार कर चेतन जीव का ही कर्तृत्व स्वीकार करते हैं तथा आचार्य शंकर की तरह जीव-कर्तृत्व को औपाधिक न मानकर रामानुजाचार्य की भाँति उसे वास्तविक घोषित करते हैं । " कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् "[1] सूत्र के भाष्य में श्री वल्लभाचार्य जीव के कर्तृत्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में जीव का ही-कर्तृत्व स्वीकार करके अभ्युदय एवं निःश्रेयस फलों की प्राप्ति के लिए समस्त कर्मों का विधान किया गया है ।[2] कर्तृत्व की सिद्धि होने पर भोक्तृत्व की सिद्धि तो स्वयमेव हो जाती है, क्योंकि कर्म करने वाले को फलोपभोग करना

---

1. अणुभाष्य 2/2/33
2. जीवमेवाधिकृत्य वेदे अभ्युदयनिःश्रेयसफलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि

- अणुभाष्य 2/3/33

ही पड़ता है । इसी को आचार्य लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार विश्वकर्मा रथ-निर्माण कर उसमें घूम भी सकता है उसी प्रकार जीव कर्ता और भोक्ता दोनों हो सकता है ।[1] इस प्रकार आचार्य जीव का कर्तृत्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु रामानुजाचार्य की तरह ये भी जीव का स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं मानते अपितु इनके अनुसार भी जीव का कर्तृत्व ब्रह्म-प्रदत्त ही होता है । जीव में तो कर्तृत्व ब्रह्मांश होने के कारण माना जाता है ।[2] अतएव जीव के समस्त कार्य ब्रह्म को अर्पित होते हैं । जीव का कर्तृत्व कहने का आशय मात्र यही है कि कर्तृत्व जड़प्रधान का नहीं है अपितु चेतन जीव का है, अन्यथा कर्ता होने पर भी अपने कर्मों के प्रति उसे तनिक भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है अपितु उसकी कर्तृत्व शक्ति ईश्वर के ही अधीन है । आचार्य श्री का कथन है कि प्रयास करना तक ही जीव की सामर्थ्य है, उसके बाद उसके प्रयासों के अनुरूप कर्म करने की प्रेरणा ईश्वर द्वारा ही उसे प्राप्त होती है । इसी बात को लौकिक उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार प्रयास करते हुए बालक को पिता पदार्थों के गुण - दोष बताते हुए उसकी चेष्टाओं के अनुरूप उससे कार्य कराते है उसी प्रकार जीव के आद्यप्रयत्नों के अनुरूप ईश्वर उसे सदसद् कर्मों में प्रवृत्त करते हैं ।[3] इस प्रकार जीव जो कुछ भी करता है वह भगवदर्थ ही करता है,

---

1. अणुभाष्य 2/3/40
2. कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वादेश्वर्यादिवत् ।
   - अणुभाष्य 2/3/41
3. अणुभाष्य 2/3/42

ईश्वर जीव, जगत् के माध्यम से क्रीड़ा करता है । परतन्त्र जीव अज्ञानवशात् स्वयं को सर्वेसर्वा समझ लेता है यही उसका भ्रम है और यही उसके बन्धन का कारण है।

इस प्रकार जीव के कर्तृत्व के विषय में दोनों आचार्यों का मत एक सा ही है । दोनों ही आचार्य जीव के कर्तृत्व को वास्तविक तथा ईश्वराधीन स्वीकार करते हैं तथा अपने - अपने मतों को विभिन्न लौकिक व वैदिक उदाहरणों द्वारा पुष्ट भी करते हैं ।

जीव का बन्ध और मोक्ष :

जीव का जन्म और मृत्यु के चक्र में आवर्तित होना ही " बन्धन है । जन्म और मृत्यु शरीर का होता है अतः आत्मा का " शरीर के साथ सम्बन्ध " बन्धन है । आत्मा का शरीर - संयोग कर्म के कारण होता है । अतः परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु कर्मबन्धन से मुक्त होना आवश्यक है ।

कर्मों की विविधता के अनुरूप ही सृष्टि में देव, मनुष्य तथा पशुरूप की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है ।

आचार्य शंकर बन्धन का कारण अज्ञान को मानते हैं किन्तु रामानुज के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञानमात्र नहीं है अपितु कर्म भी है । कर्म के फलस्वरूप जीव को शरीर-प्राप्त होता है । शरीरयुक्त होने पर आत्मा का चैतन्य शरीर और इन्द्रियों से बद्ध हो जाता है । इस चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा अपना रूप समझने लगता है । अनात्म विषय में आत्मबुद्धि को अहंकार कहते हैं और यही

अविद्या है ।[1] इसी के कारण जीव का बन्धन होता है और फलस्वरूप वे जन्म और मृत्यु के चक्र में आवर्तित होते रहते हैं । इस प्रकार संसार दशा में शरीर प्राण, इन्द्रिय अन्त:करणादि से वह तादात्म्य स्थापित करके गमनागमन के चक्र में भ्रमण करता है तथा अनेक दु:खों का भागी बनता है । इन दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है । दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को "मोक्ष" कहते हैं ।

आचार्य के अनुसार मोक्ष का अर्थ 'जीव ब्रह्मैक्य' नहीं है अपितु जीव का "ब्रह्मभाव" को प्राप्त करना मोक्ष है । मोक्ष की प्राप्ति भगवद्भक्ति द्वारा ही होती है । इसकी चर्चा सविस्तार आगे के अध्यायों में की जायेगी । संक्षेप में यह कह सकते हैं कि रामानुज के अनुसार जीव का भव चक्र में फँसकर अनेक दु:खों का भोग ही "बन्ध" है । इस बन्ध का कारण अविद्या एवं तज्जन्य कर्म है तथा बन्धनिवृत्ति का उपाय आचार्य के अनुसार "भक्ति" है ।

आचार्य वल्लभ भी अविद्या को ही जीवों के बन्धन का कारण मानते हैं ।

अब तक के विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि जीवों का प्राकट्य भगवदर्थ ही हुआ है, जीव और जगत् की सृष्टि ईश्वर की क्रीड़ामात्र है ।

- -

1. शरीरागोचरा च अहंबुद्धिरविद्यैव । अनात्मनि देहे अहंभावकरणहेतुत्वात् अहंकार सूक्ष्मतया .... - श्रीभाष्य 1/1/1

समस्त क्रियाओं का कर्ता होने पर भी जीव का कर्तृत्व ईश्वर के ही अधीन है। जगत् में जो कुछ भी है वह सब भगवदर्थ ही है किन्तु जीव जागतिक पदार्थों में " भगवदीय बुद्धि " न रखकर " आत्मबुद्धि " स्थापित कर लेता है यही उसके बन्धन का कारण है।

आचार्य जीव को होने वाले भ्रम का कारण " सन्निपात " को मानते हैं। गुण व दोष एकीभूत होकर जब एकत्व प्राप्त कर लेते हैं तो अहंताममतात्मक व्यवहार होने लगता है, यह व्यवहार ही सन्निपात है - " सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्भव या मतिः।"[1]

यह सन्निपात दो प्रकार का होता है - अहंताममताभिमानरूप संकल्पात्मक तथा इन्द्रियव्यापारात्मक। इनमें से प्रथम प्रकारक सन्निपात से ही मतिविभ्रम होता है तथा जो जीव भगवत्कथा का श्रवण करते हैं तथा जिनका मन सदैव ईश्वर में ही अनुरक्त रहता है वे इस सन्निपात से मुक्त हो जाते हैं।[2]

आचार्य के अनुसार विद्या और अविद्या जीव को ही प्रभावित करती है, यद्यपि अविद्या और विद्या ब्रह्म की शक्तियाँ हैं तथापि जीव की शरीर प्राप्ति में अविद्या और विद्या ही कारण है।[3] प्राणाध्यासादि पाँच पर्वों वाली अविद्या

- -

1. " श्रीमद्भागवत " " आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन " - डा० राजलक्ष्मी वर्मा से उद्धृत।
2. श्रीमद्भा० /18/4
3. आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया देहलाभोऽविद्यया।
   - त०दी०नि० प्रकाश 1/35

जीव में द्वैतबुद्धि उत्पन्न करती है, परिणामतः जीव इस ब्रह्मात्मक जगत् को ईश्वर से भिन्न समझने लगता है । फलस्वरूप जन्म-मरण के चक्र आवर्तित होता रहता है । विद्या से इस अविद्या की निवृत्ति होती है । फलतः जीव जन्म - मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । मुक्ति के स्वरूप तथा मुक्ति प्राप्ति के साधनों की विवेचना आगे के अध्यायों में की जायेगी ।

विद्या से अविद्या का अपगम होता है तब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है और जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु विद्या के द्वारा अविद्या का पूर्णतः नाश नहीं होता क्योंकि विद्या और अविद्या माया का कार्य है । अविद्या का नाश मानने पर उसके कारण माया का भी नाश मानना पड़ेगा जबकि शुद्धाद्वैत मत में माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण सत्य है अतः यहाँ अविद्या का पूर्णतः नाश नहीं होता अपितु " उपशम " होता है । इस प्रकार अविद्याजन्य अध्यास का भी उपशम होने के कारण जन्ममरणाभावरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है । भगवत्प्राप्ति तो एकमात्र भक्ति द्वारा ही सम्भव है । भक्ति के स्वरूप व साधनों की चर्चा आगे के अध्याय में की जायेगी ।

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य जीवों के बन्धन का कारण अविद्या एवं तज्जन्य को स्वीकार करते हैं तथा इससे निवृत्ति का उपाय " भक्ति " मानते हैं ।

<u>जीव का बहुत्व :</u> रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य बहुजीववाद की धारणा के पोषक हैं । आचार्य रामानुज के अनुसार जीव एक नहीं अपितु "अनेक" है।[1]

---

1. श्रीभाष्य 1/2/1

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शरीर में भिन्न - भिन्न जीव हैं। उनके अनुसार प्रत्येक शरीर में स्थित जीव के लिए स्मृति, अनुभव, सुखदुख, इन्द्रिय और प्रयत्न आदि की व्यवस्था के कारण जीव परस्पर भिन्न व अनेक है। सौभरि आदि योगी ही अपवाद हैं जो अपने योगबल से एक ही समय में अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। जीव का अनेकत्व नैयायिक भी स्वीकार करते हैं - नानात् मानो व्यवस्थातः [1] ॥ सुख - दुःखादि की व्यवस्था होने से आत्मा अनेक है॥ सांख्यमतानुयायी भी जीव-अनेकात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं -

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ [2]

अर्थात् जन्म - मृत्यु और इन्द्रियों की व्यवस्था से एकसाथ प्रवृत्त न होने से, त्रैगुण्य की विषमता के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध है।

इस प्रकार जीव स्वयं किये गये कर्मों के आधार पर विभिन्न शरीर प्राप्त करके कर्मजन्यभोगों का भोग करता है। इनके कर्मकृत भोगों की समाप्ति के पश्चात् भी जीव स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्मशरीर के साथ अर्चिरादि मार्ग द्वारा लोकान्तर गमन करता है। [3]

---

1. वैशेषिक सूत्र 3/2/20
2. सांख्यकारिका 18
3. श्रीभाष्य 4/3/1

जीव के बहुत्व के सन्दर्भ में आचार्य वल्लभ का रामानुज से पूर्णतः मतसाम्य है। वे भी प्रत्येक शरीर में भिन्न - भिन्न जीव की मान्यता स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर की तरह एकजीववाद उनको स्वीकार नहीं है क्योंकि उनके मत में उपाधि के लिए कोई स्थान नहीं है। जीव ब्रह्म की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है तथा श्रुति इस अभिव्यक्ति का निर्देश बहुत्वविशिष्ट रूप से ही करती है - " यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा " श्रुति में बहुत्वसंख्याविशिष्ट रूप से कथन होने से तथा ब्रह्म से स्फुलिंगवत् विभाग होने के कारण जीव बहुत्व स्वीकार करना ही उचित है।[1] इसके अतिरिक्त जीव को ब्रह्म का स्वाभाविक अंश स्वीकार करने पर जीव का नानात्व मानना ही पड़ेगा।[2]

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों ही बहुजीववाद को स्वीकार करते हैं। वे प्रत्येक शरीर में भिन्न - भिन्न जीव की स्थिति अंगीकार करते हैं। आचार्य वल्लभ ने यद्यपि जीव बहुत्व के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा है तथापि उनके ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि वे भी बहुजीववाद के समर्थक हैं।

बृह्म- जीव सम्बन्ध :

जीव नित्य, स्वयंप्रकाश, मन-प्राण-इन्द्रिय से भिन्न नित्य, अणु है इसका निश्चय हो जाने के अनन्तर तथा जीव के कर्तृत्वादि का निर्धारण कर चुकने के बाद अब जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है इस पर विचार किया

---

1. आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन -डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० - 202
2. " एवं जीवानामंशत्वे जीवस्वरूपविचारेण नानात्ववादो " -भाष्य प्रकाश 2/3/53

जायेगा।

आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य दोनों ही जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वल्लभाचार्य तो उस सम्बन्ध को अंशांशिभाव की संज्ञा प्रदान करते हैं जबकि आचार्य रामानुज उसी को अंशांशिभाव, शेषशेषीभाव, नियम्यनियामकभाव, प्रकारप्रकारीभाव अनेक प्रकार से स्पष्ट करते हैं - अतः दोनों आचार्यों के अनुसार अंशांशिभाव का क्या अर्थ है, इस पर विचार किया जा रहा है -

रामानुजाचार्य के अनुसार अंशांशिभाव :

आचार्य रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है। यहाँ अंश का अर्थ खण्ड नहीं अपितु किसी वस्तु का " एकदेशीय " होना है। आचार्य ने शब्दों में " एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्यवस्तुनो विशेषणम् एव "[1] अर्थात् किसीवस्तु का एकदेशीय होना अंश होता है अतः एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण उसका अंश ही कहलाएगा। जिस प्रकार प्रभा प्रभावान् का, शक्ति शक्तिमान् का तथा शरीर - शरीरी का अंश है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अंश है तथा जैसे प्रभा, शक्ति, शरीर क्रमशः प्रभावान्, शक्तिमान् और शरीरी से भिन्न है फिर भी प्रभावान् आदि से अतिरिक्त प्रभा आदि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है वैसे ही अंश जीव भी अंशी ब्रह्म से भिन्न होने पर भी ब्रह्म से स्वतन्त्र अपनी सत्ता नहीं

- -

1. श्रीभाष्य - 2/3/45

रखता ।[1] पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि "[2] आदि श्रुतियाँ तथा " ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: आदि स्मृतियाँ भी जीव के ब्रह्मांश होने की पुष्टि करती हैं ।

यहाँ अंश और अंशी में पौर्वापर्यभाव नहीं है,ब्रह्म कभी अंशरूप विशिष्ट जीव नहीं बनता और इसीलिए वह अंशगत दोषों से भी कभी लिप्त नहीं होता ।

शरीर-शरीरी भाव :

आचार्य ने जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव सम्बन्ध को अनेक श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म तथा जीव-जगत् के मध्य कहीं आधाराधेयभाव तो कहीं शरीर-शरीरी-भाव, कहीं नियम्य-नियामक भाव, कहीं प्रकार-प्रकारीभाव के माध्यम से स्पष्ट किया है । आचार्य ब्रह्म को " शरीरी" तथा चिदचिद्रूप जीव, जगत् को उसका "शरीर " कहते हैं । " यस्यात्मा शरीरम् " ," एष स आत्मा अन्तर्याम्यमृत: " (बृह० 5/7/3)", यस्याव्यक्तं शरीरं यस्माक्षरं .... (सुबाल०,7)" आदि श्रुतियाँ भी जीव का ब्रह्म के शरीर रूप से कथन करती हैं । श्री सुन्दर रमैया के अनुसार जिस प्रकार शरीर जीव के आश्रित और जीव द्वारा नियंत्रित होता है या दूसरे शब्दों में जिस प्रकार जीव शरीर का नियामक होता है उसी प्रकार ईश्वर जीव का आश्रय तथा नियामक होता है ।[3]

1· एवं प्रभाप्रभाववद्रूपेण,शक्तिशक्तिमद्रूपेण शरीरात्मभावेन च अंशांशिभावं जगद्ब्रह्मणो: पराशरादय: स्मरन्ति"- श्रीभाष्य 2/3/4

2· पुरुष सूक्त , 3

3· Nature and Destiny of soul in Indian Philosophy-G.Sundara Ramaiah

शरीरत्व के लिए तीन गुणों का होना आवश्यक है -

1) शरीरी द्वारा नियम्य होना ।

2) शरीरी द्वारा धार्य होना ।

3) शरीरी का शेष होना ।

अत: जीव को ब्रह्म का शरीर मानने के कारण रामानुज जीव और ब्रह्म के मध्य नियम्य-नियामक, धार्यधारक भाव, शेषशेषी भाव सम्बन्ध की कल्पना करते हैं ।

नियम्य-नियामक भाव :

रामानुज जीव और ब्रह्म में नियम्य - नियामक " भाव सम्बन्ध भी स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार जीव ब्रह्म द्वारा नियमित होता है अत: वह ब्रह्म द्वारा " नियम्य " तथा ब्रह्म उसका " नियामक " है । श्री लोकाचार्य नियम्यत्व का लक्षण करते हुए कहते हैं - " नियाम्यत्वं नाम ईश्वरबुद्ध्यधीनसर्वव्यापारवत्त्वम् "[1] अर्थात् ईश्वर की बुद्धि (इच्छा) के अधीन सभी व्यापारों वाला होना ही जीव का " नियाम्यत्व " है ।

" य आत्मनि तिष्ठन् " श्रुति आत्मा अर्थात् जीव को ईश्वर के "शरीररूप" से निर्देश करती है तथा ईश्वर को " जीव की आत्मा " रूप से । जिसकी समस्त क्रियायें किसी अन्य के अधीन होती हैं वह नियाम्य होता है इस प्रकार आत्मा

---

1. तत्त्वत्रय, 38

परमात्मा द्वारा नियाम्य सिद्ध होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीर की समस्त चेष्टाएं तदन्तरकर्ता जीवात्मा द्वारा निर्देशित होती हैं उसी प्रकार जीवात्मा की समस्त क्रियाएं तन्नियामक ईश्वर के अधीन होती हैं अतः ईश्वर जीव का नियामक तथा जीव ईश्वर द्वारा नियाम्य सिद्ध होता है ।

धार्यधारक भाव :

ईश्वर के स्वरूप एवं संकल्प का अभाव होने पर नियत रूप से जीव की सत्ता का अभाव होना ही जीव का " परमात्मधार्यत्व " है । जीव की सत्ता परमात्मा के स्वरूप एवं संकल्प के अधीन होती है । अतएव वह परमात्मा का " धार्य " है । ईश्वर का शरीर होने के कारण आत्मा (जीव) भी ईश्वर द्वारा धार्य है ।" एष सेतुर्विधारणः"[1] 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गिसूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः '[2] आदि श्रुतियाँ निर्देश करती हैं कि परमात्मा अपने संकल्प रूपी प्रशासन द्वारा सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है । सम्पूर्ण जगत के परमात्मा का धार्य होने के कारण जीवात्मा भी परमात्मा का धार्य है तथा परमात्मा उसका धारक । अतः ईश्वर और जीव-जगत के मध्य " धार्य धारक भाव " सम्बन्ध भी है ।

शेषशेषीभाव :

इसके अतिरिक्त आचार्य ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए "शेषशेषीभाव " की कल्पना करते हैं । आचार्य रामानुज वेदार्थसंग्रह में शेष और

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद 4/4/22
2. वही , 3/8/9

शेषी का लक्षण इस प्रकार करते हैं - " जिसका उपयोग अपनी इच्छानुसार किया जाय उसे "शेष " कहते हैं तथा उससे जिसका अतिशयाधान होता है उसे "शेषी" कहते है । श्री भाष्यकार ईश्वर को "शेषी" तथा तदितर समस्त जड चेतन पदार्थ को "शेष" की संज्ञा प्रदान करते हैं । "पतिंविश्वस्यात्मा " "यस्यात्मा शरीरम्" ये श्रुतियाँ जीवात्मा को परमात्मा का "शेष " बतलाती हैं । दासता की चरमावस्था जहाँ पर सेवक, सेव्य की सेवा नि:स्वार्थ भाव से करता है, "शेषता" है। जिस प्रकार शरीर की कर्मों में प्रवृत्ति अपने अन्तर्वर्ती आत्मा के लिए होती है स्वार्थ के लिए नहीं उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का शेष होने के कारण केवल परमात्मा या ईश्वर की लीला का साधनमात्र है । आत्मा का स्वरूप है कि वह परमात्मा का यथेष्ट विनियोगार्ह रूप "शेष" है । ईश्वर जैसा चाहते हैं उससे उसी प्रकार का विनियोग करते हैं ।

<u>प्रकारप्रकारीभाव :</u>

आचार्य रामानुज ने जीव ब्रह्म सम्बन्ध को प्रकारप्रकारीभाव द्वारा भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।·समस्त अवस्थाओं में चिदचिद्रूप जीव और जगत् ब्रह्म का शरीर है , यह पहले भी कहा जा चुका है , शरीर होने के कारण ये दोनों ब्रह्म के " प्रकार " कहे गये हैं और ब्रह्म ही कार्यकारण अवस्था में जीव जगद्रूप से अवस्थित होने के कारण उनका "प्रकारी " कहा गया है । इस

1· परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेष: पर: शेषी"

- वेदार्थसंग्रह , पृ0 - 290

प्रकार ईश्वर और जीवजगत के मध्य " प्रकार - प्रकारी भाव सम्बन्ध " है ।
इसी को आचार्य ने विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी कहा है । प्रकार-प्रकारीभाव और
"विशेषणविशेष्यभाव में अन्तर मात्र इतना है कि प्रकार प्रकारी भाव सम्बन्ध नित्य
होने के साथ नित्य वस्तुओं के ही मध्य होता है किन्तु विशेषण- विशेष्य भाव
नित्यानित्य दोनों में सामान्यतया व्यवहृत है ।[1] इस प्रकार प्रकारी- प्रकारी भाव
की अपेक्षा विशेषण -विशेष्यभाव सम्बन्ध अधिक व्यापक है ।

इस प्रकार जीव ब्रह्म के अंशांशिभाव को आचार्य श्री ने विभिन्न दृष्टिकोणों
से स्पष्ट किया है । इस तरह जीव ब्रह्मांश तो सिद्ध हो गया किन्तु जीव को ब्रह्मांश
स्वीकार करने पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जिस प्रकार शरीर के हस्तादि
अंगों के दुःखी होने पर शरीरी को भी दुःखानुभव होता है उसी प्रकार जीव के
सुखदुःख तदंशी ब्रह्म में भी व्याप्त होंगे और ऐसा मानने पर सिद्धान्त दोष होगा ।
इस शंका के निवारणार्थ आचार्य रामानुज ब्रह्मसूत्र 1/1/1 के भाष्य में कहते हैं
कि ऐसी शंका करना उचित नहीं है, परमात्मा या ब्रह्म जीव, जगत् के विकारों
से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार शरीर में स्थित जीवात्मा शरीर
के विकारों से प्रभावित नहीं होता ।[2] इसके अतिरिक्त ऋषियों ने भी सर्वत्र अंशी
का दुःखराहित्य तथा अंश का दुःखभोग कहा है -

- -

1. आचार्य रामानुज का भक्ति सिद्धान्त -डा० राम किशोर शास्त्री ,पृ0- 117

2. दृष्टव्य श्रीभाष्य 1/1/1

" सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।[1]

वल्लभाचार्य के अनुसार अंशांशिभाव :

" अंशांशिभाव सिद्धान्त " शुद्धाद्वैत दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की तरह जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं । " अंशो नानाव्यपदेशात्[2] सूत्र के अनुसार आचार्य जीव को ब्रह्म का वास्तविक अंश मानते हैं । " ममैवांशो लोके जीवभूतः सनातनः [3]आदि श्रुतियाँ भी जीव का ब्रह्म के अंशरूप से कथन करती हैं ।

शंकराचार्य आदि केवलाद्वैतियों का आक्षेप है कि ब्रह्म तो निरवयव है अतः जीव उसका अंश कैसे हो सकता है ? "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" आदि श्रुतियाँ भी ब्रह्म के अकर्तृत्व तथा निरवयवत्व को सूचित करती हैं अतएव जीव ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता । इसके समाधानार्थ आचार्य वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म का सांशत्व और निरंशत्व तो लौकिक प्रमाणों से सिद्ध हो नहीं सकता, इसका ज्ञान तो एकमात्र वेदों से ही हो सकता है ।[4] श्रुति जैसा कहती है वैसा ही मानना चाहिए, यदि उसके सिद्धान्त में कहीं सन्देह हो तो वेदार्थ ज्ञान के लिए

---

1. कठोपनिषद 5/11
2. ब्रह्मसूत्र 3/2/ पर अणुभाष्य
3. श्रीमद्भागवद्गीता
4. अणुभाष्य 2/3/43

तत्सम्मत युक्ति का आश्रय लेना चाहिए । इस विषय में युक्ति यह है कि "विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गता: सर्वत: पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्" अर्थात् " ये समस्त जड़ और जीव परमात्मा से ही अग्नि से स्फुलिंगवत् छिटककर अलग हुए हैं । " सर्वत: पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात् " श्रुति इसी तथ्य की पुष्टि करती है कि निरिन्द्रिय होने पर भी ईश्वर का सृष्ट होना उनकी अलौकिकता तथा भगवत्ता का सूचक है अत: जीव ब्रह्म में अंशांशिभाव मानना सर्वथा तर्कसंगत है ।

इसके अतिरिक्त " मंत्रवर्णात् "[1] सूत्र के भाष्य में आचार्य भी कहते हैं कि पादोऽस्य विश्वाभूतानि " अर्थात् " इसके एक पाद में विश्व के समस्त भूत हैं" आदि वैदिक मंत्र में भी जीवों का " पादत्व" स्पष्टत: कथित है । अत: पादरूप से स्थित होने से उसका " अंशत्व " स्वत: सिद्ध है ।

आचार्य रामानुज की तरह वल्लभाचार्य भी अंश के दु:ख से अंशी के दु:खी होने का खण्डन करते हैं । उनके अनुसार जिस प्रकार हस्तादि अंश के कष्ट से शरीरी दु:खी होता है , उसी प्रकार अंश जीव के दु:खों की, तदंशी ब्रह्म में भी प्रसक्ति होगी यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सर्वरूप है ; सर्वरूप होने के कारण वह दु:खरूप भी है, इस तरह दु:ख भी उसका धर्म हुआ । शुद्धाद्वैत मत में दु:ख आनन्द का तिरोभावमात्र है अत: दु:ख का प्रतिकूल अनुभव नहीं होता । जीव को जो दु:खानुभव होता है वह भेदबुद्धि से

---

1. अणुभाष्य

होता है इसलिए जीव का ही दु:खित्व है, तदंशी ब्रह्म का नहीं।[1] "पिप्पल" आदि श्रुति में भी यही भाव अंकित है।

आचार्य वल्लभ जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव सम्बन्ध को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए मुण्डकोपनिषद में वर्णित "व्युच्चरण" श्रुति को आधार बनाकर सिद्ध करते हैं - "जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से सहस्रों अग्निस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन होते हैं[2] तथा जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग में तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं होता उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में भी तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है।

वल्लभ मत के अनन्य पोषक आचार्य श्री के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने अपने पिता के अंशांशिभाव सिद्धान्त का समर्थन करते हुए इनके सिद्धान्त का और भी दृढ़ीकरण किया है। श्री विट्ठलनाथ कहते हैं कि अग्नि रूप अंशी तथा स्फुलिंग रूप अंश में जो समान धर्म हैं वे इस प्रकार हैं -

- -

1. जीवस्यांशत्वे हस्तादिवत् तद्दु:खेन परस्यापि दु:खित्वं स्यादिति चेन्न। एवं परो न भवति। दिष्टत्वेन अनुभव इति यावत। ......दु:खादयोऽपि ब्रह्मधर्मा इति। अतो द्वैतबुद्धया अंशस्यैव दु:खित्वं न परस्य।

   - अणुभाष्य 2/3/46

2. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा:, सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:। तथाऽक्षराद्विविधा: सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति।।

   - मुण्डकोपनिषद 2/4/1

1. अंशत्व

2. अंशी से विभाग

3. अणुत्व

4. अंशी का अंश से महत्त्वपूर्ण होना

5. अंश की अंशी में पुनः प्रवेशयोग्यता

6. प्रविष्ट होने पर अभेदप्रतीतिविषयता तथा

7. प्रविष्ट होने पर पुनःनिर्गमन योग्यता

ये समस्त अपेक्षाएं अंशांशिभाव की हैं तथा जीव द्वारा पूर्ण भी होती हैं। श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ जीव का अंशत्व प्रतिपादित करती हैं, इसकी सिद्धि पहले ही हो चुकी है। व्युच्चरण श्रुति द्वारा स्फुलिंग - अग्नि और जीव - ब्रह्म तथा अंश-अंशी का विभाग प्रतिपादन किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् की श्रुति " आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः " तथा " बालाग्रशत भागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवस्य विज्ञेयः " आदि श्रुतियाँ जीव को अणु परिमाण बतलाती हैं। " अधिकं तु भेदनिर्देशात् " सूत्र अंश जीव की अपेक्षा अंशी ब्रह्म का अधिक महत्त्व प्रतिपादित करता है। " ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति " श्रुति जीव की ब्रह्म में पुनः प्रवेश-योग्यता का निर्देश करती है। " स यथा सैन्धवखिल्यउदके प्रास्त उदकमेवानुलीयते " श्रुति में ब्रह्मभाव होने पर जीव की अभिन्नता कही गयी है। "गति सामान्यात् " सूत्र में सूत्रकार ने भी जीव और ब्रह्म का अभिन्नत्व प्रतिपादित किया है। "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति " इस प्रकार उपक्रम करके "विज्ञातारमरे केन

विजानीयात् " श्रुति के द्वारा ब्रह्म के साथ जीव का एकत्व ही प्रकटित होता है ।[1]

इस प्रकार आचार्य विट्ठल ने ब्रह्म और जीव में अंशांशिभाव की सुदृढ़ स्थापना की । उनके अनुसार भक्त और भगवान् के मध्य जिस भिन्नता की आवश्यकता है वह अंशांशिभाव द्वारा ही पूर्ण होती है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज तथा आचार्य वल्लभ दोनों ने ही जीव का अंशत्व सिद्ध किया है । श्री रामानुज ने तो जीव और ब्रह्म के अंशांशिभाव को अनेक दृष्टिकोणों से सिद्ध किया है । अंशांशिभाव के द्वारा वे जीव की ब्रह्म से न्यूनता सिद्ध करते हैं उदाहरणार्थ ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा जीव अल्पज्ञ, ब्रह्म विभु है, जीव अणु इत्यादि । उनके अनुसार ब्रह्म अंशरूप विशिष्ट जीव नहीं बनता अर्थात् ब्रह्म स्वयं जीव रूप से आविर्भूत नहीं होता अपितु ब्रह्म में सदैव चित् तत्त्व विद्यमान ही रहता है जबकि आचार्य वल्लभ के अनुसार स्वयं ब्रह्म सिसृक्षा होने पर अपने आनन्दांश का तिरोभावकर सच्चित्प्रधान जीव रूप से आविर्भूत होता है। इसी प्रकार शरीर-शरीरीभाव द्वारा आचार्य यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जीव ब्रह्म का अंशस्वरूप है, वह अपने शरीरी ब्रह्म पर सर्वथा आश्रित है । नियम्य - नियामक भाव द्वारा वे सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं

---

1. विद्वन्मण्डनम् - सुवर्णसूत्रम् पृ० 173, 174, 175, " विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् का तुलनात्मक अध्ययन - आभा वर्मा, पृ० 164 से उद्धृत ।

अपितु ब्रह्म परतन्त्र है तथा विशेष्यविशेषण भाव या प्रकार-प्रकारीभाव द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार विशेषण या प्रकार का विशेष्य या प्रकारी के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार जीव भी अपने अस्तित्व के लिए अपने विशेष्य ब्रह्म पर पूर्णतः निर्भर है, ब्रह्म से इतर उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार आचार्य ने अलग - अलग दृष्टिकोणों से जीव - ब्रह्म सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।

जीव का ब्रह्माधीनत्व, ब्रह्म से न्यूनत्व, ब्रह्मांशत्वादि आचार्य वल्लभ भी स्वीकार करते हैं किन्तु जीव की इन समस्त विशेषताओं को उन्होंने मात्र अंशांशिभाव सम्बन्ध द्वारा एकमात्र अग्नि -स्फुलिंग दृष्टान्त के माध्यम से ही स्पष्ट कर दिया है। उदाहरणार्थ ब्रह्मांश जीव अपने अंशी से उसी प्रकार न्यून है जिस प्रकार अग्नि-स्फुलिंग अग्नि की अपेक्षा न्यून होता है तथा जिस प्रकार अग्नि से अलग स्फुलिंग का कोई अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्म से अलग जीव का कोई अस्तित्व नहीं है।

यद्यपि आचार्य शंकर तथा भास्कर भी अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं किन्तु उनका अंशत्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक है। रामानुज और वल्लभ को स्वीकृत अंशांशिभाव सिद्धान्त का सर्वप्रमुख साम्य यह है कि दोनों ही अंशत्व को वास्तविक स्वीकार करते हैं किन्तु इस अंशांशिभाव द्वारा रामानुज विशिष्टाद्वैत की सिद्धि करते हैं तो वल्लभ शुद्धाद्वैत की। रामानुज जीव को ब्रह्मात्मक मानने पर भी उसकी "विशेषण" अथवा " प्रकार " रूप से पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु वल्लभ को यह स्वीकार नहीं है। वे न तो जीव को " ब्रह्म प्रकार " ही मानते

है और न " अपृथक्सिद्ध विशेषण " ही । उनके अनुसार जीव ब्रह्म रूप से ही अस्तित्व रखता है । ब्रह्म से अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं है, अतः विशेषण-विशेष्य भाव या प्रकार - प्रकारीभाव के लिए दोनों में जिस अन्तर की अपेक्षा है वह वाल्लभ मत में सम्भव नहीं है और इस प्रकार रामानुज अंशांशिभाव द्वारा अपृथक्सिद्धि का प्रतिपादन करते है जबकि वल्लभ इसी सम्बन्ध द्वारा तदात्मकता का प्रतिपादन करते हैं ।

जीवों का वर्गीकरण :

रामानुज और वल्लभ ने जीवों की अनेक कोटियाँ निर्धारित की हैं । आचार्य रामानुज ने जीवों की त्रिविध श्रेणियों का उल्लेख किया है -

(1) नित्य जीव (2) मुक्त जीव (3) बद्ध जीव

नित्य जीव :

नित्य जीव वे हैं जिनका कभी भी प्रकृति से सम्बन्ध ही नहीं हुआ । वे कभी संसार चक्र में पड़े ही नहीं । ईश्वर की त्रिपाद विभूति में नित्य रहने वाले अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्य जीव हैं । ये कभी ईश्वर- प्रतिकूल आचरण नहीं करते , इनके ज्ञान का संकोच भी नहीं होता । इनका निवास स्थान वैकुण्ठ धाम है । ईश्वर की तरह लोककल्याणार्थ ये भी अवतार ग्रहण करते हैं तथा इनका यह अवतार कर्माधीन न होकर स्वेच्छया होता है ।

मुक्त जीव :

प्रकृति के सम्बन्ध से मुक्त, जीव "मुक्त जीव" कहलाते हैं ।[1] ये पहले कभी बद्ध थे किन्तु अब स्वकृत कर्मों के विपाक का फलोभोग कर चुके हैं तथा ईश्वरानुकूल कर्मों को करने के कारण ईश्वर - कृपा से संसार -चक्र से मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं । यद्यपि इन्हें भी ईश्वर तुल्य भोग प्राप्त है। किन्तु इनका ऐश्वर्य जगद् व्यापार से रहित है ।[2] मुक्त जीव भी लोक -कल्याणार्थ अवतार ग्रहण करते हैं तथा नित्य जीवों की भाँति इनका अवतार भी कर्माधीन नहीं अपितु ईश्वरेच्छया होता है। नित्य जीवों से इनका भेद यह है कि ये पहले ईश्वर प्रतिकूल कर्मों के परवश होकर जन्म-मृत्यु चक्र में आवर्तमान हुए हैं जबकि नित्य जीव न कभी कर्माधीन शरीर-बन्धन में पड़े हैं और न पड़ेंगे ।

बद्ध जीव :

संसार में रहने वाले कर्मबन्धन से युक्त जीव "बद्ध जीव" कहलाते हैं । लोकाचार्य कहते हैं - संसारिणो बद्धा इत्युच्यन्ते[3] अर्थात् संसार में रहने वाले, प्रकृति संसर्ग से युक्त जीव" बद्ध जीव" कहलाते हैं । ये अनादि काल से संसार सागर में निमग्न रहते हैं । प्रकृति-सम्बन्ध के कारण जीव अनात्म देहादि को आत्मा समझने लगता है तथा पुण्यपापरूप कर्मों का आचरण करता है । इन कुत्सित कर्मों के कारण ही उसका " आत्मा ० "[4] अर्थात् यह आत्मा स्वभावतः कर्म बन्धन -

---

1· "मुक्तत्वं नाम प्रकृतिसंसर्ग प्रध्वंसाभाववत्त्वम् , तत्त्वत्रय, पृ0-92

2· श्रीभाष्य 4/4/21

3· तत्त्वत्रय, 43

4· छान्दोग्य 8/1/5

विनिर्मुक्त, जरा, मृत्यु, शोक, बुभुक्षा, तथा पिपासा से रहित एवं सत्यकाम तथा सत्यसंकल्पों वाला है " श्रुति में वर्णित जीव का वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है । फलतः वह आध्यात्मिक, आधिदैविक, तथा आधिभौतिक तापत्रय रूपी क्लेश, कर्म, विपाक तथा उनकी वासना से कलुषित अन्तःकरणवाला स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप सुख, दुःख का भोग करता है ।

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते ।
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।[1]

अर्थात् साथ - साथ रहने वाले दो भिन्न सुपर्ण (जीवात्मा और परमात्मा) एक शरीर रूपी वृक्ष में निवास करते हैं उनमें एक (जीवात्मा) अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) कर्मों के फलों से असम्पृक्त रहकर देदीप्यमान रहता है " इस श्रुति में जीव की बद्धावस्था का वर्णन किया गया है ।

बद्ध जीव स्वकृत कर्मों के अनुरूप अनेक योनियों को प्राप्त करते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद्[2] में " साधुकारी0" इत्यादि श्लोक में वर्णित है कि सत्कर्मों को करने वाला ब्राह्मणादि शरीर से युक्त होता है, पाप कर्मों को करने वाला चाण्डालादि कुत्सित शरीर से युक्त होता है, पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से जीव पुण्यात्मा तथा

---

1. मुण्डकोपनिषद् 3/1/1
2. बृहदा0 4/4/5

वेदविरोधी कर्मों को करने वाला पापी होता है ।

बद्ध जीव चार प्रकार के शरीरों को प्राप्त करते हैं - जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज ।

देव और मनुष्य जरायुज हैं, तिर्यक् आदि जरायुज, अण्डज और स्वेदज तीनों होते हैं तथा वृक्षादि स्थावर उद्भिज होते हैं ।

बद्धजीवों के भेद :

बद्ध जीवों के भी शास्त्रवश्य और शास्त्रावश्य, ये दो प्रकार के भेद होते हैं । मनुष्यादि शास्त्रवश्य तथा पशुपक्षी शास्त्रावश्य जीव हैं । शास्त्रवश्यों के भी दो प्रकार - बुभुक्षु और मुमुक्षु हैं । बुभुक्षु जीव धर्मार्थकामपरायण होते हैं और मुमुक्षु मोक्षपरायण । धर्मपरायण जीव भी द्विविध होते हैं - देवतान्तर भक्त और भगवद्भक्त । भगवद्भक्तों के भी आर्त्त, जिज्ञासु, और अर्थार्थी, ये तीन भेद हैं तथा मुमुक्षु भी कैवल्यपरायण तथा मोक्षपरायण- दो प्रकार के होते हैं । मोक्षपरायण जीवों में भक्त और प्रपन्नरूप से दो प्रकार होते हैं जिनमें व्यासादि साधनभक्तिनिष्ठ माने जाते हैं और नाथमुनि साध्यभक्तिनिष्ठ ।

प्रपन्नों के भी धर्मार्थकामाभिलाषी और मोक्षाभिलाषी ये दो भेद होते हैं । मोक्षाभिलाषी प्रपन्न भी द्विप्रकारक होते हैं - एकान्ती तथा परमैकान्ती । इनमें से जो मोक्ष के साथ अन्य फल की भी अभिलाषा करते हैं वे एकान्ती तथा

एकमात्र मोक्ष की ही इच्छा करने वाले परमैकान्ती कहलाते हैं । परमैकान्ती प्रपन्न भी दृप्त और आर्त्त दो प्रकार के होते हैं - प्रारब्ध कर्मों के फलभोग के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करने वाले दृप्त परमैकान्ती तथा तत्काल मोक्ष चाहने वाले आर्त्त परमैकान्ती । इस प्रकार बद्ध जीवों के इतने भेद - प्रभेद हैं । इनका यह वर्गीकरण निम्नतालिका से और भी स्पष्ट हो सकता है -
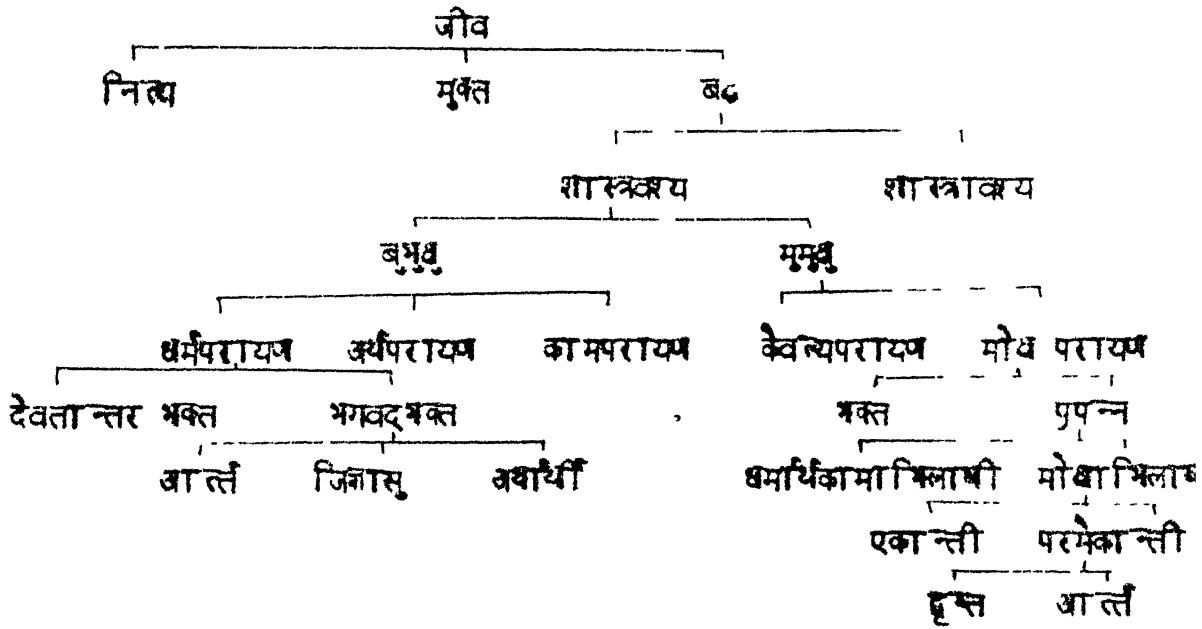
इस प्रकार रामानुजाचार्य के दर्शन में जीवात्मा का स्वातन्त्र्य तथा दैवी आधिपत्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता के लिए पूर्णरूप से ईश्वर पर आधारित है । ईश्वर ही यह निर्णय करता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है ? उन्हें पंचतत्त्वों से निर्मित आवरण अर्थात् शरीर प्रदान करता है, कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है, ईश्वर ही अन्ततः जीवात्माओं की स्वतन्त्रता और बन्धन का हेतु है ।

आचार्य वल्लभ ने भी रामानुजाचार्य की तरह जीवों के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं -

(1) शुद्ध (2) संसारी और (3) मुक्त

शुद्ध जीव :

शुद्ध जीव वे हैं जो अविद्या के सम्पर्क से पूर्व अर्थात व्युच्चरण के समय आनन्दांश के तिरोहित होने से पूर्व, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त होते हैं इन जीवों के ऐश्वर्यादि षड्गुण अविद्या द्वारा मलिन नहीं हो पाते।

संसारी जीव :

ब्रह्म से आविर्भूत होने के समय आनन्दांश का तिरोभाव हो जाने के कारण अविद्या के संसर्ग के परिणामस्वरूप जिनके ऐश्वर्यादि गुण तिरोहित हो जाते हैं वे " संसारी जीव " कहलाते हैं। ये जीव अविद्या के कारण अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझने लगते हैं तथा जन्म - मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। रामानुज के बद्ध जीवों से इनका साम्य है। रामानुज के अनुसार जो स्थिति बद्ध जीवों की है, वही स्थिति वाल्लभमत में संसारी जीवों की है।

मुक्त जीव :

वे जीव जो संसार दशा में अनेक कष्टों का भोगकर और तदनुसार स्वयं को दीन, हीन, संतप्त जानकर भगवदनुग्रह द्वारा भगवान की शरण में आ जाते हैं, वे ईश्वरकृपा से माया से मुक्त होने पर अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं फलतः भवचक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं वे " मुक्त जीव " कहलाते हैं। मुक्त

जीव दो प्रकार के होते हैं - जीवन्मुक्त और केवलमुक्त ।

जो जीव शरीर की स्थिति रहने पर भी मुक्त हो जाते हैं वे जीवन्मुक्त तथा जो देहपात के अनन्तर मुक्त होते हैं वे केवलमुक्त कहलाते हैं ।

संसारी जीव भी दो प्रकार के होते हैं - दैवी जीव और आसुर जीव ।

इनमें दैवी जीव तो मोक्षप्राप्ति के उपयुक्त होते हैं तथा आसुर जीव सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं, दैवी जीव भी दो प्रकार के होते हैं -

मर्यादाजीव और पुष्टिजीव ।

मर्यादा जीव :

ये वैदिक विधि - विधान में ही विश्वास रखते हैं तथा भगवान के अनुग्रह की अपेक्षा प्राणिमात्र द्वारा विहित प्रयासों पर अधिक विश्वास करते हैं ।

पुष्टि जीव :

ये जीव मात्र भगवदनुग्रह पर ही विश्वास रखते हैं । इन जीवों की उत्पत्ति सच्चिदानन्द भगवान के शरीर से मानी जाती है । पुष्टि जीवों के भी दो प्रकार होते हैं - शुद्ध तथा मिश्र ।

शुद्ध पुष्टि जीव :

इस प्रकार के जीव संसार में लिप्त नहीं होते तथा ईश्वर की माया शक्ति से भी प्रभावित नहीं होते फलतः उनके षड्गुणों का भी नाश नहीं होता । ये जीव गोलोक में श्रीकृष्ण के साथ उनकी नित्य लीला में रमण करते हैं । इनकी

सृष्टि इसीलिए होती है कि वे गोलोक में ईश्वर की दिव्य लीला में सहायक हों। इस प्रकार के जीव सर्वोत्तम जीव कहलाते हैं ।

मिश्र पुष्टि जीव :

इस प्रकार के जीवों को उनके द्वारा किये गये शुभ कर्मों के फलोपभोग के लिए संसार में जन्म लेना पड़ता है, ये तीन प्रकार के होते हैं -

(1) पुष्टिपुष्टि जीव :

ये सर्वज्ञ होते हैं तथा भगवान की प्रकृति और उनके गुणों से अवगत होते हैं । ये स्वयं द्वारा किये गये दोष तथा उनके परिहार के उपाय भी जानते हैं किन्तु यह स्थिति ईश्वर के अतिशय अनुग्रह द्वारा ही जीव को प्राप्त होती है ।

(2) मर्यादा पुष्टि जीव : ये भगवद् गुणों के ज्ञाता होते हैं । भगवद्धर्म में उनकी रति होती है।इस प्रकार के जीव भगवान के गुणों का गान करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं ।

(3) प्रवाह पुष्टि जीव : ये सदैव सत्कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहते हैं । ये सांसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिए नियमानुसार भगवान की सेवा पूजा आदि करते हैं ।

ये तीनों प्रकार के जीव पुष्टि भक्ति द्वारा शुद्ध जीवों की श्रेणी प्राप्त करते हैं । मर्यादा और प्रवाह मार्गों का अनुसरण करने पर ये "मिश्र पुष्टि जीव" कहे जाते हैं । ये जीव लौकिकालौकिक कर्मों का अनुष्ठान तो करते हैं किन्तु इनके

फलों के प्रति आसक्त नहीं होते अपितु प्रत्येक परिस्थिति में उनका लक्ष्य एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होता है । आचार्य वल्लभ ने ऐसे जीवों को "चर्षणी " की संज्ञा प्रदान की है ।[1]

मर्यादा जीव ज्ञानमार्गी होते हैं अतः ये वैदिक शास्त्रों के विधि-निषेध तथा उसके फलों के प्रति आसक्त होते हैं । ऐसे जीव यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं । परब्रह्म की प्राप्ति तो भक्ति अथवा पुष्टि द्वारा ही होती है, वैदिक साधनानुष्ठान से नहीं ।

प्रवाह मार्गी जीव सत्प्रधान तथा ज्ञान एवं आनन्द से रहित होते हैं ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता में जिन जीवों का वर्णन " प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च " कहकर किया गया है उन्हीं को वल्लभाचार्य ने " असुर " की संज्ञा प्रदान की है । इनकी रचना ईश्वर के संकल्प द्वारा माया से होती है ।[2] फलतः ये जन्म - मरण चक्र में आवर्तित होते रहते हैं । ऐसे जीव संसार को ही श्रेष्ठ समझते हैं इसलिए नरक को प्राप्त होते हैं । अच्छे संस्कार प्राप्त होने पर असुरत्व नष्ट होता है फलतः असत्कर्मों से छुटकारा पाने पर इनका भी मोक्ष हो जाता है ।

दुर्ज्ञ जीवों के शरीर की आकृति भयानक होती है । इनकी अन्तःप्रकृति भी आसुरी होती है ।

---

1. सर्वेषां नरके वासस्तमोवाक्प्रतिपादके । नरकात्पुनरावृत्तिर्नायोनिषु सम्भवः ।।
   - त०दी०नि०,सर्व निर्णय प्रकरण, प्रकाश, पृ०- 30।
2. तथा च इच्छामात्रेण निमित्तेन,मायोपादानकं प्रवाहं सृष्टवान् ।
   न तु स्वयं तत्र प्रविष्टः " - वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, राधारानी
   अग्रवाल , पृ० - 12।

जीवों का यह विभाजन निम्न तालिका से समझा जा सकता है -
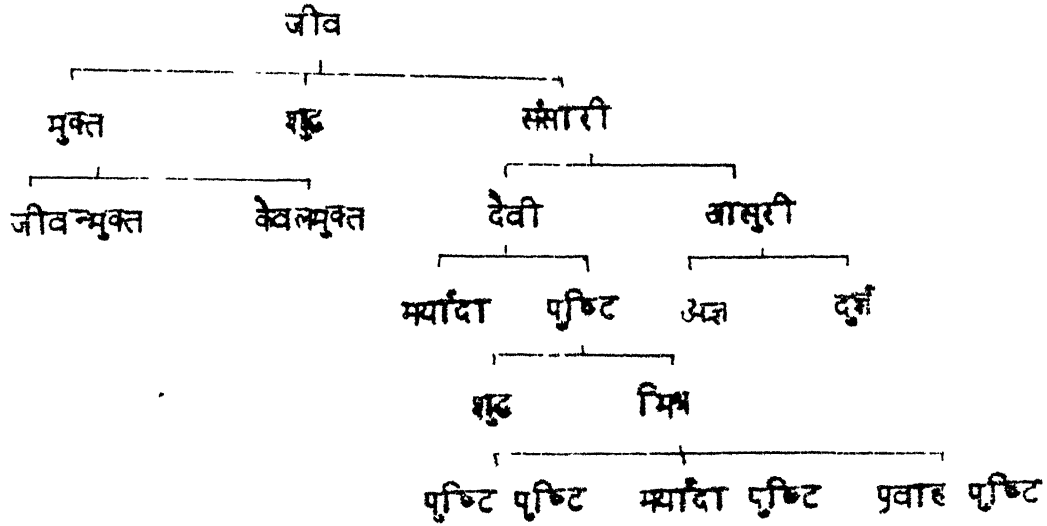
इस प्रकार आचार्य रामानुज व आचार्य वल्लभ ने जीवों का वर्गीकरण भिन्न - भिन्न प्रकार से किया है। यद्यपि इनका विभाजन भिन्न प्रकार का है तथापि ध्यान देने पर यही प्रतीत होता है कि नाम चाहे अलग - अलग हों, विभाजित जीवों के गुणों में पर्याप्त समानता है जैसे रामानुज ने जिन्हें "नित्य जीव " कहा उन्हें ही वल्लभ ने "शुद्ध जीव " की संज्ञा दी। रामानुज ने जिन्हें 'बद्ध' कहा, वल्लभ ने उन्हें ही संसारी कहा। थोड़ा बहुत अन्तर जो दिखाई पड़ता है वह दोनों की स्वीकृत साधना में भेद के कारण है अन्यथा मूलतः दोनों का विभाजन बहुत कुछ एक सा ही है।

निष्कर्ष :

रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही वैष्णव वेदान्त के महान विचारक हैं। उनके सिद्धान्तों में विशेष विरोध नहीं है। इनका घोर विरोध तो प्रायः शंकराचार्य के सिद्धान्तों के ही प्रति है।

रामानुज एवं वल्लभाचार्य दोनों ही जीव को सत्य मानते हैं । वे जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं । रामानुज कहते हैं कि चित् तत्त्व जीवात्मा है, यह देवादि देह से विलक्षण, नित्य, अणु, स्वप्रकाश, ज्ञानमात्रस्वरूप है ।

वल्लभ भी रामानुज की तरह जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं, उनके विचार से जीव ब्रह्म का सत् चित् प्रधान अंश है । वह ब्रह्म से उसी प्रकार आविर्भूत होता है जिस प्रकार अग्निपुंज से स्फुलिंग । यहाँ पर ध्यातव्य है कि रामानुज और वल्लभ में यहाँ शब्द भेद के कारण ही भिन्नता प्रतीत होती है यथा रामानुज जीव को ब्रह्म का शरीर मानते हैं , वह अंश रूप से स्वतन्त्रसत्तावान् है किन्तु ईश्वर ही उसके समस्त कर्मों का नियंत्रक है, जबकि वल्लभ मानते हैं कि अंशी ब्रह्म के गुण अंश में विद्यमान होते हैं किन्तु अपनी सत्ता के लिए वह ब्रह्म पर ही आश्रित होता है अर्थात् जीव जीवरूप से सत्य नहीं है अपितु वह ब्रह्मरूप से ही सत्य है ।

जीवात्मा का विवेचन करते हुए रामानुजाचार्य ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं यथा आत्मा शरीर नहीं है, आत्मा इन्द्रिय नहीं है, आत्मा मन नहीं है, तथा आत्मा मन और प्राण से भी भिन्न है। वे कहते हैं जिस प्रकार माला का सूत्र सर्वदा अनुवृत्त होता है उसी प्रकार " अहंरूप " से अनुवर्तमान तत्त्व ही "आत्मा" है और यह ज्ञाता, भोक्ता, स्वयंप्रकाश, नित्य, अनेक और अणु परिमाण वाला है ।

वल्लभाचार्य ने अपनी जीव सम्बन्धी विचारधारा के अन्तर्गत शंकराभिमत प्रतिबिम्बवाद एवं आभासवाद का खण्डन किया है । यद्यपि रामानुज भी जीव

को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब या आभास नहीं स्वीकार करते किन्तु उन्होंने कहीं इसका स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है यही उनके सिद्धान्त की विलक्षणता है । इसी क्रम में मैं यह भी कहना चाहूँगी कि आचार्य रामानुज की भाँति वल्लभाचार्य भी जीव को शरीर, इन्द्रिय, मनस्, प्राण एवं ज्ञान से भिन्न स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने शास्त्र विवेचना के मध्य इस तथ्य का उल्लेख कहीं शब्दशः नहीं किया है ।

इस प्रकार दोनों ही आचार्य जीव को ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं ।

रामानुज और वल्लभाचार्य दोनों ही जीव को नित्य एवं अणु-परिमाण वाला स्वीकार करते हैं । रामानुज कहते हैं कि एक ही द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्य कहलाती है , वही स्थिति जीव की भी है किन्तु वियदादि की तरह जीव की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की जाती । वल्लभाचार्य जीव को ब्रह्म का कार्य नहीं मानते क्योंकि कार्य मानने पर तो वह अनित्य हो जायेगा और जीव के अनित्य होने पर तदंशी ब्रह्म में भी अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी और इस प्रकार शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ही बाधित हो जायेगा ।

जीव का परिमाण दोनों ही आचार्य "अणु " स्वीकार करते हैं और वह अपने चैतन्य गुण के माध्यम से समस्त शरीर में व्याप्त रहता है । बस दोनों के मतों में अन्तर यह है कि आचार्य रामानुज तो मुक्त दशा में भी जीव का परिमाण अणु ही स्वीकार करते हैं जबकि आचार्य वल्लभ मुक्त दशा में जीव का उभय परिमाण स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार मुक्त दशा में जीव में भगवद्धर्मों का आवेश होने

के कारण भगवान के व्यापकत्व का जीव में व्यपदेश होता है । इस प्रकार वस्तुत: तो आचार्य वल्लभ जीव को मुक्ति की अवस्था में भी अणु परिमाण ही स्वीकार करते हैं, विभुत्व का तो उपचारमात्र कहते हैं ।

दोनों ही आचार्य जीव का स्थान हृत्प्रदेश ही स्वीकार करते हैं ।

रामानुज के अनुसार आत्मा स्वयं प्रकाश है, जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार आत्मा को भी प्रकाशित होने के लिए अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती । आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व को सिद्ध करने के लिए रामानुज ने गम्भीर शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है ।

आचार्य वल्लभ भी आत्मा को स्वयंप्रकाश मानते हैं किन्तु उन्होंने जीव के स्वयंप्रकाशत्व की विवेचना रामानुज के समान विस्तृत रूप से नहीं की है ।

रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य जीव के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को वास्तविक एवं ईश्वराधीन मानते हैं ।

दोनों आचार्य अविद्या और तज्जन्य कर्म को जीव के बन्धन का कारण तथा विद्या को बन्धनिवृत्ति का उपाय स्वीकार करते हैं । विद्या के द्वारा स्वचक्र से मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है किन्तु दोनों आचार्यों के अनुसार 'भगवत्प्राप्ति एकमात्र ब्रह्म द्वारा ही सम्भव है ।

जीव बहुत्व की धारणा के सन्दर्भ में दोनों ही आचार्य पूर्णतया एकमत हैं। इसी प्रकार दोनों ही जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं, भेद मात्र इतना है कि वल्लभाचार्य ने तो जीव एवं ब्रह्म सम्बन्ध को अंशांशिभाव का नाम दे दिया किन्तु रामानुजाचार्य ने उसी सम्बन्ध को अंशांशिभाव, शेषशेषीभाव, नियाम्य-नियामकभाव, प्रकार - प्रकारी भाव की संज्ञा देकर विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।

रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने जीवों की गुणवत्ता के अनुरूप उन्हें विभिन्न कोटियों में वर्गीकृत किया है। रामानुज जहाँ उन्हें नित्य, मुक्त एवं बद्ध जीव की संज्ञा देते हैं वहीं वल्लभाचार्य उन्हें शुद्ध, संसारी एवं मुक्त जीव का नाम देते हैं।

xxxxxxx

षष्ठम अध्याय

आलोच्य दर्शनों में सृष्टि विचार

व्यक्त और अव्यक्त - ये दो तत्त्व ही सम्पूर्ण दार्शनिक विचारणा के प्रमुख बिन्दु हैं । इस सम्पूर्ण व्यक्त जगत का आधार क्या है, इसका कर्ता, नियन्ता क्या कोई अव्यक्त तत्त्व है और यदि है तो उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है, ऐसे अनेक प्रश्न मानव मन को उद्वेलित करते रहते हैं । यही वे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर देने में सभी दार्शनिकों ने अपनी बुद्धि - विवेक का अधिकाधिक प्रयोग किया है । व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्धों की विवेचना ही विभिन्न मतवादों का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है । यदि सूक्ष्म रूप से अवलोकन किया जाय तो यही परिलक्षित होता है कि सत्य की खोज तथा उसके प्रतिपादन में जितनी महती भूमिका अव्यक्त की है उतनी ही व्यक्त की भी है । देखा जाय तो व्यक्त ही अव्यक्त की जिज्ञासा का मूल प्रेरक है । हम यह भी कह सकते हैं कि अव्यक्त का साक्षात्कार इस व्यक्त के आधार और स्पष्टीकरण के रूप में ही सम्भव हो पाता है ।

अब प्रश्न उठता है कि व्यक्त और अव्यक्त क्या हैं ? व्यक्त से तात्पर्य है- इन्द्रियगोचर समस्त प्रपंच तथा इस व्यक्त प्रपंच या सृष्टि के मूल आधार के रूप में जिस चेतन सत्ता की कल्पना की जाती है वह इन्द्रियातीत होने के कारण "अव्यक्त" कहलाती है । वेदान्त दर्शन में इस चेतन सत्ता के लिए प्रायः ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, शब्दों का प्रयोग किया गया है । विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत दर्शनों के अनुसार ब्रह्म की स्वरूप समीक्षा तृतीय अध्याय में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है । सम्प्रति प्रस्तुत अध्याय में दोनों मतवादों के अनुसार व्यक्त जगत की विवेचना की जा रही है ।

वेदान्त दर्शन के सभी मतवादों में व्यक्त अर्थात् दृश्यमान प्रपंच को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है । विभिन्न मतवादों में इस अभिव्यक्ति का स्वरूप भले ही भिन्न - भिन्न हो, किन्तु सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, इस विषय में समस्त वेदान्त दार्शनिकों में मतैक्य है ।

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य ने भी सृष्टि को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति माना है । उनके अनुसार यह जगत् ब्रह्म की ही अवस्था विशेष है । सिसृक्षा होने पर ब्रह्म स्वयं ही इस जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् का कारण है ।

आचार्य शंकर भी यद्यपि सृष्टि को ब्रह्म की अभिव्यक्ति अतएव ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं किन्तु उनको अभिमत सृष्टि सत्य न होकर विवर्त्तरूपा है अर्थात् उनके अनुसार दृश्यमान सम्पूर्ण प्रपंच रज्जु में कल्पित सर्प की भाँति ब्रह्म का विवर्त्तमात्र है । शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, वह तो न किसी का कारण है और न ही कार्य है[1] अपितु मायोपहित ब्रह्म ही सृष्टि का कर्त्ता व कारण है । इस प्रकार शंकर को मान्य सृष्टि वास्तविक नहीं, अपितु औपाधिक है । मायोपाधि के नष्ट होते ही इसका भी नाश हो जाता है । आचार्य तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - " ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ......। वे ब्रह्म की ही एकमात्र वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हैं, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह रज्जु

---

1. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते - श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8

में प्रतीयमान सर्प के समान मिथ्या है । अतएव समस्त प्रपंच भी ब्रह्म में प्रतीयमान ब्रह्म का विवर्त्तरूप होने के कारण मिथ्या है ।

रामानुजाचार्य तथा बल्लभाचार्य दोनों ही आचार्य शंकर के इस "जगत मिथ्यात्ववाद" के कट्टर विरोधी हैं । उनके अनुसार जगत ब्रह्म की ही अवस्था विशेष होने के कारण सत्य है । यह ब्रह्म की औपाधिक प्रतीति न होकर वास्तविक अभिव्यक्ति है फलत: यह भी उतनी ही सत्य है जितना कि ब्रह्म । इस प्रकार रामानुज और बल्लभ दोनों ही आचार्यों के अनुसार यह जगत सत्य है तथा इसका रचयिता ब्रह्म ही है ।

जगत् का स्वरूप :-

आचार्य रामानुज जगत को ईश्वर का 'विशेषण' या 'प्रकार' मानते हैं । उनके अनुसार ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है । आचार्य चित जीव की तरह अचित् जगत को भी ईश्वर का शरीर मानते है । "जगत्सर्वं शरीरं ते" अर्थात् सारा जगत तुम्हारा शरीर है, तत्सर्वं हरेस्तनु:, यह सब हरि का शरीर है इत्यादि श्रुतिवाक्य भी जगत का ब्रह्म के शरीर रूपसे कथन करतें है ।

ईश्वर का शरीर होने के कारण ये नित्य एवं सत्य है । आचार्य यद्यपि चिदचिद को सत्य मानते हैं तथापि उनके अनुसार ये दोनों वस्तु रूप से सत्य नहीं हैं । अपने अस्तित्व के लिए ये सर्वथा ईश्वर पर आश्रित रहते हैं । ये दोनों (चिद - और अचिद) ब्रह्म के शरीरमात्र रूप से अपना अस्तित्व रखते हैं । जिस प्रकार शरीर

शरीरी से स्वतन्त्र नहीं होता उसी प्रकार चिदचिद भी ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं हैं। ये ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म इनकी आत्मा या नियामक शक्ति है। आचार्य के अनुसार वेदान्त शास्त्र स्थूल-सूक्ष्म चेतन-अचेतन समस्त को परमात्मा का शरीर बतलाता है।[1]

ध्यातव्य है कि यहाँ "शरीर" शब्द का अर्थ पञ्चतत्व[2] निर्मित लौकिक विग्रह नहीं है अपितु यहाँ शरीर कहने का अभिप्राय है कि यह सारा जगत् परं पुरुष परमात्मा से नियंत्रित, धारित और हर प्रकार से अधीन है इसीलिए इसे उनका शरीर कहा गया है।[3]

"तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्यासच्चत्यच्चाभवत" श्रुति में स्पष्ट रूप से शरीर रूपी जगत् में परब्रह्म का आत्मरूप से प्रवेश बतलाया गया है, इससे ज्ञात होता है कि कार्यावस्थ और कारणावस्थ जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म सब कुछ परमात्मा का शरीर है।[4] श्रीमद्भगवद्गीता में भी आचार्य कहते हैं कि नामरूपविभाग से रहित अत्यन्त सूक्ष्म जड़चेतन वस्तुमात्र जिसका शरीर है, ऐसे सत्य संकल्प श्री वासुदेव भगवान् ही, " मैं विविध नामरूपों में विभक्त स्थूल जड चेतन शरीरवाला होऊँ " इस प्रकार का संकल्प करके मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि विचित्र जगत् को अपना

---

1. श्रीभाष्य पृ0- 659, ललितकृष्ण, गोस्वामी
2. "क्षितिजलपावकगगनसमीरा" इन पाँच तत्वों से शरीर का निर्माण होता है।
3. "......अतः सर्वं परं पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्। - श्रीभाष्य - 2/1/9
4. श्रीभाष्य , पृ0- 710

शरीर बनाये हुए स्थित है ।[1]

इसप्रकार आचार्य रामानुज मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब 'ब्रह्म का 'शरीरभूत' है ।

आचार्य सृष्टि के पूर्व भी जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं । सृष्टि से पूर्व वह अपने कारण ब्रह्म में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है, उस समय उसमें नामरूप का भेद नहीं रहता, सृष्टिकाल में वही नामरूपविभागयुक्त होकर व्यक्त होता है । इस प्रकार आचार्य के अनुसार "नामरूप विभाग रहित सूक्ष्मचिद-चिदविशिष्ट" ब्रह्म कारण तथा "नामरूपविभागयुक्तस्थूल चिदचिद्विशिष्ट" ब्रह्म कार्य है ।[2] "पटवच्च (ब्रह्मसूत्र 2/1/19) की व्याख्या में आचार्य कहते हैं कि जैसे सूतों की विशेष बुनावट को वस्त्र कहा जाता है उसी प्रकार ब्रह्म भी विशिष्टनामरूप वाले होकर जगत् कहलाते हैं ।[3] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही कार्य और कारण दोनो है तथा सृष्टि के बाद ही नही, सृष्टि के पूर्व भी जगत सत रूप से विद्यमान रहता है ।

" असद वा इदमग्र आसीत ------" आदि श्रुतिवाक्यों में जो कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व यह जगत असत था, यहाँ असत शब्द का अभिप्राय जगत के असत्त्व से नही है अपितु वस्तु के धर्मान्तरीय रूप से है । कहने का तात्पर्य यह है कि असत शब्द का अर्थ जगत के नामरूपविभागानर्हत्व से है अर्थात जगत की सूक्ष्मावस्था

1. श्रीमद्भगवदगीता 9/15 पर रामानुज भाष्य
2. तदेव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्न प्रकृतिपुरुष शरीरं ब्रह्म कारणावस्थानम् । नानारूपविभागविभक्तस्थूलचिदचित्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थानम् । वेदार्थसंग्रह, पृ017
3. "यथा तन्तवः एवं व्यतिषङ्गविशेषभाजः पट इति नामरूपकार्यान्तरादिकं भजन्ते तद्वद् ब्रह्मापि । - श्रीभा- य 2/1/19

से है ।[1] सृष्टि के पूर्व नामरूपभेद से रहित और अनभिव्यक्त होने के कारण जगत् को असद् कहा गया है, असत्य होने के कारण नही ।

इस प्रकार आचार्य सभी स्थितियों में जगद् को सत्य स्वीकार करते है ।

आचार्य वल्लभ भी जगद् को ब्रह्म का कार्य स्वीकार करते हैं । जगद् पर ब्रह्म का भौतिक स्वरूप है । ब्रह्म के सदंश से जगद् का आविर्भाव होता है ।

"तस्मादेकाकी न रमते" "स द्वितीयमैच्छद्"आदि श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म के रमण करने तथा एक से अनेक होने की इच्छा से उसके जगद्रूप से आविर्भूत होने का वर्णन प्राप्त होता है । जिसप्रकार ब्रह्म अपने आनन्दांश को तिरोभूतकर सच्चिद जीवरूप से आविर्भूत होता है उसी प्रकार रमण करने की इच्छा से अपने चिद् और आनन्दांश का तिरोभाव कर सत् जगद्रूप से आविर्भूत होता है । इस प्रकार जगत् में ब्रह्म के चिद् और आनन्दांश अनभिव्यक्त रहते हैं, वह ब्रह्म का सदंश प्रधान रूप है ।[2] आनन्द तथा चैतन्य के अभाव में यह जड है किन्तु जड होने के कारण यह सच्चिदानन्द ब्रह्म से भिन्न नहीं है । श्रुतियाँ प्रपंच की ब्रह्मात्मकता का अनेकधा निर्देश करती हैं।[3]

वल्लभाचार्य भी रामानुजाचार्य की तरह जगत् की उत्पत्ति और विनाश नहीं अपितु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं । जगत् की उत्पत्ति और लय नहीं

---

1. ....इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतः सत्त्वधर्मो नामरूपे, असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् ।"
   - श्रीभाष्य 2/1/18

2. सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारस्तदिच्छया ।
   विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि । त०दी०नि० 1/28

3. .....श्रुतितो हि प्रपंचस्य ब्रह्मतोच्यते " .. त०दी०नि० 1/27 पर प्रकाश

होता अपितु ईश्वर की इच्छामात्र से सदंश के प्रकट होने पर जगत का आविर्भाव होता है । अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित और आनन्द तीनों अंशों के आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा विचित्र रचनात्मक जगत् को सृष्टि करता है । तीनों स्वरूपों का प्रकाश वैष्णव दर्शन में स्वीकृत तीन प्रकार की शक्तियों से होता है ।[1] ये तीन शक्तियाँ है- संधिनी, संवित् और ह्लादिनी । इनमें सन्धिनी शक्ति से सत् का, संवित् से चित् का और ह्लादिनी से आनन्द का प्रकाश होता है । परब्रह्म पुरुषोत्तम में तीनों शक्तियाँ अनावृत रहती हैं ।

रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म से आविर्भूत होने के कारण जगत् को सत्य स्वीकार करते हैं । आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार कारण ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार कार्य रूप जगत् भी सत्य है ।[2] उन्होंने कारण की सत्यता से कार्य की सत्यता स्वीकार की है , मिट्टी से भिन्न घट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, मूलतः मिट्टी होने के कारण ही उसकी सत्यता है।[3] तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"[4] सूत्र के भाष्य में आचार्य ने कार्य का कारण से अनन्यत्व प्रतिपादित किया है । आचार्य की श्रुतियों में अटूट आस्था है, अतः इस सम्बन्ध में वे श्रुतिवाक्यों को ही प्रमाण

---

1. रासपंचाध्यायी, सांस्कृतिक अध्ययन, रसिक बिहारी जोशी", वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त , राधारानी सुखवाल , पृ० - 124 से उद्धृत ।
2. कार्यस्यकारणानन्यत्वं न मिथ्यात्वम् - अणुभाष्य 2/1/14
3. अणुभाष्य 2/1/15
4. ब्रह्मसूत्र 3/1/14 पर अणुभाष्य

मानते हैं । छान्दोग्योपनिषद्[1] में कहा गया है कि " मिट्टी के पिण्ड द्वारा मिट्टी से निर्मित्त समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, विकार तो वाणी का आश्रयभूत नाम_मात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है " इस श्रुति के आधार पर वे जगत् की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित करते हैं । चूँकि ब्रह्म सत्य है अतएव उससे उत्पन्न कार्य की सत्यता स्वयं सिद्ध है क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते हैं किन्तु कार्यगत होने के कारण वे अन्यथाप्रतीत होते हैं ।[2]

इस प्रकार आचार्य वल्लभ के अनुसार भी कारण ही कार्यरूप में आविर्भूत होता है । अब प्रश्न यह उठता है कि यह आविर्भाव और तिरोभाव क्या है ?

आविर्भाव तिरोभाव :

शुद्धाद्वैत दर्शन में ब्रह्म ही कार्य और कारण रूप है । सृष्टि से पूर्व जगत् कारणावस्था में अपने मूल कारण ब्रह्म में विद्यमान रहता है तथा सृष्टीच्छा होने पर इन विविध नामरूपों में अभिव्यक्त होता है ।[3] आचार्य जगत् की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते अपितु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं ।

जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव प्रायः उत्पत्ति और नाश अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु वस्तुतः न तो जगत् की उत्पत्ति होती है और न ही नाश होता है । आविर्भाव का अर्थ है पहले से विद्यमान वस्तु का प्रकट होना, न कि असत् वस्तु की उत्पत्ति । इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में आविर्भाव का

---

1. यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् - छान्दोग्योपनिषद् 6/1/4"
2. "यद्यपि कारणधर्मा एव कार्ये भवन्ति तथापि कार्यगतत्वेनान्यथा प्रतीतिः, तत्वदी0नि0, शास्त्रार्थप्रकरण , प्रकाश पृ0- 212
3. यत्र येन यतो यस्मै यस्य यद् यथा यदा । स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः ।। -तत्वदी0नि0 1/70

अर्थ ब्रह्म में पूर्वस्थित जगत् का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार जगत् का नाश भी नहीं होता अपितु ब्रह्म में तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म ही अपने चिद् और आनन्दांश का तिरोभाव करके सदंशरूप से आविर्भूत होता है तथा प्रलयदशा में आत्मरमण की इच्छा से जगत् का स्वयं में संवरण कर लेता है। इस प्रकार आचार्य आविर्भाव और तिरोभाव को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं - आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः।[1]

इस अचिंत्य शक्ति से ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होता है, तथापि उससे परे भी रहता है तथा एक से अनेक भी होता है।

आचार्य श्री के पुत्र श्री विट्ठलनाथ आविर्भाव और तिरोभाव का लक्षण करते हुए कहते हैं -"किसी वस्तु के अनुभव होने की योग्यता आविर्भाव" तथा "अनुभव न होने की क्षमता ही तिरोभाव है।"[2] "एकोऽहं बहुस्याम्" अर्थात् एक मैं ही अनेक हो जाऊँ, इस श्रुति से आविर्भाव का स्वरूप तथा "हन्त तिरोऽसानि" अर्थात् मैं तिरोहित हो जाऊँ से तिरोभाव का स्वरूप, ब्रह्म की इच्छा के अन्तर्गत ही निरूपित किया गया है। इस तरह से आविर्भाव और तिरोभाव

---

1. तत्वदीपनिबन्ध 2/38

2- आविर्भवति ये भावैर्मोहनं बहुरूपतः - त; दी॰ नि॰ शास्त्रार्थ प्रकरण 72

अनुभवविषययोग्यता आविर्भाव। तदविषयत्वयोग्यता तु तिरोभावः।

-विद्वन्मण्डनम् पृ85, 86

"इच्छा विषयत्व" स्वरूप हैं इसलिए उनका प्रत्येक वस्तु में साथ रहना भी परस्पर विरुद्ध नहीं है ।

इस प्रकार रामानुज तथा वल्लभ दोनों ही आचार्य जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं । रामानुज के अनुसार जगत् ब्रह्म का शरीर है अतः वह अपने शरीरी ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है अपितु उसी से नियंत्रित व संचालित है । ब्रह्म का शरीर होने के कारण वह भी सत्य है । आचार्य वल्लभ भी जगत को सत्य स्वीकार करते हैं किन्तु वे रामानुज की भाँति जगत् को ब्रह्म का शरीर या विशेषण न मानकर उसकी "स्वरूपाभिव्यक्ति" मानते हैं । उनके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने चिद् और आनन्द को तिरोभूतकर सदंश रूप से जगद्रूप में आविर्भूत होता है। इस प्रकार ब्रह्म के सदंश से जगत् की उत्पत्ति होती है । आचार्य के अनुसार उत्पत्ति और विनाश का अर्थ आविर्भाव और तिरोभाव है । आचार्य रामानुज भी उत्पत्ति और विनाश न मानकर आविर्भाव व तिरोभाव ही स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य वल्लभ का इस पर अधिक आग्रह दिखाई पड़ता है । इस प्रकार दोनों के ही अनुसार जगत् की उत्पत्ति नहीं होती अपितु पहले से विद्यमान जगत् का आविर्भाव होता है । आचार्य वल्लभ के अनुसार सृष्टिकाल में ब्रह्म के सदंश से जगत् का आविर्भाव होता है । तथा प्रलयकाल में ब्रह्म में तिरोभाव हो जाता है। जबकि आचार्य रामानुज

---

1. विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन

- आभा वर्मा, पृ० 239

प्रलय काल में भी जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार प्रलय काल में जगत् अपने कारण में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में स्थित रहता है, वही सृष्टि काल में स्थूल रूप में व्यक्त होता है । इस प्रकार रामानुजाचार्य के अनुसार प्रलय दशा और सृष्टिकाल में जगत् के रूपमात्र में परिवर्तन होता है उसका अस्तित्व सदैव विद्यमान रहता है क्योंकि रामानुज चिदचिद् को ब्रह्म का 'नित्य सहवर्ती' विशेषण स्वीकार करते हैं ।

ब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्व :

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों के अनुसार सृष्टि ब्रह्म द्वारा ही होती है । कर्तृत्व ब्रह्म का विशेष गुण है । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" {तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1}, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" {छांदोग्य 6/2/3} आदि श्रुतियाँ बारम्बार ब्रह्म के सृष्टिकर्तृत्व का निर्देश करती हैं । दोनों ही आचार्यों के अनुसार ब्रह्म में कर्तृत्व उपचारमात्र नहीं है जैसा कि आचार्य शंकर को अभीष्ट है, अपितु कर्तृत्व स्वाभाविक और वास्तविक है, ब्रह्म में कर्तृत्व का उपचार तो तब होता है जबकि किसी अन्य का कर्तृत्व होता, किन्तु दोनों ही मतवादों में ब्रह्म की ही एकमात्र वास्तविक सत्ता स्वीकार की गयी है । अतः अन्य किसी तत्त्व के अभाव में किसी दूसरे के कर्तृत्व का प्रश्न ही नहीं उठता, फलतः कर्तृत्व ब्रह्म का ही सिद्ध होता है । "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" आदि श्रुतियों में जहाँ ब्रह्म के कर्तृत्व का निषेध किया गया है, वहाँ मात्र लौकिक कर्तृत्व का ही निषेध है,

ब्रह्म का कर्तृत्व तो दिव्य है । इसके अतिरिक्त अद्भुत संरचना वाली इस सृष्टि का निर्माण परिमित शक्तिसम्पन्न, लौकिक पुरुष द्वारा सम्भव भी नहीं है । इसका निर्माण तो किसी सर्वशक्तिमान् दिव्य कर्ता द्वारा ही सम्भव है और वह अनन्तशक्तिमान् "ब्रह्म" ही हो सकता है ।

यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि आप्तकाम ब्रह्म का सृष्टि के निर्माण में क्या प्रयोजन है ? लोक में तो कार्य प्रयोजनवत् ही देखे जाते हैं किन्तु "अवाप्त-समस्तकाम " ब्रह्म का तो कोई प्रयोजन हो नहीं सकता अतः उनकी सृष्टि किस हेतु है ?[1]

इस शंका के समाधान में आचार्य रामानुज कहते हैं कि सृष्टि का प्रयोजन लीला है ।[2] जगत् की सृष्टि आदि व्यापार ईश्वर केवल लीला रस की पूर्ति के लिए ही करता है ।[3] यहाँ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि तब ईश्वर को अवाप्तसमस्त-काम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि ईश्वर की समस्त कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं तो वह लीला क्यों करता है; इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि लीला आनन्द की जननी है । लोक में जिस प्रकार सर्वसुखसम्पन्न राजादि केवल मनोरंजन के लिए कन्दुकादि क्रीडा करते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार आप्तकाम परब्रह्म भी अपने संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि कार्य लीला के प्रयोजन से

---

1. ब्रह्म सूत्र 2/1/31
2. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् - ब्रह्म सूत्र 2/1/33
3. " लीलैव प्रयोजनम् जगत्सृष्ट्यादेर्व्यापारस्य " - तत्त्वत्रय, 18 छात्रतोषिणी ।

ही करते हैं । समस्त काम्य वस्तुओं से तृप्त ईश्वर के लिए जड़ चेतन युक्त, विचित्र जगत् की सृष्टि केवल लीलामात्र है ।[1] " अवाप्तसमस्त कामत्व " का अभिप्राय यहाँ समस्त कामनाओं की पूर्णता नहीं है अपितु इसका अर्थ है अपनी इच्छामात्र से ही अभिलषित समस्त वस्तुओं को प्राप्त कर लेना । "अवाप्तसमस्तकामत्व " का अर्थ इच्छापूर्ति करने पर तो " स ऐच्छत् 0 " आदि श्रुतियों का बाध होगा ।

आचार्य वेदान्तदेशिक भी अपने ग्रन्थ तत्त्वमुक्ताकलाप में "स्वेच्छायाम् 0" सूत्र में अवाप्तसमस्तकामत्व का इसी प्रकार अर्थ करते हैं कि अपनी इच्छामात्र से ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति ही परमात्मा का अवाप्तसमस्तकामत्व नामक गुण है ।[2]

पूर्वपक्षी एक अन्य आपत्ति उठाता है कि यदि सृष्टि आदि व्यापार का प्रयोजन केवल लीला ही है तब तो संहार काल में ईश्वर की लीला का विराम हो जायेगा, तो ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि संहार भी ईश्वर की लीला ही है । जिस प्रकार कोई बालक अनेक वस्तुओं का निर्माण करके उनको नष्ट कर देने में भी आनन्दानुभव करता है उसी प्रकार ईश्वर भी संसार के संहार में भी लीला का ही अनुभव करता है । "अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादिलीले"[3] {निखिल-जगदुदयविभवलयलील"[4] "जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादय: भवन्ति लीला

---

1. अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसंकल्प विकार्यविविधविचित्र चिदचिन्मिश्र-जगत सर्गे लीलैव केवलं प्रयोजनं लोकवत् -------श्रीभाष्य 2/1/33
2. स्वेच्छाया सर्वसिद्धिं वदति भगवतोऽवाप्तकामत्ववाद: - तत्त्वमुक्ताकलाप
3. श्री भाष्य, मंगलाचरण
4. शरणागति गद्य 5

विधय:[1] इत्यादि वाक्यों में भी जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय को ईश्वर की लीला कहा गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही बिना किसी विशेष प्रयोजन के अपने संकल्पमात्र से ही जगत् की सृष्टि करता है।

रामानुजाचार्य की ही तरह आचार्य वल्लभ भी सृष्टि को ब्रह्म की लीला मानते हैं। सृष्टि निर्माण में निस्पृह ईश्वर के किसी प्रयोजन के लिए अवकाश नहीं है। "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा। वेदान्तसूत्र 2/1/33 का भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार सांसारिक राजा आदि मृगया आदि खेल करते हैं। उनमें कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि भगवान की लीलामात्र है, उसमें प्रयोजन की खोज करना व्यर्थ है; लीला ही प्रयोजन है।[2] अन्य किसी प्रयोजन से वह सृष्टि नहीं करता।[3]

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य सृष्टि का कर्ता ईश्वर को मानते हैं तथा सृष्टि के निर्माण में लीला के अतिरिक्त ईश्वर का अन्य कोई प्रयोजन दोनों ही आचार्यों को अभीष्ट है। दोनों ही आचार्यों के अनुसार ब्रह्म केवल लीलारस की पूर्ति के लिए अपने संकल्पमात्र से ही सृष्टि करते हैं। अतः दोनों ही आचार्यों के अनुसार सम्पूर्ण प्रपंच का कर्ता ब्रह्म ही है।

---

1. स्तोत्ररत्न, 20
2. ...... नहि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्। ईश्वरत्वादेव न लीलापर्यनुयोक्तुं शक्या ....अणुभाष्य 2/1/33
3. जगतः पतिर्भगवान् जगद्यत्करोति तत्तत् क्रीडार्थमेव करोति - सुबो॰ 2/9/14

अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व :-

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ही ब्रह्म को केवल सृष्टि का कर्ता ही नहीं अपितु कारण भी स्वीकार करते हैं। ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण भी है। ब्रह्म को निमित्तकारण तो प्राय: सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, ब्रह्म के उपादानकारणत्व में ही विद्वानों में मतभेद है।

रामानुज तीन प्रकार के कारण स्वीकार करते हैं -

1) उपादान कारण

2) निमित्त कारण और

3) सहकारी कारण

जो वस्तु कार्यरूप में परिणत हो जाती है, उसे "उपादान" कारण कहते हैं वस्तु को जो कार्यरूप में परिणत करवाता है अर्थात विभिन्न रूपों में परिवर्तन जिसके द्वारा होता है वह 'निमित्तकारण' कहलाता है तथा निमित्त और उपादान कारण से भिन्न होने पर भी जो वस्तु कार्योत्पत्ति में सहायक होती है उसे 'सहकारी कारण" कहते हैं।[16]

आचार्य रामानुज ब्रह्म को ही जगत् का उपादान निमित्त और सहकारी तीनों प्रकार का कारण स्वीकार करते हैं। एक से अनेक होने के संकल्प से विशिष्ट

16. A Critical study of the philosophy of Ramanuja
Anima Sen Gupta.

ईश्वर जगत् का उपादान कारण है तथा ज्ञान शक्ति आदि विशिष्ट रूप से ईश्वर जगत् का सहकारी कारण है ।

भगवान् बादरायण "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र द्वारा ब्रह्म की जगत् कारणता का निर्देश करते हैं ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

अर्थात् हे सोम्य, यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् था, उसने विचार किया कि मैं बहुत होकर जन्म लूँ (तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्) इस श्रुति में सत् पद वाच्य एक ही ब्रह्म की निमित्त और उपादानकारणता सुस्पष्ट है । " यह जगत् पहले एक सत् स्वरूप था " इससे ब्रह्म की उपादान कारणता का प्रतिपादन करके "अद्वितीय " पद से अन्य अधिष्ठाता (निमित्त कारण) का निषेध करके, " उन्होंने विचार किया कि बहुत होकर जन्म लूं और फिर तेज की सृष्टि की " इस वाक्य में एक ही ब्रह्म की उपादान और निमित्त कारणता का प्रतिपादन किया गया है । इससे ज्ञात होता है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का मूल ब्रह्म ही है। उक्त वाक्य जन्म स्थिति और लय का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म को बताते हैं । जगत् के निमित्त और उपादान कारण होने से ही ब्रह्म सर्वज्ञ, सत्य संकल्प विलक्षण शक्ति वाला और बृहत्त्व से पूर्ण है ।[1]

- -

1. श्रीभाष्य - 1/1/2 पृ0 - 232

शरीरभूत सूक्ष्म जड़चेतनविशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल जड़ चेतन सृष्टि का कारण है । इस प्रकार कार्य और कारण दोनों ही ब्रह्म है। " सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म" कारण तथा " स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म " कार्य है ।

पूर्वपक्षी यहाँ आपत्ति उठाता है कि ब्रह्म यदि जगत् का उपादान कारण है तथा जगत् उसी का परिणाम है तो दोनों के गुण परस्पर संक्रमित हो जाते होगें । इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के चिदचिदंशों का ही उपादानत्व है अर्थात चेतन, अचेतन, समष्टि ही उपादान है, उन्हीं का जीव,जगदादि रूप में परिणाम होता है ईश्वर का नहीं । इस प्रकार ब्रह्म का उपादानत्व होने पर भी चिदचित संघात का उपादानत्व होने के कारण चिदचिद और ब्रह्म का स्वभाव सांकर्य नहीं होने पाता।[1] इसी बात को आचार्य लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार श्वेत, रक्त, श्याम तन्तुओं का समूह, वस्त्र का उपादानकारण है, अतः वस्त्र के भिन्न -भिन्न भागों में शुक्लादि वर्णों का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है किन्तु वर्णों का परस्पर सांकर्य नहीं होता, उसी प्रकार चेतन, अचेतन और ईश्वर की समष्टि सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है ।

आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म को ही जगत् का कर्ता व कारण स्वीकार करते हैं तथा ब्रह्म के " अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व " का प्रतिपादन करते हैं । आचार्य वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म को केवल निमित्तकारण नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने

- -

1. .... ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरो-ऽप्युपपन्नतरः - श्रीभाष्य 1/1/1

पर जो एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है वह बाधित हो जायेगी। आचार्य वल्लभ के अनुसार जिस प्रकार लूता अपने जाल का निमित्तकारण भी है और उपादानकारण भी, उसी प्रकार ब्रह्म भी सम्पूर्ण जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में विचित्ररचनात्मक जगत् की रचना करने की सामर्थ्य ही नहीं है। इसके अतिरिक्त शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्मातिरिक्त तत्त्वान्तर की सत्ता ही न होने के कारण अन्य किसी के निमित्त या उपादानकारणत्व के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता। "तत्त्वदीपनिबन्ध" में आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म ही जगत का समवायि और निमित्त कारण है। ब्रह्म की जब स्वयं में रमण करने की इच्छा होती है तब वह प्रपंच का संवरण कर लेता है और बाह्य रमण की इच्छा होने पर प्रपंच का विस्तार करता है।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी के द्वारा परिपूर्ण है तथा उस ब्रह्म के द्वारा ही प्रवर्तित होते हैं।[2] ब्रह्म ने ही क्रीडा करने की इच्छा हेतु सृष्टि का निर्माण किया है।[3]

"तत्तु समन्वयात" (ब्रह्मसूत्र 1/1/3) सूत्र की व्याख्या में आचार्य

1(1) जगतः समवायि स्यात तदेव च निमित्तकम्।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम्। त०दी०नि० 1/69

(2) यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपंचमुपसंहरति। यदा प्रपंचे रमते तदा प्रपंचं विस्तारयति। प्रपंचभावो भवत्येव लीनः प्रकटीभवतीत्यर्थः। त०दी०नि० 1/6 पर प्रकाश।

2. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। - गीता - 10/8

3. तत्वार्थदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, कारिका 68

कहते हैं कि इदं सर्वं यदयमात्मा [1] आत्मैवेदं सर्वम् [2] स आत्मानं स्वयमकुरुत: [3] एकमेवाद्वितीयम् आदि श्रुतियों द्वारा अनेकश: ब्रह्म के समवायित्व का प्रतिपादन किया गया है अत: यदि ब्रह्म का समवायित्व न स्वीकार किया जाय तो इन श्रुतिवाक्यों का बाध होगा तथा अनेक उपनिषद् भाग भी व्यर्थ हो जायेंगे। अत: ब्रह्म का ही उपादानत्व स्वीकरणीय है। [4] आचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का समवायिकारण है क्योंकि उसका ही जगत् में समन्वय है। पट में तन्तु की भाँति वही सबमें अनुस्यूत है। सच्चिदानन्द ब्रह्म सत्ता, ज्ञान और आनन्दरूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है अर्थात् जगत् में जो कुछ भी अस्तित्व, प्रकाश और प्रियता है वह भगवान के सच्चिदानन्द रूप से ही है, इसी के द्वारा वह अभिव्यक्त है। कार्यरूप जगत् में परमात्मा नाम रूप से अनुस्यूत है जैसा कि " अनेन जीवात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि " आदि से स्पष्ट है।

जड़, जीव और अन्तर्यामी में सच्चिदानन्द ब्रह्म के एक - एक अंश का

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/6
2. छान्दोग्योपनिषद् 7/25/2
3. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7
4. सर्वोपनिषद् समाधानार्थं प्रवृत: सूत्रकार:। तद्यदि ब्रह्मण: समवायित्वं न ब्रूयाद ,स्यानुपनिषद्भागो व्यर्थ: स्यात्। इदं सर्वं यदयमात्मा आत्मैवेदं सर्वम्, स आत्मानं स्वयमकुरुत एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि। एवमादीनि वाक्यानि स्वार्थे बाधितानि भवेयु:। - अणुभाष्य - 1/1/3

विशेष प्रकाशन है, जैसे जड़ में अस्ति अर्थात् सत्ता का, जीव में ज्ञान या चित् का तथा अन्तर्यामी में प्रिय अर्थात् आनन्द का विशेष प्राकट्य है । जगत् की जो अनेकता है वह भी ऐच्छिक है, " एकोऽहं बहुस्याम् " ऐसी अनेक होने की ब्रह्म की इच्छा से ही जगत् की अनेकता है । कहने का अभिप्राय यह है कि " बहुस्याम् " ऐसी इच्छा होने पर ब्रह्म स्वयं ही विभिन्न रूपों में आविर्भूत होता है । इसी प्रकार जड, जीवादि में जो सत् आदि का आविर्भाव होता है, वह भी भगवदिच्छा से ही होता है।[1]

भगवान् बादरायण ने भी " अभिध्योपदेशाच्च " (1/4/24) "आत्मकृतेः परिणामात् " (1/4/26) " योनिश्च हि गीयते " (1/4/27) आदि अनेक सूत्रों में ब्रह्म के समवायिकारणत्व का निर्देश किया है । श्रुति इस सम्पूर्ण प्रपंच की ब्रह्म से ही उत्पत्ति और ब्रह्म में ही लय बताती है । जो कि उपादानकारण में ही सम्भव है, निमित्तकारण में नहीं । इसके अतिरिक्त "एकोऽहं बहुस्याम् " पूर्वक जो ब्रह्म का संकल्प है वह भी तभी सम्भव हो सकता है जबकि ब्रह्म स्वयं ही स्रष्ट हो । स्वर्ण का कुण्डलादि अनेक रूपों में परिणाम उसके समवायिकारण होने के कारण ही सम्भव होता है इसी प्रकार चूँकि ब्रह्म ही जगद्रूप से परिणमित होता है अतः वही जगत् का समवायिकारण है ।

---

1. ......तद्ब्रह्मैव समवायिकारणं, कुतः समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात् । अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणाऽन्वयात् । ...... नानात्वं स्वेच्छिकमेव जडजीवान्तर्यामिष्वेवैकैकांशप्राकट्यात् । कथमेव इति चेन्न .....भगवदिच्छायाः नियामकत्वात् । ....।

- अणुभाष्य 1/1/3

पूर्वपक्षी यहाँ शंका करता है कि ब्रह्म चेतन, निर्दोष और ज्ञानात्मक है अतः वह अचेतन जगत् तथा अज्ञत्वादि धर्मों से युक्त जीव का समवायिकारण नहीं हो सकता क्योंकि लोक में देखा जाता है कि जो जिससे विलक्षण होता है वह उसका कारण नहीं हो सकता। अतः सृष्टि से विलक्षण ब्रह्म, सृष्टि का समवायिकारण नहीं हो सकता । इस शंका का समाधान आचार्य ब्रह्मसूत्र 2/1/6 के भाष्य में करते हैं कि जगत् में कार्य-कारण में वैसादृश्य देखा जाता है जैसे अचेतन केश तथा अचेतन गोमयादि से चेतन वृश्चिकादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार किंचित् वैरूप्यता होने पर भी ब्रह्म से चेतनाचेतन जगत् की उत्पत्ति होती है।[1] इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य के कारण में लीन होने पर कार्यगत स्थूलता आदि दोषों की प्रसक्ति कारण में भी होगी अतः ब्रह्म जगत् के स्थूल, सावयवत्वादि दोषों से दूषित होगा क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि मृत्तिका से उत्पन्न घटादि के स्वकारण मृत्तिका में लीन होने पर उन स्थूल घटादि कार्यों में स्थूलता आदि दोष रह ही नहीं जाते हैं अतः कारण मृत्तिका में कार्यगत स्थौल्यादि दोषों के प्रसक्त होने की सम्भावना ही नहीं है अतः ब्रह्म के जगत्कारणत्व में कोई आपत्ति नहीं है, फलतः ब्रह्म की सृष्टिकारणता सिद्ध ही है ।

आचार्य वल्लभ ब्रह्म को समवायिकारण और निमित्त कारण के साथ ही साथ जगत् का साधारण कारण भी स्वीकार करते हैं । श्रीमद्भागवत {2/5/2} {

- -

1. दृश्यते हि कार्यकारणयोर्वैरूप्यम् । केशगोमयवृश्चिकादौ चेतनादचेतनोत्पत्ति निषेधे तदंशस्यैव निषेधः । तुल्याशसम्पत्तिश्चेत् प्रकृतेऽपि सदंशः । अणुभाष्य 2/1/6

में काल, कर्म और स्वभाव का ब्रह्म की अभिव्यक्ति रूप से निर्देश किया गया है ।
ब्रह्म के ये रूप सृष्टि के साधारण कारण हैं ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज तथा आचार्य वल्लभ दोनों ही ब्रह्म को ही सृष्टि का एकमात्र कारण स्वीकार करते हैं । ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त, उपादान और साधारण कारण है । सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति का परिणाम है तथा यह परिणाम भी सत्य व प्रामाणिक है। इस प्रकार दोनों ही आचार्य सृष्टि को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हैं यद्यपि सृष्टि की वास्तविकता तथा सृष्टि रूप में ब्रह्म की परिणति के विषय में दोनों आचार्यों में मतैक्य है तथापि दोनों की परिणमन - प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है । आचार्य वल्लभ जहाँ ब्रह्म का "साक्षात्" परिणाम स्वीकार करते हैं वहीं रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण परिणमन क्रिया ब्रह्म के चिदचिदंशों में होती है, इस प्रकार रामानुज "सद्वारक" परिणाम स्वीकार करते हैं । इससे जहाँ वल्लभ के ब्रह्म में सावयवत्व, विकारित्व और परिच्छिन्नत्व की शंका पूर्वपक्षी कर बैठता है, वहीं रामानुज के ब्रह्म में इस प्रकार की शंका की सम्भावना भी नहीं रहती । यद्यपि आचार्य वल्लभ भी इन समस्त आपत्तियों का निवारण ब्रह्म के "अविकृतपरिणामवाद" के सिद्धान्त से कर देते हैं किन्तु रामानुज के ब्रह्म में तो ऐसी शंकाओं की सम्भावना भी नहीं की जा सकती । वे चिदचिद्, जो सृष्टि से पूर्व उसमें सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहते हैं, वही सृष्टि काल में स्थूल दशा में आ जाते हैं और इस प्रकार परिणाम केवल ब्रह्म के शरीरभूत चिदचिद् में ही होता है, ब्रह्म तो इनके अन्तर्यामी रूप में नित्य अविकारी तथा अपरिणामी

ही रहता है । ब्रह्म से इनका अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध होने से पृथगुपदेश न हो सकने के कारण चिदचिद्वस्तु शरीर वाले ब्रह्म से चिदचिद्वस्तुरूप शरीर के माध्यम से श्रुति जीव जडादि रूप परिणाम का निर्देश करती है ।[1]

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर कारण तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर .. कार्य कहा जाता है । अतः सूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् का अन्तर्यामी आत्म-तत्त्व ही स्थूलदशापन्न चिदचिद् का आत्मतत्त्व होने के कारण शरीरभूत चिदचिद् के माध्यम से परिणमित होता कहा जाता है ।[2] इस प्रकार आचार्य रामानुज को मान्य परिणाम वल्लभ के साक्षात्परिणाम से भिन्न " सद्वारक " अर्थात् शरीर के द्वारा परिणाम होता है और इस तरह ब्रह्म के अविकारित्व की सिद्धि भी सहज ही हो जाती है । आत्मा और शरीर में घनिष्ट सम्बन्ध होने पर भी उनमें स्पष्ट अन्तर होता है और शरीरगत दोषों से आत्मा अछूता ही रहता है उसी प्रकार चिदचिद्गत दोषों से उनका आत्मभूत शरीरी ब्रह्म भी दूषित नहीं होता ।

आचार्य वल्लभ को मान्य परिणाम प्रक्रिया रामानुज से भिन्न प्रकार की है । वे चिदचिद् को ब्रह्म का शरीर न मानकर उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं अतः उनका ब्रह्म अपने गुणों को तिरोभूत कर स्वयं ही जीवजडादि रूपों

- -

1. .... एवं स्वस्मात्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मन्येकीभूतात्यन्तसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानन्दात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेसत्यसंकल्पाद् ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया बहुभवनसंकल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणाम श्रूयते । - श्रीभाष्य 1/4/37

2. "कारणावस्थायामात्मतयावस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयावस्थाय तत्तद्भवतीत्युच्यते । -- श्रीभाष्य 1/4/27

में परिणत होता है, परिणमित होने के लिए उसे किसी की सहायता या माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस प्रकार उनका परिणाम "सद्वारक" न होकर "साक्षात्" ही होता है । जीव, जडादि रूपों में परिणत होने पर भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता क्योंकि वह "अचिन्त्यसामर्थ्यशाली" है । अपने विश्वरूप परिणाम से वह निःशेष नहीं हो जाता । वह विश्व में परिच्छिन्न नहीं है अपितु विश्व ही उससे परिच्छिन्न तथा नियमित और संचालित है क्योंकि वह कार्यरूप जगत् को अपने कारण ब्रह्म से स्वतन्त्र कोई सत्ता स्वीकार नहीं करते । अपनी सत्ता के लिए वह सर्वथा ब्रह्म पर आश्रित है जबकि ब्रह्म को अपनी सत्ता के लिए वह सर्वथा ब्रह्म पर आश्रित है जबकि ब्रह्म को अपनी सत्ता के लिए उसकी अपेक्षा नहीं होती ।[1] इस प्रकार "अचिन्त्यसामर्थ्यशाली" होने के कारण वह विश्वरूप में परिणमित होने पर भी " नित्यकूटस्थ " और "अविकारी " ही रहता है । अतः वल्लभ को मान्य परिणाम साक्षात् ही होता है । इस प्रकार रामानुज और वल्लभ को स्वीकृत परिणाम प्रक्रिया में बहुत सूक्ष्म अन्तर होने पर भी सामान्य रूपरेखा लगभग एक जैसी ही है ।

परिणामवाद की एक प्रमुख विशेषता है कार्य को भी कारण की ही तरह सत्य स्वीकार करना क्योंकि इस मत में कार्य कारण की ही अवस्थाविशेष

- -

(1) "विश्वेन न भगवानावृतः परिच्छिन्नः किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम् - सुबो 2/6/15

(2) ब्रह्मकारणं जगत्कार्यमिति स्थितम् । तत्र कार्यधर्मा यथा कारणे न गच्छन्ति तथा कारणासाधारण धर्मा अपि कार्यम् । तत्रापहतपाप्मत्वादयः कारणधर्मास्ते तत्र भजन्ति इद ब्रह्मेति एवावगन्तव्यम् । - अणुभाष्य 1/1/19

इस प्रकार सृष्टि के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसे मिथ्या, भ्रम या आभास नहीं माना जा सकता । यद्यपि आचार्य शंकर भी सृष्टि का अस्तित्व स्वीकार करते हैं किन्तु केवल व्यावहारिक स्तर पर । पारमार्थिक स्तर पर तो उनके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है । जिस प्रकार अन्धकार में अनिश्चितस्वरूप वाली रज्जु में सर्पादि विकल्प होते हैं और जिस प्रकार रज्ज्वादि के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर सर्पादि विकल्प बाधित हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जगदादि विकल्प भी बाधित हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य शंकर वस्तुत: एक ही सत्य की वास्तविक और प्रातीतिक ये दो स्थितियाँ स्वीकार करते हैं जबकि आचार्य वल्लभ और रामानुज के मत में व्यवहार और परमार्थ का कोई भेद नहीं है । सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भी है, वह ब्रह्म की ही अवस्था विशेष है, अत: ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने के कारण वह ब्रह्म से अभिन्न, फलत: तद्वत् ही सत्य भी है । यद्यपि माया प्रपंच की कारणभूता है किन्तु ब्रह्म की शक्ति होने के कारण ब्रह्म से अभिन्न है अत: इस आधार पर प्रपंच को मायिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा प्रपंच का निर्माण करता है । श्रुतियाँ भी ब्रह्म के जगत्कारणत्व का निर्देश करती हैं। पुराणों में जहाँ कहीं सृष्टि को मायिक कहा भी गया है वहाँ मायिकत्व से मिथ्यात्व

---

1. अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित: ।।
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चय: ।। गौ० का० 17/18

अभिप्रेत नहीं है वह तो केवल आर्त्ता कानिवृत्ति तथा वैराग्यसिद्धि के लिए ही उसे "मायिक " कहा गया है । आचार्य वल्लभ"तत्त्वदीपनिबन्ध"में कहते हैं कि "पुराण तो मित्रवत है[1] लोकरीति से ज्ञान कराते हुए जगत् को मायिक कह देते हैं, उनका प्रयोजन तो केवल आसक्ति का निवारणमात्र है ।" इसके अतिरिक्त जगत् को मायिक मानने पर समस्त लौकिक और वैदिक वाक्य निरर्थक हो जायेंगे तथा ऐसी स्थिति में शास्त्रों में प्रवृत्ति तथा मुक्ति के लिए किये गये समस्त प्रयास भी व्यर्थ हो जायेंगे । अतः सृष्टि को मायिक मानना सर्वथा अनुचित है तथा शास्त्रविरुद्ध है ।

अविकृत परिणामवाद :-

आचार्य रामानुज व वल्लभाचार्य "अविकृतपरिणामवाद" के पोषक हैं । परिणाम दो प्रकार के होते हैं - विकृत परिणाम और अविकृतपरिणाम । विकृत परिणाम में वस्तु परिणाम के अनुसार विकारग्रस्त हो जाती है जैसे " दूध सेदही का परिणाम" तथा अविकृतपरिणामवाद में वस्तु परिवर्तन के बाद भी अविकृत ही रहती है ।

रामानुज की आस्था भी "अविकृतपरिणामवाद " में है । वे कहते हैं कि जीव, जडादि विभिन्न रूपों में परिणमित होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, ब्रह्म "कूटस्थ " और "अपरिणामी " ही रहता है क्योंकि आचार्य के अनुसार यहाँ परिणाम से तात्पर्य "दुग्धदधिवत् " परिणाम से नहीं है अपितु

- -

1. पुराणं तु मित्रसंमितमिति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचिन्मायिकत्वं बोधयतीत्याह मायिकत्वं पुराणेष्विति । आसक्तिनिवृत्यर्थं तथा बोध्यते ।

- त0दी0नि0 1/90 पर प्रकाश ।

"सुवर्णकुण्डलवत्" परिणाम से है । पूर्वपक्षी यहाँ आक्षेप करता है कि जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर यह समस्या उपस्थित होती है कि जिस प्रकार कुण्डलादि में होने वाले समस्त विकार तद्कारण सुवर्णद्रव्य में ही होते हैं उसी प्रकार जगत् में होने वाले सभी विकार जगत् के कारणभूत ब्रह्म में भी होंगे और इस प्रकार ब्रह्म में विकारित्व की प्रसक्ति होगी , इस पर आचार्य रामानुज कहते हैं कि इस प्रकार की शंका करना उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण द्रव्य ही कुण्डलादि के रूप में स्वरूपत: परिणमित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के विशेषणभूत जगदंश में भी समझना चाहिए । जगदादि के रूप में परिणत होने पर भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, श्रुतियाँ भी उसके निर्विकार और निर्दोष स्वरूप का कथन करती हैं । परिणाम तो ईश्वर के शरीरभूत चिदचिदंशों में ही होता है, ईश्वर के स्वरूप में कोई विकार नहीं होता । इसे अन्य रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि सृष्टिकाल में एक से अनेक होने के संकल्प से विशिष्ट परमात्मा नामरूपविभाग के अयोग्य अपने शरीरभूत कारणावस्थावस्थित सूक्ष्म चिदचिद्रूप अंश को नामरूपविभागयोग्य स्थूल चिद-चिद्रूप से जगत् के रूप में परिणत कर लेता है । इस प्रकार रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण परिणमन प्रक्रिया चिदचिदंशों में ही होती है, ईश्वर के स्वरूप में कोई विकार नहीं होता ।

यहाँ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि यदि ईश्वर के स्वरूप में विकार नहीं होता, तो फिर उसका जगत् के रूप में परिणाम कैसे होता है, इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि परिणाम "विशेषणद्वारक" होता है, "साक्षात्" नहीं अर्थात् परिणाम ईश्वर के चिदचिदंशो मे ही होता है जिसप्रकार शरीर में विकार होने पर भी

आत्मा अविकृत ही रहता है उसी प्रकार शरीरभूत चिदचिदों में विकार होने पर भी शरीरी ईश्वर स्वरूपतः अविकृत ही रहता है, और इस प्रकार ईश्वर का अविकारित्व सुरक्षित ही रहता है।

रामानुज की ही तरह आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म को " अविकारी " और " अपरिणामी " मानते हैं। यद्यपि रामानुज भी ब्रह्म को अविकारी मानते हैं किन्तु "अविकृतपरिणामवाद " संज्ञा का उपयोग शुद्धाद्वैत मत की विशेषता है। आचार्य वल्लभ का इस पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है इसीलिए शुद्धाद्वैत या ब्रह्मवाद को " अविकृतपरिणामवाद" भी कहते हैं। आचार्य के अनुसार अविकृत-परिणाम का अर्थ यह है कि परम सत्ता जीव जड़ादि रूपों में परिणत होकर भी अविकारी बनी रहती है क्योंकि यह परिणाम दुग्धदधिवत् परिणाम नहीं है, न ही रज्जुसर्पवत् विवर्त्त ही है, अपितु यह सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम है। जिस प्रकार कटककुण्डलादि अनेक रूपों में परिणत होने पर भी स्वर्ण तत्त्वतः विकारग्रस्त नहीं होता उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अविकृत ही परिणमित होता है। जीव, जगदादि विभिन्न रूपों में परिणत होने पर भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता।[1] इसीलिए इनका मतवाद " अविकृतपरिणामवाद" कहलाता है। आचार्य सृष्टि को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हैं, इसकी विवेचना पहले ही की जा चुकी है, इस पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता

- -

(1) (क) बहुस्यामिति स्वरूपस्यैव बहुरूपत्वाभिध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति। सुवर्णस्यानेकरूपत्वं सुवर्णप्रकृतिकत्व एव .....।" अणुभाष्य - 1/4/24

(ख) ...परिणमते कार्याकारेणेति। अविकृतमेव परिणमते सुवर्णवत्। तस्माद् ब्रह्मपरिणामत्वात् कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम्। अणुभाष्य 1/4/26

करता है कि ऐसा मानने पर तो ब्रह्म को परिच्छिन्न और विकारी मानना पड़ेगा। पूर्वपक्षी कहता है कि जो स्वयं जीव, जगदादि रूपों में परिणत होता है वह निश्चय ही विकारी भी होगा, किन्तु इस शंका का समाधान करते हुए वल्लभ कहते हैं कि विश्वादि रूपों में परिणत होने पर भी वह परिच्छिन्न नहीं है, वह समस्त ब्रह्मांड में अन्तर्यामी रूप से अनुस्यूत है। विश्व तो उसके एकदेशमात्र में स्थित है, उसका समग्र रूप नहीं है।

आचार्य कहते हैं, कि जीव व जगद्रूप में परिणमित होने पर भी ब्रह्म के सच्चिदानन्दस्वरूप में कोई विकार नहीं आता, वह अपने अविक्रियमाण सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित रहते हुए ही परिणमित होता है क्योंकि आचार्य को दुग्धदधिवत् परिणाम नहीं अपितु सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम ही अभीष्ट है। एतदतिरिक्त श्रुतियाँ भी सर्वत्र ब्रह्म के अविकारित्व, नित्य कूटस्थ रूप का ही प्रतिपादन करती है, जैसे एक ही पुरुष भोजन बनाता है तो वह 'पाचक' कहलाता है, जब पढ़ता है तो 'पाठक' और जब रक्षा करता है तो 'रक्षक' कहलाता है, किन्तु नामभेद होने पर भी उस व्यक्ति में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म जब सदंश रूप कार्य को प्रकट करता है तो "अधिभूत" कहलाता है, जब चिद धर्मरूपी कार्य को प्रकट करता है तो "अध्यात्म" कहलाता है और जब आनन्दांश रूप कार्य को प्रकट करता है तो "अधिदेव" कहलाता है, वस्तुतः ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। ब्रह्म के सदंश से सत्त्वगुण, चिदंश से रजोगुण और आनन्दांश से तमोगुण प्रकट होता है। इसलिए सत् "अधिभूत" है चित् "अध्यात्म" और आनन्द "अधिदेव"

है ।

इस प्रकार ब्रह्मपरिणाम के विषय में दोनों आचार्य एकमत हैं । दोनों के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि रूप में परिणमित होता है तथा इस परिणाम से उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, क्योंकि इनके अनुसार परिणाम का तात्पर्य विकारापत्ति नहीं है अपितु पूर्वस्थितभाव का प्रकाशनमात्र है । इसीलिए दोनों आचार्यों को सुवर्ण-कुण्डलवत् परिणाम ही अभीष्ट है । इस प्रकार ब्रह्म का परिणाम तो दोनों आचार्य एकमत से स्वीकार करते हैं, दोनों आचार्यों में अन्तर मात्र परिणमन प्रक्रिया में है । आचार्य वल्लभ जहाँ ब्रह्म का "साक्षात् परिणाम " स्वीकार करते हैं वहीं आचार्य रामानुज को ब्रह्म के शरीरभूत चिदचिदंशों में परिणाम अभीष्ट है और इस प्रकार वे ब्रह्म का साक्षात् परिणाम न मानकर उसका " विशेषणद्वारक परिणाम " स्वीकार करते हैं ।

सृष्टि -प्रक्रिया और प्रकृति:-

इस प्रकार अब तक के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि आलोच्य दर्शनों में सृष्टि सत्य है तथा ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है । अब दोनों मतवादों के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया पर विचार किया जायेगा ।

- -

1. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।
(1) अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम् । अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।
गीता 8/3,4

(2) अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदस्तथापरे । स्वभावकर्मकालश्च रूद्रो ब्रह्म हरिस्तथा।।
त०दी०नि०शा०प्र० ।23

आचार्य रामानुज भी सत्कार्यवाद के पोषक है । सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य की उत्पत्ति सत् कारण से होती है तथा उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है । अतः सृष्टि का तात्पर्य किसी नये पदार्थ की उत्पत्ति नहीं है अपितु पूर्व विद्यमान वस्तु के अवस्था परिवर्तन से है ।[2] आचार्य को अभिमत सृष्टि प्रक्रिया, सांख्य को मान्य सृष्टि - प्रक्रिया के समान ही है । दोनों में प्रमुख अन्तर मात्र इतना है कि सांख्य प्रकृतिपरिणामवादी है जबकि रामानुज ब्रह्म परिणामवादी हैं अर्थात् सांख्य के अनुसार जगत् का मूलकारण प्रकृति है जो कि पुरुष से पूर्णतः स्वतन्त्र है तथा विकास की प्रक्रिया में ईश्वर द्वारा निर्देशित और संचालित भी नहीं है । प्रकृति स्वयं को जगत् रूप में परिणत करती है तथा यह परिणाम भी स्वतः ही होता है जैसे गाय के थन से स्वतः ही दूध निकलता है , जबकि आचार्य रामानुज के अनुसार जगत् का मूल कारण ब्रह्म है और वही अपने संकल्प द्वारा जगत् की सृष्टि करता है।[3] रामानुज को मान्य प्रकृति ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है अपितु ईश्वर की देहस्वरूप है फलतः उसके आधीन तथा ईश्वर द्वारा ही संचालित व निर्देशित होती है । सिसृक्षा होने पर स्वयं ईश्वर ही प्रकृति के माध्यम से जगद्रूप से परिणमित होता है, अतः विशिष्टाद्वैती ईश्वर को ही जगत् का कारण स्वीकार करते हैं । प्रलयकाल में यह प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म दशा में ईश्वर में रहती है । इस अवस्था में यह नामरूपविभाग -

- -

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ।। - सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, 9
2. A Critical Study of the Philosophy of Ramanuja - Anima Sen Gupta.
3. श्रीभाष्य 2/1/25

रहित होती है तथा इसे "तमस" कहते हैं।[1] सृष्टिकाल में यह ईश्वर की प्रेरणा से ही महदादि रूपों में परिणत होती है। सत्त्व, रजस, तमस प्रकृति के गुण हैं। यहाँ भी सांख्यों का विशिष्टाद्वैतियों से मतवैभिन्य है। सांख्य मतानुयायी मानते हैं कि सत्त्व, रजस और तमस ही प्रकृति द्रव्य हैं, जबकि विशिष्टाद्वैती सत्वादि को द्रव्य न मानकर गुण मानते हैं। भगवद्गीता में भगवान ने भी "सत्त्वं रजस् तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवा" (14/5) अर्थात् सत्त्व, रजस और तमोगुण प्रकृतिजन्य हैं कहकर सत्त्वादि को गुणरूप से निरूपित किया है। प्रकृति की कारणावस्था में ये गुण अप्रकट रहते हैं तथा सृष्टिकाल में प्रकृति के विकारभूत महत्तत्त्वादि में प्रकट हो जाते हैं। इनमें से सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण ज्ञान और सुख तथा उसकी आसक्ति को जन्म देता है।[2] रजोगुण, राग, तृष्णा, तथा कर्मों में आसक्ति को उत्पन्न करता है तथा तमोगुण विपरीत ज्ञान, प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा को जन्म देता है।[3]

इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने पर प्रकृति से सर्वप्रथम महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। गुणों के भेद के कारण इसके भी तीन प्रकार हैं - सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें से कार्य - अकार्य, भय - अभय तथा बन्ध और मोक्ष में होने वाली प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का निश्चय जिसके द्वारा होता है वह "सात्त्विक बुद्धि" कही

---

1. भारतीय दर्शन (भाग दो) - डा० राधाकृष्णन्।
2. श्रीमद्भागवद्गीता 14/6
3. सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
   प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। गीता 14/10

जाती है तथा जीव जिसके द्वारा धर्म - अधर्म, कार्य, अकार्य को ठीक से समझ नहीं पाता वह " राजसी बुद्धि " तथा अज्ञानाच्छन्न होने के कारण समस्त वस्तुओं का विपरीत ज्ञान प्राप्त कराने वाली बुद्धि "तामसी बुद्धि " कहलाती है ।

विकास क्रम में महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है वह भी गुणों की प्रधानता से तीन प्रकार का होता है - वैकारिक, तैजस और भूतादि । इन्हें सात्त्विक अहंकार राजस अहंकार और तामस अहंकार भी कहते हैं । भगवान पराशर ने विष्णु पुराण में कहा है " वैकारिक, तैजस और तामस ये तीन प्रकार के अहंकार महत् से उत्पन्न हुए ।[1] ये क्रमशः सात्त्विकाहंकार , राजसाहंकार तथा तामसाहंकार कहे जाते हैं । इनमें सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । जिनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण तथा जिह्वा और मन ये छः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कर्म क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों का ग्रहण है । वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों के कर्म क्रमशः वाणी, शिल्प, गति, विसर्ग तथा आनन्दविशेष जनकत्व है । मन इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों के कर्मों का सहकारी है ।[2] ज्ञानेन्द्रियाँ जीव को जगत् को समझने में सहायता करती है । रामानुज कहते हैं कि मनस अन्तरिन्द्रिय है ।[3] यही ज्ञान का आधार है । मनस अहंकार, चित्त और बुद्धि के रूप में कार्य करता

- -

1. वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ।
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत् ।। विष्णु पुराण 1/2/35

2. तत्त्वत्रय, अचित्प्रकरण 38

3. 'Manas or mind is the inner sense organ......'
A Critical study of the Philosphy of Ramanuja - Anima Sen Gupta, Page 86

है, वही, बन्धन तथा मुक्ति का कारण है ।

सांख्य के अनुसार बुद्धि के द्वारा बन्धन तथा मोक्ष होता है । उनके अनुसार मनस् की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से होती है । सांख्य मत में सामान्यतः बुद्धि और मनस् में किंचित् भेद प्रतीत होता है किन्तु तत्त्वतः उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता । मनस् का कार्य " संकल्प " तथा बुद्धि का कार्य " अध्यवसाय " है । प्रत्येक कार्य में संकल्प तथा अध्यवसाय दोनों की संयुक्त रूप से आवश्यकता होती है। इस प्रकार सांख्य मत में मनस् और बुद्धि साथ-साथ कार्य करते हैं तथा ये अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं । जब ये व्यक्तावस्था में आते हैं तो परस्पर इतने संयुक्त होकर कार्य करते हैं कि ये समझना कठिन हो जाता है कि ये एक इन्द्रिय है अथवा एक से अधिक ।[1]

इसके विपरीत आचार्य रामानुज के अनुसार मानस व्यापार के कारण जब आत्मा भ्रमवश शरीर रूप से ज्ञात होता है तब उसे अहंकार कहते हैं तथा इच्छाविशिष्ट होने पर वही 'चित्त' कहलाता है तथा जब मनस् सत्य और असत्य में भेद ज्ञात करता है तब वही 'बुद्धि' कहलाता है ।

सात्त्विक अहंकार से जन्य होने के कारण ये लघु और प्रकाशक होते हैं ।

---

1. A critical Study of the Philosophy of Ramanuja-Anima Sen Gupta, Page 86

तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रा उत्पन्न होती है तथा शब्द तन्मात्रा से आकाश और स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है । स्पर्श तन्मात्रा से वायु और रूप तन्मात्रा उत्पन्न होते है, रूप तन्मात्रा से तेज और रस तन्मात्रा तथा रस तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है ।

राजस अहंकार, सात्त्विक और राजस अहंकार के अपने -अपने कार्य के उत्पादन में सहकारी होता है । जिस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति में जल, बीज का सहकारी; होता है उसी प्रकार इन्द्रियों तथा भूतों की उत्पत्ति में रजोगुण सत्त्वांश और तमोंश को रजस के द्वारा प्रेरित करके सहकारी होता है ।

इस प्रकार प्रकृति से लेकर भूतों तक की उत्पत्ति होती है ।

आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की तरह सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं । आचार्य वल्लभ के ग्रन्थों में सृष्टि प्रक्रिया का बहुत विशद विवेचन प्राप्त नहीं होता । रामानुजाचार्य की तरह वल्लभ की सृष्टि प्रक्रिया भी कुछ मूलभूत अन्तरों के साथ सांख्यानुसारी ही है । सांख्य और वाल्लभ सृष्टि में सबसे प्रमुख भेद प्रकृतिकारणवाद और ब्रह्मकारणवाद का ही है । सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व हैं । जबकि वल्लभ इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते । पुरुष तत्त्व ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है तथा प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है, ये दोनों ही ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्म रूप से ही इनकी सत्ता है। इसके अतिरिक्त सांख्य के अनुसार सृष्टि का कारण प्रकृति है जबकि वल्लभ रामानुज की तरह सृष्टि का कारण ब्रह्म को ही मानते हैं । सांख्य तीनों गुणों को ही प्रकृति

मानता है किन्तु वल्लभ के अनुसार त्रिगुण और प्रकृति भिन्न भिन्न है ।

पूर्व अध्याय में कहा जा सका है कि ब्रह्म का 'अक्षर' रूप सृष्टि का कारण है । परब्रह्म की जगत् - सिसृक्षा मात्र से किंचिद् आनन्द तिरोभूत हो जाता है और इसी से "अक्षर" का रूप आविर्भूत होता है । इसी अक्षर रूप से ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र जगत् की रचना करता है ।

सृष्टि प्रक्रिया में अक्षर से अट्ठाइस तत्त्व आविर्भूत होते हैं वे इस प्रकार हैं- सत्त्व, रजस्, तमस्, पुरुष प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन । इनका भगवत्त्व होने के कारण ही ये तत्त्व कहे जाते हैं, पृथक् पदार्थ होने के कारण नहीं ।[1] परब्रह्म के सच्चिदानन्द गुणों में से सदंश की ही कारणता होती है, चित् और आनन्द की स्वतन्त्र कारणता नहीं है अपितु चित् का स्वरूपत्व और आनन्द का फलत्व है । अतः सदंश ही इन अट्ठाइस भागों में विभक्त होता है ।[2]

वल्लभ भी रामानुज की भाँति मन को भी ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं और इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों की संख्या छः स्वीकार करते हैं ।[3]

---

1. "तत्त्वान्येतानि भगवद्भावभूतानि भावो नाम सर्वान् प्रति सामान्यकारणता"
   - श्रीमद्भागवद 3/5/37 पर सुबो०
2. आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन ।
   - डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० - 244
3. श्रोत्रं त्वग्घ्राणादृग्जिह्वा मनः षडितिभेदतः - त०दी०नि०

सृष्टि का क्रम वल्लभ को भी सांख्यानुसारी ही अभीष्ट है । आचार्य वल्लभ ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानते हैं तथा सत्त्व, रजस्, तमस् को प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में भी स्वीकृति प्रदान करते हैं । यद्यपि ये गुण सांख्य को भी मान्य हैं किन्तु उनके मत में ये प्रकृति का स्वरूप हैं । प्रकृति से पृथक् त्रिगुणों का कोई अस्तित्व नहीं है । आचार्य वल्लभ भी प्रकृति को त्रिगुणात्मिका मानते हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म में क्रिया, ज्ञान और आनन्दरूप धर्म रहते हैं अतः प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से उसमें अंशतः तीनों गुण भी विद्यमान रहते हैं अतएव प्रकृति और गुणों में धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध भी रहता है यही वाल्लभ मत तथा कपिल मत में प्रकृति सम्बन्धी वैशिष्ट्य है ।[1]

आचार्य वल्लभ ने सत्त्वादि के स्वभाव की चर्चा स्वतन्त्र रूप से कहीं नहीं की है अतः सम्भवतः इन्हें उनका वही रूप स्वीकार है जो साधारणतः स्वीकृत है। "प्रस्थानरत्नाकर " के ग्रन्थकार पुरुषोत्तम ने अवश्य इनके स्वरूप की चर्चा की है । इन्होंने गीता में निर्दिष्ट स्वरूप को ही स्वीकार किया है तथा सांख्याभिमत स्वभाव को स्वीकारा है । सांख्य से पार्थक्य यहाँ यह है कि सांख्यमत में गुणों की पुरुषार्थ हेतु स्वतः प्रवृत्ति स्वीकार की गयी है जबकि वाल्लभ मत में गुण भगवदिच्छा से ही प्रवृत्त होते हैं । इसके अतिरिक्त सांख्य में इनका सम्बन्ध केवल प्रकृति से ही होता है किन्तु शुद्धाद्वैत मत में ये वस्तुतः ब्रह्म के गुण हैं, इनका सम्बन्ध प्रकृति के

---

1. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त,
   - राधारानी सुखवाल, पृ० - 83

अतिरिक्त भी है । सृष्टिकाल में ईश्वर अपनी माया शक्ति से इनका ग्रहण कर सृष्टि करता है इसीलिए माया को "त्रिगुणात्मिका " कहा गया है । यहाँ ध्यातव्य है कि ये गुण ब्रह्म के आश्रय हैं किन्तु ब्रह्म त्रिगुणात्मक नहीं है, वह तो निर्गुण ही है, ये गुण ब्रह्मात्मक है, ये ब्रह्म का स्वभाव नहीं है अपितु ब्रह्म इनका "आत्मभूत" है ।

गुणों के पश्चात् प्रकृति और पुरुष आते हैं किन्तु शुद्धाद्वैत मत में इनकी कोई विशेष भूमिका नहीं है । पुरुष की स्थिति वाल्लभ मत में अत्यन्त अस्पष्ट सी है , यह ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है । तत्त्वदीपनिबन्ध में आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म अपने अक्षररूप में पुरुष और प्रकृति के भेद से द्विविध है ।[1] इस प्रकार पुरुष अक्षर का ही एक रूप है । आचार्य ने ब्रह्म की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ स्वीकार की हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्वहीन अभिव्यक्ति पुरुष ही है । यदि इसकी कल्पना न भी होती तो सिद्धान्त में कोई अन्तर न आता ।

इसी प्रकार प्रकृति को भी कोई महत्वपूर्ण स्थान शुद्धाद्वैत में नहीं प्राप्त है । यह भी ब्रह्म की अनेक शक्तियों में से एक है । इसे ब्रह्म के अक्षर रूप की शक्ति कहा गया है ।[2] जिस प्रकार सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म " अक्षर " कहलाता है उसी प्रकार माया सृष्टि के सन्दर्भ में 'प्रकृति' कहलाती है । इसप्रकार प्रकृति माया की ही स्थितिविशेष है । सांख्य में तो प्रकृति ही सृष्टि का मूल कारण है

---

1. प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।
   यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ।। त०दी०नि० 2/98
2. अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, माया कृष्णस्य
   – त०दी०नि० 2/120 पर प्रकाश

किन्तु वाल्लभ मत में उसे इतनी अहं भूमिका नहीं प्राप्त है । वल्लभ ने सर्वत्र सृष्टि को मायाजन्य ही कहा है, कहीं प्रकृतिजन्य नहीं कहा है । इस प्रकार यह माया की ही एक स्थिति है, तथा माया के अधीन है । पुरुष की ही तरह प्रकृति का स्वरूप भी आचार्य ने बहुत स्पष्ट नहीं किया है । माया की ही स्थितिविशेष होने पर भी इसे माया के समान महत्त्व प्राप्त नहीं है । सांख्य में जैसा महत्त्व प्रकृति को प्राप्त है, वैसा ही शुद्धाद्वैत मत में माया का महत्त्व है । महदादि की उत्पत्ति भी प्रायः माया द्वारा ही कही जाती है, प्रकृति द्वारा नहीं ।

तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम सांख्य जैसा ही है - प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएं तथा पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं ।

यह सृष्टि ब्रह्मात्मक होने के कारण सत्य है, इसका निर्देश पहले ही किया जा चुका है । इसकी उत्पत्ति और नाश की जो प्रतीति होती है वह आविर्भाव और तिरोभावरूप ही है, वस्तुतः इसकी न तो उत्पत्ति होती है और न ही नाश । प्रलयदशा में भगवान आत्मरमण की इच्छा से इसे स्वयं में समाहित कर लेते हैं । इस प्रकार प्रलयकाल में भी इसका नाश नहीं होता बल्कि ब्रह्म में इसका लयमात्र होता है । ब्रह्म में उसकी सूक्ष्मरूप में स्थिति तब भी बनी रहती है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य को मान्य सृष्टि-प्रक्रिया सांख्याभिमत सृष्टि-प्रक्रिया के अनुरूप ही है । दोनों में विशेष अन्तर यह है कि

रामानुज और वल्लभ ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानते हैं जबकि सांख्य में सृष्टि का कारण प्रकृति को माना गया है । रामानुज और वल्लभ सृष्टि क्रम में एकमत हैं । दोनों में पार्थक्य यह है कि रामानुज की सम्पूर्ण सृष्टि -प्रक्रिया ब्रह्म से नियमित व ब्रह्म की शरीरभूत " प्रकृति " द्वारा होती है जबकि वाल्लभ मत में सृष्टि स्वयं ब्रह्म के" अक्षर रूप " से होती है । वाल्लभ मत में प्रकृति की कोई विशेष भूमिका नहीं है । जबकि रामानुज की सम्पूर्ण सृष्टि- प्रक्रिया ही प्रकृति पर आधारित है । यहाँ ध्यातव्य है कि रामानुज को स्वीकृत प्रकृति सांख्य के समान ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है,अपितु ब्रह्म के अधीन ही है ।

इसके अतिरिक्त वल्लभ 28 तत्त्व मानते हैं जबकि रामानुज को 24 तत्त्व ही मान्य हैं । वल्लभ प्रकृति और त्रिगुण को भिन्न -भिन्न मानते हैं किन्तु रामानुज के अनुसार सत्त्वादि प्रकृति के गुण हैं । सृष्टि क्रम में दोनों आचार्यों में कोई भेद नहीं है ।

जगत् और संसार में भेद -

जगत् और संसार की धारणा को लेकर दोनों आचार्यों में मतवैभिन्य है । आचार्य शंकर और रामानुज जगत् और संसार को समानार्थक मानते हैं, दोनों में पार्थक्य केवल इसके अस्तित्व को लेकर है । शंकर जगत को ब्रह्म का विवर्तरूप मानकर पारमार्थिक दृष्टि से असत्य स्वीकार करते हैं जबकि रामानुज इसे ब्रह्म का शरीर मानने के कारण जगत् या संसार को भी सत्य मानते हैं किन्तु आचार्य वल्लभ का मत इन दोनों से भिन्न है । वे जगत् और संसार को भिन्न - भिन्न मानते हैं । वल्लभ

के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म के सदंश से आविर्भूत होने के कारण सत्य है, प्रपंच को वे भगवत्कार्य मानते हैं अतः ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण प्रपंच भी भगवद्रूप है, फलतः सत्य है किन्तु संसार जगत् से भिन्न है । जीव जब भगवत्कार्य जगत् को ब्रह्म से भिन्न समझकर उसमें 'वास्तविक द्वैत' देखने लगता है तब इस 'द्वैतबुद्धि या 'भेदबुद्धि' से ही संसार की उत्पत्ति होती है । माया की अविद्या नामक शक्ति से संसार का निर्माण होता है ।[1] अविद्या माया से मोहित जीव अपनी कल्पना मात्र से संसार का निर्माण करता है । यह अविद्या पाँचपर्वों वाली है । ये पर्व हैं - अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास और स्वरूपविस्मरण । इनकी चर्चा "माया की धारणा" अध्याय में की जा चुकी है । अविद्या जीव की बुद्धि की व्यामोहिका होती है । जीव बुद्धि का व्यामोहन करके उसमें सद्वस्तु सदृश मायिक पदार्थों की सृष्टिकर सद्वस्तु पर आरोपित कर देती है फलतः जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं देख पाता, उसका भ्रमात्मक ज्ञान ही प्राप्त कर पाता है परिणामस्वरूप जागतिक पदार्थों को ब्रह्मभिन्न समझकर उसमें अहंबुद्धि आरोपित कर लेता है । यह "अहंबुद्धि" ही संसार है तथा यही जीव के दुःख का कारण है ।

अविद्याजन्य भ्रमात्मिका बुद्धि को आचार्य विषय से सम्बन्धित होने के कारण "विषयता" की संज्ञा देते हैं, इसका पूर्व अध्याय में वर्णन किया जा चुका है । यह विषयता जगत् समानाकारा तथा मायाजन्य होती है, इस विषयता के कारण ही

---

1. तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीव संसार उच्यते ।

- तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण, कारिका 23

पदार्थ अन्यथा न होने पर भी अन्यथा से प्रतीत होते हैं जैसे चक्कर खाते हुए व्यक्ति को स्थिर घटादि पदार्थ भी घूमते हुए से दिखाई देते हैं।[1] यहाँ स्थिर घटादि पदार्थ तो वस्तुरूप हैं तथा उसमें जो जडत्व, तुच्छत्व, मोह आदि की प्रतीति है वही विषयतारूप मायिक धर्म है।[2]

जगत् में ब्रह्मभिन्न बुद्धि होने पर जीव; जगत् में आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता है इसीलिए वल्लभ संसार को "अहंताममतात्मक" भी कहते हैं। सुख:दु:खादि भी संसार के ही धर्म हैं,जगत् के नहीं।

इस प्रकार निष्कर्षत: अविद्या के कारण जीव को जो ब्रह्मभूत जगत् में ब्रह्म-भिन्न द्वैत- प्रतीति होती है वही "संसार" है। यह मिथ्या और भ्रामक है तथा सत् स्वरूप के ज्ञान से इसकी निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि यह वास्तविकता नहीं है,अपितु भ्रममात्र है। जबकि जगत् ब्रह्म द्वारा आविर्भूत होने के कारण ब्रह्मवत् ही सत्य है फलत: उसकी निवृत्ति नहीं होती। तत्वज्ञान होने पर संसार का नाश सम्भव है किन्तु जगत् ब्रह्मात्मक है अत: तत्त्वज्ञान के बाद भी जगत् का नाश नहीं होता।[3]

प्रपंच और संसार का भेद न समझ पाने के कारण ही जीव मोहित होता है। आविर्भाव और तिरोभाव भी प्रपंच के ही होते हैं संसार के नहीं क्योंकि इनका

---

1. आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन -
   - डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० - 24
2. विषयतारूपं विकृतं जगत्कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जडमोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याय्यते, आत्मरूपेऽनात्मत्वं च प्रत्याय्यत इत्यर्थ:
   - श्रीमद्भागवत 3/7/15 पर सुबो०
3. संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित्,
   -त० दी०नि० शास्त्रार्थप्रकरण, कारिका 24

अस्तित्व विद्यमान वस्तु में ही होता है, संसार तो कल्पित वस्तु है, आविद्यक होने के कारण असत् है अतः इसका आविर्भाव - तिरोभाव नहीं अपितु भगवद्भजन से समूल नाश ही हो जाता है ।

यहाँ एक शंका होती है कि माया और अविद्या दोनों ही ब्रह्म की शक्तियाँ हैं अतः मायाकृत जगत् को ब्रह्मात्मक फलतः सत्य और अविद्याकृत संसार को अब्रह्मात्मक फलतः असत्य क्यों माना जाता है ? इसके निवारणार्थ आचार्य कहते हैं कि जगत् ब्रह्मोपादानक और मायाकरणक है जबकि संसार का उपादान और करण दोनों ही अविद्या है, अतः जगत् को ब्रह्मात्मक और संसार को अविद्यात्मक कहा गया है ।[1] यद्यपि अविद्या भी ब्रह्म की शक्ति है तथापि ब्रह्म के जीव रूप से विशेषतया सम्बद्ध होने के कारण जीव की शक्ति कही जाती है ।

निष्कर्ष :

अब तक के विवेचन के आधार पर यह तो निश्चय हो ही गया कि आचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य शंकराचार्य को स्वीकृत "जगत्मिथ्यात्व" को तर्कविरुद्ध घोषित कर जगत की सत्यता प्रतिपादित करते हैं । उनको स्वीकृत सृष्टि- सिद्धान्त का संक्षेप इस प्रकार है -

(1) रामानुज और वल्लभाचार्य दोनों ही सविशेषवस्तुवादी आचार्य हैं । इनको स्वीकृत ब्रह्म सगुण सविशेष है, वह अनन्त दिव्य गुणों का स्वामी है । कर्तृत्व उसका स्वभाव है। ब्रह्म ही सृष्टि का कर्ता, संहर्ता एवं धारक है । रामानुज और वल्लभ ब्रह्म के कर्तृत्व को मायिक या आरोपित न मानकर सत्य और स्वाभाविक स्वीकार करते हैं, स्वाभाविक कर्तृत्व होने के कारण कर्तृत्व का परिणाम अर्थात् सृष्टि का सत्य होना स्वाभाविक एवं सहज सिद्ध है ।

---

1. ..... तथा च प्रपंचस्य ब्रह्मोपादानकत्वं, मायाकरणकत्वं संसारस्याविद्यकत्वं अविद्याकरणकत्वमिति कारणभेदाद्भेदः " - त०दी०नि० 1/27

रामानुज के अनुसार ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है । चित् जीवात्मा और अचित् जगत् उसके विशेषण तथा शरीरभूत हैं । ईश्वर का शरीर होने के कारण जगत् सत्य व नित्य है । चिदचिद् ईश्वर के शरीर हैं तथा ईश्वर इनका आत्मा है। अतः चित् और अचित् सर्वथा ईश्वर के अधीन है । यहाँ शरीर का अर्थ पंचतत्वनिर्मित शरीर नहीं है, ब्रह्म शरीर होने का तात्पर्य ब्रह्म द्वारा धार्य, नियंत्रित और ब्रह्माधीन होना है ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत् ब्रह्म का सदंश प्रधान रूप है । सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने चिदानन्द का तिरोभाव करके सदंश से जगद्रूप में आविर्भूत होता है इस प्रकार आचार्य प्रपंच को भगवत्कार्य मानते है । भगवत्कार्य होने के कारण जगत् भी सत्य है ।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ तथा रामानुज दोनों ही सृष्टि को सत्य स्वीकार करते हैं, किन्तु सृष्टि को सत्य स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ है । आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म का शरीर होने के कारण जगत् की ब्रह्माधीनता स्वतः सिद्ध है । जिस प्रकार शरीर की शरीरी से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । जगत् की सत्यता ब्रह्म की सत्यता से पृथक् कुछ भी नहीं है ।

आचार्य वल्लभ भी जगत् की सत्यता का अर्थ जगत् की ब्रह्मात्मकता ही स्वीकार करते हैं । ब्रह्म के सदंश से आविर्भूत होने के कारण जगत् भी जीव की भाँति ब्रह्म का अंश है, अतः अपने अंशी ब्रह्म से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नहीं है । जगत् जगद्रूप से नहीं अपितु ब्रह्मरूप से सत्य है ।

आचार्य रामानुज एवं वल्लभ जगत् की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते अपितु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं । जगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं होती अपितु आविर्भाव होता है । आचार्य रामानुज के अनुसार चित् और अचित् ईश्वर के नित्य सहवर्ती विशेषण हैं । अतः प्रत्येक स्थिति में ब्रह्म में वे शरीर अथवा विशेषण रूप से स्थित रहते हैं । सृष्टि से पूर्व और प्रलयकाल में वे अपने कारण ब्रह्म में नामरूप

के भेद से रहित अत्यन्त सूक्ष्मदशा में अवस्थित होते हैं । सृष्टि के समय वही नाम-रूप के भेद से युक्त होकर स्थूल रूप में व्यक्त होते हैं । इस प्रकार आचार्य प्रत्येक दशा में जगत् की ब्रह्म के शरीररूप में स्थिति स्वीकार करते हैं ।

आचार्य वल्लभ भी जगत् की उत्पत्ति एवं नाश नहीं मानते अपितु अपने कारण में पहले से स्थित जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव मानते हैं । आचार्य आविर्भाव और तिरोभाव को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं । ईश्वर अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभावद्वारा जीव, जगद्रूप धारण करता है । "एकोऽहं बहुस्याम्" इस प्रकार की इच्छा होने पर ब्रह्म स्वयं ही जीव जगद्रूप से आविर्भूत होता है । तथा प्रलय दशा में आत्मरमण की इच्छा होने पर जगत् का स्वयं में संवरण कर लेता है ।

यहाँ दोनों आचार्यों में यह वैषम्य है कि आचार्य रामानुज प्रलयकाल में भी जगत् की अत्यन्त सूक्ष्मरूप में स्थिति स्वीकार करते हैं; क्योंकि रामानुज के अनुसार चिदचिद् ईश्वर के नित्य सहवर्ती विशेषण हैं अतः विशेषणरूप से उनकी स्थिति आचार्य प्रत्येक दशा में स्वीकार करते हैं जबकि आचार्य वल्लभ के अनुसार प्रलय काल में जीव जगत् का ब्रह्म में लय हो जाता है ।

रामानुज और वल्लभ दोनों ही ब्रह्म को ही सृष्टि का कर्ता मानते हैं तथा सृष्टि को ब्रह्म की लीला स्वीकार करते हैं।अतः इस विषय में आचार्यों में साम्य है कि ब्रह्म किसी प्रयोजन से नहीं अपितु लीलारस की पूर्ति हेतु ही सृष्टि करता है ।

सृष्टि का कर्ता होने के साथ ही साथ दोनों आचार्यों को ब्रह्म का ही सृष्टिकारणत्व भी अभीष्ट है । दोनों ही मतों में ब्रह्मातिरिक्त तत्त्वान्तर का अभाव होने के कारण अन्य किसी के कारणत्व के लिए अवकाश ही नहीं है । ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्तकारण भी है और वही उपादानकारण भी । स्वयं ब्रह्म ही जीव, जगद्रूप में परिणमित होता है । प्रपंच रूप में परिणमित होने पर भी ब्रह्म के

स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, वह सर्वथा अविकारी ही रहता है। दोनों ही आचार्य "अविकृतपरिणामवाद" के पोषक हैं।" अविकृतपरिणाम" में वस्तु विभिन्न रूपों में परिणत होकर भी अविकृत ही बनी रहती है। इन्हें दुग्धदधिवत्परिणाम अभीष्ट नहीं है अपितु सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम इन्हें स्वीकार है। जिस प्रकार कुण्डलादि अनेक रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में तत्त्वत: कोई विकार नहीं आता उसी प्रकार जीव जगदादि विभिन्न रूपों में परिणत होकर भी ब्रह्म अपरिणामी ही बना रहता है। इस प्रकार सृष्टि ब्रह्म की ही परिणति है,। इस विषय में दोनों आचार्यों में ऐकमत्य है किन्तु दोनों को स्वीकृत परिणाम क्रिया में पर्याप्त अन्तर है।

आचार्य रामानुज ब्रह्म का साक्षात् परिणाम नहीं स्वीकार करते, उनके अनुसार सम्पूर्ण परिणमन क्रिया ब्रह्म के विशेषणभूत चिदचिदंशों में होती है, इस प्रकार वे विशेषणद्वारक परिणाम स्वीकार करते हैं जबकि वल्लभ के अनुसार स्वयं ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में परिणमित होता है। वे चिदचिद् को ब्रह्म का शरीर न मानकर उसकी स्वरूपाभिव्यक्ति मानते हैं अत: उनका ब्रह्म अपने गुणों को तिरोभूत करके स्वयं ही जीव जगदादि रूपों में परिणमित होता है, परिणत होने के लिए उसे किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती और इस प्रकार वल्लभ को स्वीकृत परिणाम सद्वारक न होकर "साक्षात्" ही होता है। दोनों के द्वारा परिणमन प्रक्रिया में स्वीकृत यह वैषम्य उनकी परमवस्तु की पृथक् स्वरूप-कल्पना के कारण है।

आचार्य रामानुज और वल्लभ दोनों ही सत्कार्यवाद के समर्थक हैं। इन्हें मान्य सृष्टि- प्रक्रिया सांख्याभिमत सृष्टि- प्रक्रिया के ही समान है। दोनों में पार्थक्य इतना ही है कि सांख्य में सृष्टि का कारण प्रकृति को माना गया है। जबकि रामानुज और वल्लभ ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानते हैं। दोनों को स्वीकृत सृष्टि- क्रम भी सांख्यानुसारी ही है - प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्राएं तथा पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत।

इस प्रकार सृष्टि - क्रम में रामानुज और वल्लभ में मतसाम्य है । दोनों में पार्थक्य यह है कि रामानुज की सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया ब्रह्म से नियमित व ब्रह्म की शरीरभूत प्रकृति द्वारा होती है जबकि वल्लभ मत में सृष्टि ब्रह्म के अक्षर रूप द्वारा होती है । वल्लभ ने प्रकृति तत्व को स्वीकृति अवश्य प्रदान की है किन्तु उनके मत में न हो उसका कोई विशेष भूमिका है और न ही आचार्य ने उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट किया है, बस ब्रह्म के अक्षर रूप की शक्ति के रूप में उसका उल्लेखमात्र किया है, जबकि आचार्य रामानुज के दर्शन में प्रकृति को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उनकी तो सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया ही प्रकृति पर आधारित है । यहाँ विशेष यह है कि रामानुज को स्वीकृत प्रकृति सांख्य के समान ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्म के अधीन है ।

रामानुज और वल्लभ की सृष्टि सम्बन्धी धारणा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है - जगत् और संसार की कल्पना । इस विषय में दोनों आचार्यों में मतभेद है । आचार्य रामानुज जगत् और संसार को समानार्थक स्वीकार करते हैं जबकि आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत् और संसार भिन्न - भिन्न है । जगत् भगवत्कार्य होने के कारण सत्य है किन्तु संसार अविद्याजन्य होने के कारण असत्य है । जीव जब जागतिक पदार्थों को ब्रह्मभिन्न समझकर उसमें आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता है तो उसकी यह भेदबुद्धि संसार कही जाती है । संसार को आचार्य अहंताममतात्मक कहते हैं । सुख-दुख भी संसार के ही धर्म है । ज्ञान हो जाने पर संसार का ही नाश होता है प्रपंच का नहीं । जगत् और संसार की यह भिन्न धारणा आचार्य वल्लभ की मौलिक धारणा है ।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जगत् और संसार सम्बन्धी धारणा तथा सृष्टि की परिणाम प्रक्रिया में भेद के अतिरिक्त रामानुज और वल्लभ को मान्य सृष्टि सम्बन्धी धारणा लगभग एक ही है ।

सप्तम अध्याय

आलोच्य दर्शनों में साधना का स्वरूप

दार्शनिक विचारधारा में परम तत्त्व की प्राप्ति के साधन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः प्रत्येक मतवाद में साध्य के साथ ही साथ साधन के भी विवेचन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है । अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधना प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है क्योंकि सांसारिकता में लिप्त व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है । सांसारिक मोह- माया व्यक्ति को इतना असमर्थ बना देती है कि प्रायः अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना उसके लिए दुष्कर हो जाता है क्योंकि वह असत्य को इतना आत्मसात् किये रहता है कि उससे निवृत्ति पाना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है ।

आध्यात्मिक लक्ष्य कोई भी हो उस तक पहुँचने के लिए दीर्घ साधना - प्रक्रिया की आवश्यकता होती है अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने साधक के लिए उचित -अनुचित कर्मों का विवेचन किया है तथा नाना प्रकार के आन्तरिक व बाह्य ऐसे उपायों का निरूपण किया है जिससे साधक आत्मिक उत्कर्ष के मार्ग में बाधक मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर सके ।

आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति हेतु अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य है अतः आचार्यों ने प्रत्येक साधक के आन्तरिक परिष्कार के लिए एक साधना मार्ग निश्चित किया जो उसके अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति में सर्वाधिक उपयोगी व सहायक सिद्ध हो । सभी के विचार व रुचियाँ समान नहीं होती अतः निश्चित किये गये साधना-मार्ग के सम्बन्ध में भी आचार्यों में मतवैभिन्य स्वाभाविक ही है, फिर भी वर्गीकरण के आधार पर निश्चित किये गये प्रमुख तीन साधन मार्ग हमारे समक्ष आते हैं - ज्ञान-

मार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। ये तीनों मार्ग परस्पर सम्पृक्त हैं, भले ही आंशिक रूप से ही हों।

आचार्य रामानुज तथा वल्लभ दोनों ही भक्तिमार्गीय आचार्य हैं, इनके अनुसार मनुष्य का कल्याण एकमात्र भक्ति द्वारा ही सम्भव व सुगम है। रामानुजाचार्य ने ब्रह्म प्राप्ति में ज्ञान की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है किन्तु आचार्य वल्लभ ने भक्ति को ही ब्रह्मप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन घोषित किया है। आलोच्य दर्शनों में भक्ति का स्वरूप क्या है इस पर विचार करने के पूर्व भक्ति के मनोविज्ञान पर भी दो शब्द कहना अनिवार्य है।

भक्ति का मनोविज्ञान :

किसी प्रक्रिया अथवा उसके स्वरूप को समझने के लिए उसके मनोविज्ञान को समझना अनिवार्य है।

यह सर्वज्ञात तथ्य है कि सम्पूर्ण चेतन जगत, सम्पूर्ण सृष्टि "परमानन्द" के आकर्षण में बंधी है तथा उसी की खोज में प्रयत्नशील है, किन्तु मनुष्य की तो सम्पूर्ण दैहिक, मानसिक प्रवृत्तियों की प्रेरिका ही उस असीम, निर्बाध आनन्द की प्राप्ति की अभिलाषा है, ज्यों - ज्यों इसकी प्राप्ति की उत्कण्ठा प्रबल होती जाती है मानव की चेष्टाएं उसे असीम आनन्द की प्राप्ति की ओर प्रेरित करती हैं। आचार्य वल्लभ के अनुसार जीव की यह चेष्टा या अभिलाषा ईश्वर प्रेरित है क्योंकि जीव ब्रह्म का अंश है अतः वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपने अंश को अपनी ओर आकृष्ट करता है। ईश्वर की अपेक्षा आंशिक रूप में ही, किन्तु

स्वरूपतः जीव भी आनन्दमय है अतएव आत्मदर्शन या आत्मप्राप्ति ही आनन्द है, किन्तु सांसारिकता से भ्रमित व्यक्ति इसे कस्तूरी मृग की भाँति इस परिच्छिन्न बाह्य जगत में ढूंढता है फलतः उसे अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति भौतिक जगत् से नहीं होती क्योंकि सम्पूर्ण क्लेश सीमाजन्य ही तो है, आनन्द प्राप्ति तो "असीम" से ही होती है । बाह्य जगत् से प्राप्त आंशिक आनन्द से जीव सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूर्णत्व की खोज में भटकता रहता है ।

जीव सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों से रागात्मक आत्मीयता स्थापित कर लेता है तथा अपने अन्तर का सम्पूर्ण प्रेम उस पर न्योछावर कर देता है फिर भी जिसकी उसे अभिलाषा है वह आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता इसका कारण है, कि उसके सुख और आनन्द के विषय उसी की भाँति परिच्छिन्न हैं, वह जिससे फल चाहता है वह तो स्वयं याचक है अतः वह अतृप्त अभिलाषाओं का भार वहन करता नित्य नये आश्रय बदलता भटकता रहता है । न उसे सुख मिलता है और न ही सन्तोष ।

प्रेम सुखस्वरूप है और स्वविषयानुरूप अखण्ड सुखात्मक वस्तु चाहता है जो कि ब्रह्म ही हो सकता है । जीव आनन्दस्वरूप होते हुए दुर्धर्ष माया से आवृत्त होने के कारण अल्प आनन्द वाला है । अतः व्यक्ति जिसकी खोज में भटक रहा है वह पूर्ण तुष्टि व आनन्द उसे ईश्वर में ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि वही आनन्दघन, असीम और अपरिच्छिन्न है । स्थूल जगत् में प्राप्त होने वाला आंशिक आनन्द भी उस परब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है ।

इस विषय में तो सभी एकमत है कि आनन्द को भौतिक सुख से एकाकार नहीं किया जा सकता क्योंकि भौतिक जगत में सुख और दुःख परस्पर सापेक्ष स्थितियाँ है। मानवीय सुख भी दुःखमिश्रित है अतः वह अस्थिर व अनित्य है। इसके विपरीत ईश्वरीय आनन्द नित्य, सत्य और क्लेश की छाया से भी रहित है। यह शाश्वत, सर्वनिरपेक्ष, अतीन्द्रिय, अलौकिक आनन्द ही ब्रह्मानन्द है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् ही प्राणी वास्तविक अर्थों में " आनन्दी " बन पाता है। यही दृश्य जगत् से परे का आनन्द ही व्यक्ति का परम साध्य है। यही ज्ञान का अभीष्ट है, यही भक्ति का अभीष्ट है, यही योग और तप का भी अभीष्ट है और यही परम लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के लिए चाहे जिस मार्ग का आलम्बन लिया जा सकता है।

इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते हुए भी मानवीय प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल होने के कारण निःसंदेह रूप से भक्तिमार्ग ही अधिक सहज व स्वाभाविक है। मानव के मनोविज्ञान और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं का समावेश ही भक्ति की सबसे बड़ी विशिष्टता है।

मानव मात्र की महती आकांक्षा एक ऐसे आदर्श को प्राप्त करने की होती है जो सत्यं और शिवं का धारक हो तथा समयानुसार उसका मार्ग उचित निर्देशन द्वारा प्रशस्त कर सके, जिस पर वह अपनी पूर्ण आस्था व विश्वास रख सके और ऐसा अवलम्ब ईश्वर के अतिरिक्त अन्य का होना असम्भव है। एक सामान्य व्यक्ति में अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रायः नहीं होती, अतः

उसके लिए ईश्वर से श्रेष्ठ माध्यम और क्या हो सकता है ? ईश्वर ही ऐसा दर्पण है जिसमें व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन कर सकता है ।

ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति ही सर्वाधिक सुगम मार्ग है जो सदैव सगुण और साकार के ही प्रति होती है, निर्गुण और निराकार के प्रति नहीं । भक्ति का यही वैशिष्ट्य मानवीय प्रकृति से उसकी अन्तरंगता दर्शित करता है ।

यह अतिमानवीय तथ्य है या यह कहें कि मानव - स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है कि वह जब भी उस चिरन्तन तत्व को अपने मानस- पटल पर या चिन्तन की परिधि में लाने का प्रयास करेगा, साकार और सविशेष बनाकर ही ला पायेगा । उसकी ईश्वर कल्पना मानवीय प्रकृति से सर्वथा अप्रभावित नहीं रह सकती क्योंकि वह ब्रह्म में भी मानवीयता का आरोप कर देता है । इस मनोवृत्ति के आग्रह से ही भक्ति अनादि सत्य को " निराकार " में नहीं अपितु "साकार" ईश्वर के रूप में ही स्वीकार करती है जो सर्वशक्तिमान, दिव्यगुणों के स्वामी, भक्तवत्सल व प्रभु हैं ।

यह सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म की लीला है । जीव उसी का अंश है और ब्रह्म का आनन्द ही जीव में अभिव्यक्त होकर " आत्मानन्द " कहलाता है । यह आनन्द जीव में उसकी बाह्य चेतना से आवृत्त अज्ञान से मलिन और विषय भोगों से लिप्त है, अतः इसकी अनुभूति असम्भव है । जीव जब चेतना के सूक्ष्म स्तर पर पहुँचकर समस्त सृष्टि के आत्मभूत ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है तभी

उसे अखण्ड आनन्द की अनुभूति होती है । भौतिक सुख अनित्य होने के कारण कभी सत्य व शाश्वत नहीं हो सकते, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य सुखस्वरूप है तथा उसकी ओर उन्मुख प्रेम ही नित्य आनन्दस्वरूप हो सकता है ।

भक्ति इसी श्रेष्ठतम प्रेम का विधान है और ब्रह्मानन्द को निकट लाने का सर्वाधिक सहज साधन है । भक्ति का प्राणतत्व " प्रेम" है तथा प्रेम की भावना ही मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों में सर्वाधिक महत्त्वशाली व गौरवमयी तथा आनन्द-प्रदान करने वाली है । भौतिक स्तर पर व्यक्ति के ऐन्द्रिक सुखों में उलझे होने के कारण यह प्रेम भी अत्यन्त असहाय व पंगु हो जाता है । भक्ति इसी भौतिक प्रेम का संस्कार कर उसके माध्यम से ब्रह्मानन्द की अनुभूति कराना चाहती है।

मानव स्वभाव में संवेगों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि ये जीवन को गति प्रदान करते हैं तथापि यही बन्धन का कारण भी बनते हैं । संवेगों पर नियंत्रण सामान्य व्यक्ति के लिए दुष्कर है, भक्ति मनुष्य के संवेगों का परिष्कार करती है । भक्ति सांसारिक वासनाओं के बलपूर्वक दमन में विश्वास नहीं रखती क्योंकि बलात् दमन किये जाने पर मन की विकृतियां कुछ समय के लिए शमित भले ही हो जाएं , किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता, अतः समय पाते ही पुनः वह मानव - मन में उदित हो उठती है । अतः भक्ति उनका दमन न कर, उनका केन्द्र परिवर्तित कर देती है, इस तरह अभी तक जो मनोवृत्तियां सांसारि-कता में लिप्त थीं, उनका प्रवाह स्वयमेव ईश्वर की ओर हो जाता है । ईश्वर के प्रति आसक्ति हो जाने पर सांसारिक विषय भोगों के प्रति विरक्ति स्वतः

ही होने लगती है । इस प्रकार भक्त को विषय - वासनाओं से स्वयं को हटाने के लिए अभ्यास कुछ भी नहीं करना पड़ता, भक्ति स्वतः ही उसके मनोविकारों को परिष्कृत करके उसकी मनोवृत्तियों की दिशा ईश्वर की ओर मोड़ देती है।

भक्ति की दृष्टि अत्यन्त उदार है, उसके लिए ऊँच, नीच, अमीर, गरीब में कोई भेद नहीं है । ईश्वर के प्रति आसक्त प्रत्येक व्यक्ति भक्ति का अधिकारी हो सकता है । भक्ति की इसी सर्वजनसुलभता के कारण उसे भगवत्प्राप्ति का सबसे सहज मार्ग कहा जाता है ।

किन्तु सभी मनुष्यों को सहज ही भक्ति प्राप्त नहीं हो जाती, इसके लिए भी कुछ अनुष्ठान की अपेक्षा रहती है । इस विषय में दोनों आचार्यों के मतों में पर्याप्त अन्तर है । भक्ति के स्वरूप तथा साधना- प्रक्रिया के विषय में दोनों आचार्यों के मतों में वैषम्य दिखायी पड़ता है, यही वैषम्य दोनों के मतवाद में भेद का प्रमुख कारण है ।

अतः भक्ति के मनोविज्ञान के उपरान्त अब दोनों आचार्यों के अनुसार भक्ति के स्वरूप तथा साधना प्रक्रिया का पृथक् - पृथक् विवेचन क्रमशः किया जायेगा ।

रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति :

तत्ववेत्ताओं द्वारा ईश्वरप्राप्ति के प्रायः तीन मार्ग स्वीकार किये गये हैं[1] कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, और भक्तिमार्ग । रामानुज भक्तिमार्गीय आचार्य हैं, अतः वे भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार करते हैं किन्तु

आचार्य को अभिमत भक्ति ज्ञान और कर्म से सर्वथा शून्य नहीं है, अपितु ज्ञान और कर्म से युक्त भक्ति को ही वे ईश्वर- प्राप्ति का साधन स्वीकार करते है, इसकी चर्चा इसी अध्याय में आगे की जायेगी । यहाँ सर्वप्रथम दोनों आचार्यों के अनुसार भक्ति का अर्थ क्या है, इस पर विचार किया जा रहा है ।

"भज् सेवायाम् " धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से भक्ति शब्द की निष्पत्ति होती है ।

आचार्य के अनुसार " ध्रुवानुस्मृतिरूप " ध्यान अथवा उपासना ही भक्ति शब्द का अर्थ है । आचार्य कहते है कि भावनाशून्य केवल ज्ञान, भक्ति नहीं है अपितु यह विशेष प्रकारक ज्ञान है जो ईश्वर के प्रति प्रेम से पूर्ण है । " अथातोब्रह्म जिज्ञासा " सूत्र के भाष्य में आचार्य कहते है कि " स्नेहपूर्वक किया गया ध्यान ही भक्ति है ।[1]

ध्यान को ही आचार्य ध्रुवानुस्मृति भी कहते है, ध्यान, उपासना और वेदन आदि शब्द एक - दूसरे के पर्याय हैं ।[2] अपने गीताभाष्य में आचार्य कहते हैं कि " चिन्तनप्रवाहरूप वहज्ञान जो दर्शन के समान आकार वाला हो जाता है वही ध्यान और उपासना कहा जाता है ।[3] इस प्रकार आचार्य के मत में ध्यान,

1· ‖1‖ "स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिः " - श्रुतप्रकाशिका, 1/1/1

‖2‖ स्नेहपूर्वमनुध्यानं

2· श्रीभाष्य 4/1/1

3· "स्मृतिसन्तानरूपं दर्शनसमानाकारं ध्यानोपासनशब्दवाच्यम् "

- गीताभाष्य, सातवें अध्याय की भूमिका ।

उपासना और ध्रुवानुस्मृति पर्यायवाची शब्द है । इसी ध्रुवानुस्मृति को वेदान्त-देशिकाचार्य ने " विसदृश बुद्धि के व्यवधान से रहित स्मृतिप्रवाह " की संज्ञा प्रदान की है।[1]

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रत्येक प्रकार की स्मृति ध्रुवानुस्मृति नहीं कही जा सकती, ध्रुवानुस्मृति शब्द, ध्रुव, अनु और स्मृति इन तीन शब्दों के मिश्रण से बना है अतः ध्रुवानुस्मृति से तात्पर्य है निरन्तरता और स्थिरता से विशिष्ट स्मृति ।

अब प्रश्न उठता है कि स्मृति क्या है ? आचार्य रामानुज स्मृति को "यथार्थ ज्ञान "कहते है । श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में आचार्य स्मृति के सन्दर्भ में कहते हैं कि" पूर्वानुभूत वस्तु के अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है ।[2] आचार्य ज्ञान को सदैव सत्यविषयक स्वीकार करते हैं अतः अनुभव जन्य संस्कार से उत्पन्न स्मृतिरूप ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान ही हुआ इसीलिए आचार्य स्मृति को भी यथार्थज्ञान स्वीकार करते है ।

<u>भक्ति और ध्यान:</u> आचार्य ध्यान को ध्रुवानुस्मृति का पर्याय कहते है । ध्यान का अर्थ मात्र "चिन्तन" ही नहीं होता अपितु स्मरण के अर्थ में भी ध्यान शब्द का प्रयोग बहुधा देखा जाता है, किन्तु सभी प्रकार का ध्यान ध्रुवानुस्मृति नहीं होता । ध्यान का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं - "ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्[3] अर्थात् तैलधारा के सदृश अविच्छिन्न स्मृतिप्रवाह को ध्यान कहते है । चूंकि आचार्य

---

1. स्मृतेर्ध्रुवत्वं विसदृशबुद्धिव्यवधानरहितप्रवाहत्वम्" तत्त्वटीका, पृ० 89
2. स्मृतिः पूर्वानुभूतविषयमनुभवसंस्कारमात्रजं ज्ञानम् -गीता भाष्य 15/15
3. श्रीभाष्य 1/1/1

के अनुसार ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति है, अतएव ध्रुवानुस्मृतिरूप ध्यान ही भक्ति रूप हुआ। इसीलिए यह ध्यान आचार्य के मत में साध्य भी है और साधन भी । साधनरूप ध्यान ही उत्तरोत्तरकालिक साध्यरूप ध्यान का कारण होता है।[1]

इस प्रकार आचार्य के अनुसार ध्यान ही ध्रुवानुस्मृति है किन्तु केवल तैलधारा-वदविच्छिन्नस्मृतिप्रवाहरूप ध्यान मात्र को ही भक्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर रावण द्वारा शत्रुबुद्धि से किया गया भगवान राम का ध्यान भी भक्ति कहा जायेगा जबकि भगवान राम में रावण की भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः ध्यान को आचार्य उसका प्रेमरूप या स्नेहरूप होना भी स्वीकार करते हैं अर्थात् स्मृतिप्रवाहरूप वह ध्यान जो प्रेममय हो, वही भक्ति शब्द का वाच्यार्थ है। गीता के सातवें अध्याय में आचार्य स्वयं ही कहते हैं - "स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरुच्यते बुधैः" अर्थात् स्नेहपूर्वक किये गये ध्यान को ही पण्डितों ने भक्ति कहा है । इस प्रकार आचार्य के अनुसार " स्नेहपूर्वक विहित तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिपरम्परा रूप ध्यान " ही भक्ति है तथा यह भक्ति ईश्वर के प्रति ही करणीय है । श्रीभाष्य में आचार्य कहते हैं कि पुरुषोत्तम भगवान नारायण के अतिरिक्त अन्य सभी, कर्म के वशीभूत होने के कारण ध्यान के विषय नहीं हो सकते ।[2]

---

1. रामानुज का भक्ति सिद्धान्त , डा० राम किशोर शास्त्री, पृ० - 67
2. "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः । अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः ।" - श्रीभाष्य 1/1/1

भक्ति और उपासना :

आचार्य रामानुज ने भक्ति और उपासना को एकार्थक स्वीकार किया है । ब्रह्मसूत्र 1/1/1 के भाष्य में आचार्य कहते हैं कि " उपासना " भक्ति शब्द का पर्याय है - " उपासनापर्यायत्वाद् भक्तिशब्दस्य ।" ।

" उप समीपे आस्यते यया इति " इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर उपासना शब्द का अर्थ होता है " जिस साधन द्वारा ईश्वर के समीप पहुँचा जाय" तथा भाव अर्थ में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार होगा - " उप समीपे आसनम् इति उपासना " अर्थात् " ईश्वर के समीप पहुँचना । " इस प्रकार दोनों ही अर्थों में उपासना शब्द का अर्थ हुआ " ईश्वर के समीप पहुँचने का माध्यम । " आचार्य रामानुज भक्ति को ही ईश्वर के समीप पहुँचने का माध्यम मानते हैं अतः वे भक्ति को उपासना का पर्याय मानते हैं तथा उपासना और ध्यान को भी वे समानार्थक स्वीकार करते हैं । अपने गीता भाष्य में आचार्य कहते हैं कि "स्मृतिसन्तानरूप ध्यान" ही उपासना शब्द वाच्य है ।[1] इस प्रकार उपासना और ध्यान एकार्थक हैं तथा ये दोनों ही भक्ति शब्द के पर्याय हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि उपासना शब्द भक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है । ईश्वर तक पहुँचने के सभी साधन उपासना के अन्तर्गत आते हैं अतः भक्ति तो उपासना है किन्तु प्रत्येक प्रकार की उपासना भक्ति के अन्तर्गत नहीं आती, इसीलिए आचार्य भक्ति रूप की उपासना को ही परमपुरुष-प्राप्ति का उपाय स्वीकार करते हैं । वे कहते हैं कि उपासना ही जब भक्ति के रूप में

---

1. गीताभाष्य , सातवें अध्याय की अवतारिका ।

परिपक्व हो जाती है तब वही परमपुरुष की प्राप्ति का उपाय बन जाती है ।[1]

इसी प्रकार उपासना और ध्यान की एकार्थकता होने पर भी ध्यान उपासना, की अपेक्षा व्याप्य है । ध्यान किसी वस्तु का तभी होता है जब ध्याता की चित्तवृत्ति ध्येय के समीप पहुँच जाय, चाहे वह स्मृतिरूप हो अथवा प्रत्यक्षरूप । आचार्य को ध्यान की स्मृति संतान रूपता ही अभीष्ट है अतः उपासना के स्मृतिसंतानरूप होने पर ही ध्यान के साथ उसकी एकार्थता हो सकती है । इस प्रकार आचार्य ध्यान और उपासना शब्दों का भक्ति में प्रयोग करते हैं ।

आचार्य " वेदन " शब्द का भी उपासना के अर्थ में प्रयोग करते हैं ।[2] शास्त्रों में भी ध्यान और उपासना आदि शब्दों के पर्याय रूप से वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है । वेदनोपदेशपरक वाक्यों में प्राय: वेदन, ध्यान और उपासना आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त है जिस प्रकार " मनोब्रह्मेत्युपासीत् " आदि में जो "उपासना" शब्द से कहा गया है वही " भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" आदि में " वेदन " शब्द से भी विधेय है ।[3] इस प्रकार आचार्य वेदन, ध्यान और उपासना को समानार्थक मानते हैं तथा इन सभी का प्रयोग भक्ति के अर्थ में करते हैं ।

---

1. उपासनं तु भक्तिरूपापन्नमेव परमप्राप्त्युपायभूतम् इति वेदान्तवाक्यसिद्धम् ।
   - गीताभाष्य, सातवें अध्याय की भूमिका
2. वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात् - ब्रो0 वृ0 श्रीभाष्य 1/1/1
3. श्रीभाष्य , 4/1/1

सेवा और भक्ति :

सेवा तो भक्ति का प्राण है । वेदार्थसंग्रह में आचार्य ने भक्ति को "सेवार्थक" बतलाया है । आचार्य के अनुसार परमकारुणिक सत्यसंकल्प ईश्वर की "सेवा" ही भक्ति शब्द का अर्थ है ।[1] "भज सेवायाम" धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से भक्ति शब्द की निष्पत्ति होती है ।आचार्य कहते हैं कि सेवा भक्ति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।[2] बोधायन स्मृति में भी व्युत्पत्ति रूप प्रमाण से सेवा को भक्ति कहा गया है ।[3] गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत्प्राप्ति के लिए अपनी सेवा का विधान किया है ।[4]

इस प्रकार आचार्य ध्यान, उपासना, वेदन और सेवा शब्दों का भक्ति के अर्थ में प्रयोग करते हैं अथवा यूँ कहें कि ध्यानादि को भक्ति का पर्याय अथवा सबको समानार्थक स्वीकार करते हैं फिर भी इन समस्त शब्दों में किंचित् सूक्ष्म अन्तर दिखाई देता है । अतः यदि इनकी कोटि निर्धारित की जाय तो इस प्रकार होगी- सेवा भक्ति की प्रथम अवस्था है जिसके अन्तर्गत पूजन, अर्चन, वन्दनादि समस्त क्रियाएं आ जाती हैं । वेदन प्रारम्भिक ज्ञान तथा ईश्वर के परज्ञान के रूप में भक्ति का

---

1. "स ...भमेरसदोषास्यसमस्तैरेक एव चेति सर्वैरात्मयाथात्म्यवेदिभिः सेव्यः पुरुषोत्तम एक एव ।- वेदार्थ संग्रह 32।
2. " सेवा भक्तिरूपास्तिरिति निघण्टुः - वेदार्थ संग्रह, तात्पर्यदीपिका, 352
3. भज इत्येष धातुर्वै सेवायां परिकीर्तितः । तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी।। बोधायन स्मृति तात्पर्यदीपिका, वेदार्थसंग्रह सं0 352
3. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
   स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते । गीता 14/26

पर्याय है । ईश्वर के समीप चित का पहुंचना उपासना तथा तत्पश्चात् तद्गत अविच्छिन्नस्मृतिप्रवाह ध्यान रूप भक्ति है ।

इस प्रकार आचार्य सेवा, वेदन, उपासना और ध्यान को क्रमिक रूप से भक्ति का साधन स्वीकार करते हैं ।

भक्ति के साधन :

आचार्य रामानुज ने भक्ति के सात साधनों का उल्लेख किया है जिसके अनुष्ठान से साधक के हृदय में भक्ति का उदय होता है ये साधन सप्तक इस प्रकार है -

§1§ विवेक :

जाति, आश्रय और निमित्त इन तीन प्रकार के दोषों से मुक्त खाद्य वस्तु द्वारा शरीर की शुद्धि " विवेक " है ।[1] यहाँ जातिदोष से अभिप्राय है कलंज अर्थात् विषाक्त बाणादि से हत पशु पक्षी का मांसादि अभक्ष्य अन्न । आश्रय दोष का तात्पर्य पापी के अन्न से है । इन सब दोषों से रहित भोज्य वस्तु का ग्रहण ही शुद्धाहार है । शुद्धाहार सत्त्व अर्थात अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आवश्यक है । तथा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही ध्रुवानुस्मृति होती है । अतः भक्ति के साधनों में प्रथम स्थान आहारशुद्धि अर्थात "विवेक" का है ।

§2§ विमोक :

भक्ति का एक अन्य साधन " विमोक " है । काम्य विषयों में

1· जात्याश्रयनिमित्तदुष्टादन्नात्कायशुद्धिर्विवेक: -बोधायनवृत्ति, श्रीभाष्य 1/1/1

अनासक्ति " विमोक " है ।[1] अर्थात पुत्र वित्तादि लौकिक तथा पारलौकिक स्वर्गादि काम्य विषयों के प्रति आसक्ति न होकर एकमात्र परमपुरुषोत्तम ईश्वर के प्रति ही आसक्ति रखना " विमोक " है । इस प्रकार विमोक के द्वारा काम्य-विषयों के प्रति अनासक्तिपूर्वक ईश्वर में आसक्ति का विधान किया गया है । छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कामादि से शान्त होकर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए ।[2]

§3§ अभ्यास :

किसी कार्य को बार - बार का प्रयत्न अभ्यास कहलाता है अर्थात् §ध्यान§ आलम्बनगत विषय का पुन: पुन: चिन्तन अभ्यास है ।[3]

§4§ क्रिया :

शक्ति के अनुसार पंचमहायज्ञादि का अनुष्ठान "क्रिया " है ।[4] ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्ति की उत्पत्ति में क्रिया की आवश्यकता श्रुतियों में भी बतायी गयी है । जैसे यज्ञादि क्रिया से युक्त/ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ है ।[5]

§5§ कल्याण :

सत्य, सरलता, दया ,दानादि, गुण-"कल्याण " है । यहाँ सत्य का अर्थ है जो जैसा है उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी तथा मनोवृत्ति रखना ।

- -

1· कामानभिष्वंग: विमोक: - ब्रो०सू० श्रीभाष्य 1/1/1

2· छान्दोग्योपनिषद 3/14/1

3· आरम्भणं संशीलनं पुन: पुनरभ्यास: - ब्रो०सू० श्रीभाष्य 1/1/1

4· पंचमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्ति: क्रिया ।

5· मुण्डकोपनिषद 3/1/4

इसी प्रकार किसी भी प्रकार वाचिक, कायिक और मानसिक दुःख न पहुँचाना अहिंसा है।

अनवसाद :

चित्त की ऐकान्तिक प्रसन्नता 'अनवसाद' है। वृत्तिकार कहते हैं कि देशकाल की विपरीतता से, दुःख प्रदान करने वाली वस्तु के स्मरण से जन्य मन की प्रसन्नता अथवा दीनता "अवसाद" है। इसके विपरीतार्थक होना अथवा अवसाद से शून्य होना या अवसाद पर विजय प्राप्त करना "अनवसाद" है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि साधक को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रसन्न ही रहना चाहिए। योग में "शीतोष्णद्वन्द्व सहिष्णु रूप तितिक्षा" जिसे कहा गया है उसे ही आचार्य "अनवसाद" की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

अनुद्धर्ष :

देशकाल की अनुकूलता तथा तुष्टि प्रदान करने वाली वस्तुओं की स्मृति से जन्य संतोष "उद्धर्ष" कहलाता है तथा इसके विपरीतार्थक होना ही "अनुद्धर्ष" है।[2]

इस प्रकार आचार्य इन सप्त साधनों के अनुष्ठान का विधान करते हैं। इन साधनों से युक्त होने पर साधक वर्ण एवं आश्रमोचित कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक भक्ति का अधिकारी बनता है क्योंकि इनके अनुष्ठान से ही चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ही ब्रह्मज्ञान अथवा भक्ति का उदय होता है।

---

1. देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जन्यं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः -श्री०भा० श्रीभाष्य 1/1/1
2. तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः, तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः, श्रीभाष्य 1/1/1

अब प्रश्न उठता है कि इन साधन सप्तक तथा वर्णाश्रमविहित कर्मों के अनुष्ठान से जो भक्ति के अधिकारी बनते हैं वे समस्त साधक क्या एक ही कोटिके होते हैं अथवा भिन्न - भिन्न कोटि के। आचार्य रामानुज पुण्यकर्मों की न्यूनाधिकता के कारण साधकों को चार कोटियों में विभक्त करते हैं -

1. आर्त्त :

आर्त्त साधक वे कहे जाते हैं जो अपनी छोई हुई प्रतिष्ठा तथा भ्रष्ट ऐश्वर्य पुनः प्राप्त करना चाहते हैं।[1]

अर्थार्थी :

इस कोटि के साधक ऐश्वर्य न होने के कारण ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहते हैं।[2] आर्त्त और अर्थार्थी साधकों में नाममात्र का अन्तर रहता है। दोनों में ही ऐश्वर्य की इच्छा रहती है।

जिज्ञासु :

प्रकृति के सम्पर्क से रहित आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक " जिज्ञासु " कहलाते हैं।[3]

ज्ञानी : इन तीनों से पृथक् स्वयं को एकमात्र भगवान के अधीन समझता हुआ केवल ईश्वर को ही परमप्राप्य समझने वाला भक्त "ज्ञानी " कहलाता है।[4]

---

1. आर्त्तः प्रतिष्ठाहीनो भ्रष्टैश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तिकामः। गीतारामानुजभाष्य 7/16

2. अर्थार्थी अप्राप्तैश्वर्यतया ऐश्वर्यकामः, गीता भाष्य 7/16

3. जिज्ञासुः प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपावाप्तीच्छुः 7/16

4. ज्ञानी च....प्रकृति वियुक्तकेवलात्मनि अपर्यवस्यन् भगवन्तं प्रेप्सुः भगवन्तं परमप्राप्य मन्वानः। - गीताभाष्य 7/16

इन चारों प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त ही सर्वोत्तम है । अन्य तीनों प्रकार के भक्तों का अभीष्ट ईश्वर से भिन्न है । वे अपने अभीष्ट की प्राप्ति में ईश्वर को साधन मानकर अभीष्ट प्राप्ति तक ही भक्ति रखते हैं जबकि ज्ञानी भक्त के लिए तो एकमात्र ईश्वर ही प्राप्य है । ईश्वर से अतिरिक्त अन्य किसी में उनकी भक्ति नहीं होती है ।[1]

गीता में भगवान कृष्ण स्वयं कहते हैं कि - " प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ-महं स च मम प्रियः ।

ज्ञानी भक्तों में प्रहलाद का नाम अग्रगण्य है । विष्णु पुराण में एक प्रसंग आया है कि प्रहलाद श्रीकृष्ण में इतने आसक्त बुद्धि व तन्मय थे कि अपने पिता के आदेश पर महान सर्पों द्वारा काटे जाने पर भी उन्हें अपने शरीर की वेदना का आभास भी नहीं हुआ ।[2]

इस प्रकार आचार्य द्वारा वर्गीकृत इन प्रकारों से एक तथ्य यह भी ज्ञात होता है कि भक्ति का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति ही नहीं है अपितु इससे भिन्न ऐश्वर्यादिकों की प्राप्ति भी भक्ति द्वारा होती है । आचार्य की यही मान्यता भक्ति को प्रपत्ति से भी पृथक करती है ।

<u>प्रपत्ति मार्ग :</u> अब तक के विवरण के आधार पर यह निश्चय हो गया कि कर्म

- -

1. गीता 7/17 पर रामानुज भाष्य

2. न त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः ।
   न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः ।।
   -विष्णु पुराण 1/17/39

और ज्ञान से सहकृत भक्ति ही ईश्वर - प्राप्ति का एकमात्र उपाय है , किन्तु भक्ति के कर्म और ज्ञानपरक होने के कारण मुक्ति-प्राप्ति का यह साधन समाज के कुछ ही व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है । कर्मकाण्ड का अधिकार केवल द्विजों को है । समाज का पिछड़ा व अशिक्षित वर्ग, शूद्र व स्त्री इसके अधिकारी नहीं हो सकते । ज्ञान व कर्म के अभाव में वे भक्ति से वंचित रह जाते हैं, अतः ऐसे लोगों के लिए आचार्य ने "प्रपत्तिमार्ग " का प्रतिपादन किया है । इसके अतिरिक्त उस समय बौद्ध दर्शन का पर्याप्त प्रचार था, बौद्ध धर्म ने वैदिक मर्यादा छिन्न-भिन्न कर दी थी, किन्तु उसमें जाति,वर्ण,लिंग आदि का बन्धन नहीं था, फलतः उसने अत्यन्त ख्याति व लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी । अतः बौद्ध धर्म के प्रभाव को कम करने के लिए यह आवश्यक था कि मुक्ति का द्वार निम्न वर्ग के लिए भी उन्मुक्त किया जाय तथा ब्राह्मण धर्म की भी रक्षा का ध्यान रहे । अतः आचार्य ने उस काल के पारम्परिक धर्म के अनुसार भक्तियोग का प्रतिपादन किया तथा निम्न वर्ग, जिन्हें वैदिक ज्ञान तथा कर्मकाण्ड का अधिकार नहीं था, के लिए प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया । इससे ब्राह्मण धर्म को भी पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा जनसाधारण के लिए भी भगवत्प्राप्ति का मार्ग सुलभ हो सका । दोनों मार्गों के सम्बन्ध में अणिमा सेन गुप्ता कहती है कि " भक्ति और प्रपत्ति दोनों का ही लक्ष्य एक है, मौलिक तत्त्वों में भी समानता है , तथापि भक्तियोग दार्शनिक ज्ञान,कर्म,प्रेम और सम्मान का मार्ग है, तो प्रपत्ति विश्वास,निस्स्वार्थ प्रेम तथा आत्मसमर्पण की भावना द्वारा ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है ।"[1]

[1]. "The goal is the same, the essential ingredients are identical, but while 'Bhaktiyoga' is an approach through philosophical knowledge, action, love and respect, 'Prapatti' is an approach to end through faith & selfless love." -A critical Study of the Philosophy of Ramanuja-Anima Sen Gupta, P. 152

यद्यपि आचार्य शंकर ने बौद्धों द्वारा क्षीण हुई वैदिक मर्यादा की पुनः प्रतिष्ठा का सफल प्रयास किया था किन्तु उनके निर्गुण ब्रह्म की उपासना सामान्य जन की सामर्थ्य के बाहर थी । इसके अतिरिक्त कर्मच्युत व्यक्ति के लिए भी शांकर-मत में कोई व्यवस्था नहीं थी । जबकि आचार्य रामानुज ने उनके लिए भी मुक्ति की व्यवस्था नहीं की । जिन्होंने महापाप किये हैं और फलस्वरूप वैदिक अनुष्ठान के अधिकार से वंचित हो गये हैं, वे भी प्रपत्तिमार्ग का अनुसरण कर सकते हैं ।

प्रपत्ति के लिए न तो शास्त्रज्ञान की अपेक्षा है और न ही जाति और वर्णव्यवस्था का कठोर बन्धन । समाज का प्रत्येक वर्ग, ऊंच- नीच, शिक्षित अशिक्षित अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष सभी इसके अधिकारी हैं । इस प्रकार ज्ञानकर्मयुक्त तथा अत्यन्त कष्टसाध्य भक्तियोग में जिनकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे लोगों के लिए आचार्य ने प्रपत्तियोग की व्यवस्था की । प्रपत्ति का अर्थ है - ईश्वर की शरण में चले जाना । प्रपत्ति की मूल भावना भगवान से मिलने की व्यग्रता में ही निहित है । भक्ति और प्रपत्ति में " प्रेम " तथा " प्रेम का प्रकर्ष " होता है।

प्रपत्ति का स्वरूप :

अब प्रश्न उठता है कि प्रपत्ति है क्या, उसका अर्थ क्या है ? प्रपत्ति का अर्थ है" शरणागति " अर्थात् ईश्वर की शरण लेना या स्वयं को भगवान के प्रति समर्पित कर देना । " प्र प्रकर्षेण पत्तिः गमनम् इति प्रपत्तिः " अर्थात् ईश्वर की शरण में चले जाना अथवा ईश्वर के साथ हो जाना । श्री रमानाथ

शास्त्री कहते हैं " आत्मनिक्षेप ही प्रपत्ति शब्द का अर्थ है -" प्रपत्तिः आत्मनिक्षेपः ।"[1] "प्रभु मैं अत्यन्त दीन-हीन, अत्यन्त दुर्बल हूँ, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है, मैंने तुममें आत्मसमर्पण किया ", जीव जब व्याकुल होकर सरलभाव से, ईश्वर के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है तब भगवान उसे स्वीकार कर लेते हैं तथा उसके बाद से जीव का समस्त दायित्व उन्हीं के कंधों पर रहता है। एक बार ईश्वर की शरण में चले जाने पर जीव को किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करनी पड़ती, प्रपन्न के उद्धार का सम्पूर्ण भार ईश्वर पर रहता है । भगवत्प्रपत्ति स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का साधन है । अहिर्बुध्न्य कहते हैं " सांख्य, योग, यहाँ तक कि भक्त के द्वारा जो सिद्ध नहीं होता वह अनावर्त्य परमधाम एकमात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है ।[2]

आचार्य रामानुज को भी प्रपत्ति शब्द का अर्थ "शरणागति " ही अभीष्ट है । श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में " मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ."[3] श्लोक के भाष्य में माया से मुक्ति प्राप्ति के लिए "प्रपद्यन्ते " पद के द्वारा भगवान की शरणागति का ही विधान किया गया है । वेदार्थ संग्रह में

1· भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद - रमानाथ शास्त्री, ।

2· भारतीय साधना की धारा - गोपीनाथ कविराज , पृ०- 16

3· ·······परम एव सत्यसंकल्पं परमकारुणिकम् अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं ये शरणं प्रपद्यन्ते ते एतां मदीयां गुणमयीं मायां तरन्ति "

- गीताभाष्य 7/14

भी इसी श्लोक के उद्धरण द्वारा आचार्य ने नानाकष्टबहुल संसार से मोक्ष- प्राप्ति के लिए भगवान की प्रपत्ति का कथन किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि आचार्य को भी " प्रपत्ति " शब्द से " शरणागति" अर्थ ही अभिप्रेत है।

प्रपत्ति की मूल भावना भगवान से मिलने की व्यग्रता में निहित है। ईश्वर - प्रवृत्ति का मूल बाधक जीव का अहंकार है। अहंकार के कारण ही जीव स्वयं को ईश्वर से स्वतन्त्र समझने लगता है तथा जीव में स्वत्व और ममत्व का भाव उदित होता है। इसी अहंकार के परित्याग द्वारा जीव ईश्वर - प्रपत्ति का अधिकारी बनता है। आचार्य के गुरु प्रवर श्री यामुनाचार्य तो"जीव के अहं के ईश्वर में तिरोभाव " को ही शरणागति अथवा प्रपत्ति कहते हैं - "स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधि : शरणागतिः "[2] अर्थात् अपने याथात्म्य ईश्वर में सहजरूपेण जीव का तिरोभाव शरणागति है। यहाँ जीव के तिरोभाव का तात्पर्य जीव के " अहं के तिरोभाव " से ही है। जीव जब अपने अहंभाव का त्यागकर स्वयं को ईश्वर में तिरोहित कर देता है अर्थात् जब अहंकार छोड़कर स्वाभाविक रूप से ईश्वर की शरण ग्रहण कर लेता है तो यही स्थिति "शरणागति" कहलाती है।

1· तस्यैतस्य आत्मनः कर्मकृतविचित्रगुणमयप्रकृतिसंसर्गरूपात् संसारात् मोक्षः भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोत्पद्यते।

- वेदार्थसंग्रह

2· गीतार्थसंग्रह ।।, यामुनाचार्य।

इस प्रकार अहंकार की भावना ही जीव की सबसे बड़ी शत्रु है, इसी के वशीभूत होकर जीव स्वयं को ईश्वर से भिन्न समझकर स्वयं में कर्तृत्व और भोक्तृत्व- बुद्धि स्थापित कर लेता है और परिणामतः संसार - चक्र में फंसकर नाना दुःखों का भागी बनता है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति अहंकार के सूक्ष्म भावों का भी नाश करती है या यूँ कहें कि अहंकार त्याग के द्वारा ईश्वर की शरणागति का मार्ग प्रशस्त होता है।

आचार्य के अनुसार प्रपत्ति द्वारा ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, इसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।[1] आचार्य प्रपत्ति को स्वतन्त्र रूप से तो ईश्वर प्राप्ति का उपाय स्वीकार करते ही हैं, भक्ति की निष्पत्ति हेतु उसके अंग रूप में भी प्रपत्ति की आवश्यकता उन्हें अभीष्ट है।[2]

किन्तु यहाँ यह शंका होती है कि यदि भक्तियोग की निष्पत्ति में प्रपत्ति की आवश्यकता होती है तो क्यों नहीं प्रपत्ति को भक्ति का अंगमात्र स्वीकार कर लिया जाता है ? इस पर आचार्य का कथन है कि मोक्षरूप पुरूषार्थ साधन में अधिकारी भेद से भक्ति और प्रपत्ति में विकल्प होने के कारण प्रपत्ति को भक्ति का अंगमात्र नहीं माना जा सकता। उच्च वर्ण में उत्पन्न, सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए तो भक्तियोग का विधान है किन्तु जो इन योग्यताओं से

- -

1. " एतेषां संसारमोचनं भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते "

- वेदार्थ संग्रह , पृ० - 166

2. भक्तियोगनिष्ठस्यापि तन्निष्पत्त्यर्थं तदंगत्वेन प्रपत्तेरपेक्षितत्वात्, प्रपत्तिनिष्ठस्य स्वतन्त्रया उपायत्वाच्च प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते - वेदार्थसंग्रह, तात्पर्यदीपिका पृ०- 163

रहित अथवा वैदिक कर्मकाण्ड के लिए अनुपयुक्त है ऐसे आवत प्राणियों प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की गयी है । इसलिए आचार्य ने भक्ति की निष्पत्ति में सहायक होने पर भी प्रपत्ति को भगवत्प्राप्ति के स्वतन्त्र उपायरूप से भी स्वीकार किया है ।

शरणागति का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण रामायण में प्राप्त होता है जिसमें शरण में आये हुए न केवल मनुष्य अपितु पशु,पक्षी यहाँ तक कि वानर- भालु भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । रामायण के छठे काण्ड में भगवान राम स्वयं कहते हैं कि एक बार "तवास्मि" इस भावना से युक्त होकर शरण में आये हुए समस्त प्राणियों को मैं अभय प्रदान करता हूँ ।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता का तो चरम उद्देश्य ही शरणागति का है । भगवान ने स्वयं जीव के सर्वात्मना शरण में आने का विधान किया है।[2] गीता का निम्न श्लोक -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः ।। (गीता 18/66)

शरणागति का आधार है ।

इस प्रकार प्रपत्ति से आचार्य का अभिप्राय शरणागति से है । अपने अहंभाव का त्याग करके जीव जब सर्वात्मना ईश्वर की शरण ग्रहण कर लेता है तब ईश्वर बिना वर्ण,लिंग,जात्यादि का विचार किए उसे अपनी शरण में स्वीकार कर उसे

---

1. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।। - रामायण 6/18/33

2. " माम् सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ.....- गीताभाष्य 18/62

अभय प्रदान करते है ।[1]

शरणागति के अंग :

अहिर्बुध्न्य संहिता में शरणागति के छः अंग माने गये है[2] जो समस्त विशिष्टाद्वैतियों को स्वीकार है -

(1) अनुकूल का संकल्प :

ईश्वराभिमत गुणों का अर्जन अर्थात् भगवदाशय के अनुकूल जो कर्म है उनका सम्पादन करना ।

(2) प्रतिकूल का त्याग :

जिन कर्मों के सम्पादन से स्वयं का स्वयं का तथा दूसरों का भी कल्याण हो, वह कार्य भगवदाज्ञा के अनुकूल तथा जिनसे स्वयं तथा अन्य का अनिष्ट हो, वे प्रतिकूल कर्म है अतः ईश्वरानभिमत कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए अर्थात् ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध शारीरिक और मानसिक समस्त कर्मों का परित्याग ही "प्रतिकूल का त्याग" है । सर्वदा समस्त जगत् में ईश्वर को व्याप्त जानकर अपने प्रतिकूल कर्मों का सम्पादन अन्य के प्रति भी नहीं करना चाहिए ।

(3) रक्षा का विश्वास : ईश्वर को सब प्रकार से रक्षक जानकर, ईश्वर ही विघ्न-

---

1. गीताभाष्य 9/34
2. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।। -अहिर्बुध्न्यसंहिता 37/28-29

बाधाओं से रक्षा करेंगे, यह विश्वास रखना चाहिए ।

4) गोप्तृत्ववरण -

ईश्वर को ही अभयदाता और शरणागतवत्सल जानकर अपनी रक्षा तथा संसार से निवृत्ति हेतु प्रार्थना करना चाहिए ।

5) कार्पण्य : अपनी तुच्छता का अनुभव "कार्पण्य " है । ईश्वर कृपा के बिना अन्य समस्त साधनों को व्यर्थ समझकर तथा अहंकार का त्याग करके दैन्य धारण कार्पण्य है ।

6) आत्मनिक्षेप :

सर्वात्मना स्वयं को ईश्वरार्पित कर देना आत्मनिक्षेप है। वस्तुतः इनमें अन्तिम अंग प्रपत्तिरूप है, शेष उसके अंगभूत हैं । इनमें पूर्व - पूर्व की सिद्धि द्वारा अन्तिम आत्मनिक्षेप रूप प्रपत्ति की सिद्धि होती है। आत्मनिक्षेप रूप प्रपत्ति में विहित समर्पण की तीन कोटियाँ हैं -

(1) फल समर्पण (2) भार समर्पण (3) स्वरूप समर्पण

फल समर्पण : सम्पूर्ण किये जाने कर्मों के फल का त्याग "फल समर्पण " है । यह इस भाव का त्याग है कि आत्मसन्तोष या आत्मानन्द ही प्रपत्ति का लक्ष्य है। पूर्णतः अपने आराध्य पर आश्रित होने के कारण प्रपन्न का पूर्ण अस्तित्व ही "शेषी" में है । वास्तविक शेषत्व की प्राप्ति तो तभी होती है जबकि "शेष" को अपनी अकिंचनता का ज्ञान होता है । इस प्रकार कर्तृत्व, ममत्व और स्वार्थ का परित्यागकर किसी भी प्रकार के कर्मफल के प्रति अभिनिवेश का सर्वथा त्याग फलसमर्पण है ।

<u>भार समर्पण :</u> स्वयं को भगवान की दया के भरोसे छोड़ देने पर सांसारिक भय समाप्त हो जाते हैं फलतः निर्भयता प्राप्त होती है । अतः प्रपन्न को अपनी रक्षा का पूर्णभार ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए - यही भार समर्पण है ।

<u>स्वरूप समर्पण :</u> स्वरूप समर्पण का अर्थ केवल अहंकार त्याग ही नहीं है अपितु स्वयं को पूर्णतः ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना स्वरूप समर्पण है ।

<u>भक्ति और प्रपत्ति में भेद :</u> ज्ञान कर्मयुक्त भक्ति और आत्मनिक्षेपरूप प्रपत्ति की विवेचना से दोनों में जो भेद ज्ञात होता है वह इस प्रकार है -

रामानुजीय भक्ति योग का अधिकार केवल त्रैवर्णिक साधन सम्पन्न व्यक्तियों को ही है। समाज का एक बड़ा भाग ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्ति से वंचित रह जाता है । जबकि प्रपत्ति का मार्ग सबके लिए समानरूपेण उन्मुक्त है । किसी भी जाति, वर्ण, लिंग का शिक्षित-अशिक्षित व्यक्ति भी प्रपत्ति का अधिकारी हो सकता है इस प्रकार प्रपत्ति मार्ग सर्वबन्धनरहित होने के कारण भक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक और श्रेष्ठ है । भक्ति हेतु अनेक पूजा -पाठादि कर्मकाण्ड का विधान आवश्यक है जबकि प्रपत्ति में एक बार ईश्वर-चरणों में शरण स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ भी करना अपेक्षित नहीं है । ईश्वर की शरण में जाने के बाद भक्त की रक्षा का पूर्णदायित्व ईश्वर पर ही रहता है, आत्मरक्षा व कल्याण हेतु प्रपन्न को न तो कुछ करना शेष रहता है और न ही कुछ जानना ।

भक्ति चिरकाल में फल देती है जबकि प्रपत्ति में तो फल का बोध ही नहीं रहता, प्रपन्न को भक्ति के अतिरिक्त किसी फल की कामना ही नहीं रहती ।

भक्ति का प्राप्य भगवान के अतिरिक्त स्वर्गादि ऐश्वर्य या लौकिक सुखादि भी है जबकि प्रपत्ति का लक्ष्य और फल एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही है।

किन्तु इन भिन्नताओं के होने पर भी भक्ति और प्रपत्ति के परम प्राप्य में कोई भेद नहीं है। दोनों का अन्तिम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। दोनों में मूलभूत भेद यही है कि भक्त सोचता है कि " भगवान मेरे हैं" तथा प्रपन्न में यह भाव रहता है कि " मैं भगवान का हूँ।

कर्मज्ञान-भक्ति समन्वय : तत्ववेत्ताओं द्वारा बन्धनिवृत्ति के तीन मार्ग स्वीकार किये गये हैं - कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। जैमिनि कर्म को बन्धनिवृत्ति का साधन स्वीकार करते हैं तो शंकर ज्ञान की मुक्तिसाधकता स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन ज्ञान है। यद्यपि रामानुज भी ज्ञान को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार ज्ञानमात्र मोक्षप्राप्ति का साधन नहीं है। शुद्ध ज्ञान तो ब्रह्म और जीव का अभेदज्ञान है, यही ब्रह्मात्मभाव है तथा शंकर को यही अभीष्ट है किन्तु रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभेद हो ही नहीं सकता क्योंकि एक अल्पज्ञ है और दूसरा सर्वज्ञ, एक अणु है तो दूसरा विभु। अल्पज्ञ और सर्वज्ञ में पूर्ण ऐक्य सम्भव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य और ईश्वर प्रेरक, यह स्वरूपगत भेद श्रुत्यादि द्वारा समर्थित है, अतः यह भेद अवश्य ही स्वीकरणीय है, अभेद - ज्ञान से यह भेद उपेक्षित होता है इसलिए यह मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान बन्धनिवृत्ति का उपाय नहीं है अपितु उससे बन्धन बढ़ता ही है। अतः मात्र ज्ञान से मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। यद्यपि

वे ज्ञान को अस्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार ज्ञान सहित भक्ति ही मोक्ष का साधन है । उपनिषदों में भी ज्ञान की मोक्षसाधनता का वर्णन प्राप्त होता है, आचार्य रामानुज के अनुसार वहाँ ज्ञान से तात्पर्य ध्यान और उपासना सहित ज्ञान से है[1] श्रुति का अर्थ केवल शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो वेदान्त के अध्ययनमात्र से लोग मुक्त हो जाते किन्तु ऐसा होता नहीं है अतः श्रुतियों का तात्पर्य शब्द ज्ञान मात्र न होकर उपासना सहित ज्ञान है । इस प्रकार मोक्षप्राप्ति उपासनासहित ज्ञान से होती है ।

इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि केवल कर्ममार्ग द्वारा भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति "[2] आदि श्रुतियों द्वारा ब्रह्मज्ञान का ही मोक्ष के साधन रूप से विधान किया गया है अतः कर्मयोग स्वतन्त्र-रूप से नहीं अपितु ज्ञान के अंगरूप से ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ।

अब शंका यह होती है कि कर्मयोग किस प्रकार ज्ञानयोग का सहकारी बनता है ? ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की उत्पत्ति तभी सम्भव है जबकि सत्त्वगुण का उद्रेक हो, क्योंकि रजोगुण और तमोगुण ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होते हैं तथा रजोगुण और तमोगुण की अभिवृद्धि पूर्वकर्मों के अनुरूप होती है । इन

---

1. " अतो ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यं ज्ञानं वेदनम् उपासनं स्यात् उपासनापर्यायत्वात् भक्ति शब्दस्य ।

- श्रीभाष्य 1/1/1

2. श्वेताश्वतरोपनिषद 3/8

कर्म संस्कारों का नाश निष्काम कर्मों के सम्पादन से होता है, अतः निष्काम कर्मों के सम्पादन से रजो और तमोगुण क्षीण होने लगते हैं तथा सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, जिससे साधक का चित्त शुद्ध होता है । इस चित्तशुद्धि द्वारा ही कर्मों का ज्ञानयोग में उपयोग होता है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज के अनुसार न तो केवल शास्त्रोक्त कर्म के द्वारा और न ही केवल शास्त्रज्ञान के द्वारा मोक्षप्राप्ति सम्भव है । वे कर्म और ज्ञान को भक्ति के सहकारी रूप से स्वीकृति प्रदान करते हैं ।

कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के प्रति अनासक्त रहते हुए समस्त कर्मों का सम्पादन "कर्मयोग " है । कर्मयोग के सम्पादन से सांसारिक कर्म-संस्कारों का क्षय होता है फलतः चित्तशुद्धि होती है तथा चित्तशुद्धि से ब्रह्म और जीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है, इस ज्ञान के फलस्वरूप ही संसार से विरक्ति और ईश्वर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है । अतः रामानुज भक्ति को ज्ञान का ही रूप मानते हैं ।[1]

इस प्रकार आचार्य रामानुज कर्म और ज्ञान को भक्ति का सहायक मानते हैं।[2] उनके अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग से संस्कृत चित्त में ही भक्ति का उदय होता है । अतः मुमुक्षु को सर्वप्रथम निष्काम भाव से शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान

1· भक्तिशब्दस्य प्रीतिविशेषे वर्तते प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव -वेदार्थसंग्रह पृ 0-44

2· ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् - यामुनाचार्य ।

करना चाहिए, क्योंकि निष्काम कर्म से ही कर्ममल का नाश होता है फलत: साधक का चित्त शुद्ध होता है और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान के उपयुक्त बनता है इस प्रकार आचार्य ने कर्मों का उल्लेख ज्ञान के साधन रूप में किया है ।[1] "श्रेयो हि ज्ञानं"[2] के भाष्य में आचार्य ने ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्मयोग को ही श्रेष्ठ बतलाया है ।[3] कर्मयोग की आवश्यकता न केवल भक्तिरूप ज्ञान के साधन रूप में है अपितु साधक के लिए अपने शरीरनिर्वाह हेतु भी कर्मसम्पादन करना आवश्यक है।[4] किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि कर्म फलासक्ति से शून्य ही होना चाहिए , किसी भी प्रकार की आसक्ति पूर्वक किया गया कर्म मोक्ष का साधन नहीं अपितु बन्धकारक होता है ।[5] इस प्रकार शास्त्रसम्मत निष्काम कर्म एक ओर तो साधक के शरीर निर्वाह का हेतु बनता है तथा दूसरी ओर साधक के चित्त को भक्तिरूप ज्ञानप्राप्ति के लिए उपयुक्त बनाता है । इस प्रकार कर्म साक्षात् नहीं बल्कि ज्ञान के माध्यम से भक्तिरूपता को प्राप्त करता है । कर्म,ज्ञान और भक्ति के क्रम को इस प्रकार भी समझा जा सकता है । कर्मफलों के प्रति अनासक्त रहते हुए समस्त कर्मों का सम्पादन कर्मयोग है, कर्मयोग के सम्पादन से जीव चित्त-शुद्धिपूर्वक ज्ञानयोग को प्राप्त करता है । यह ज्ञानयोग उसे भक्तियोग की ओर ले जाता है । यमनियमादि अष्टांग योग के अनुष्ठान द्वारा ईश्वर का सतत ध्यान

---

1. ततोऽक्षरयोगमात्मस्वभावानुसन्धानरूपं परभक्तिजननं पूर्वषट्कोदितमाश्रित्य तदुपायतया सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ....।-गीताभाष्य 12/11
2. गीता 12/12
3. गीताभाष्य 12/12
4. .....यदि सर्वं कर्मपरित्यज्य केवलं ज्ञाननिष्ठायामधिकरोषि तर्हि अकर्मणस्ते ज्ञाननिष्ठस्य ज्ञाननिष्ठोपकारिणी शरीरयात्राऽपि न सेत्स्यति [illegible]
5. द्रष्टव्य गीताभाष्य 3/9

भक्तियोग है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज के अनुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग मुक्ति प्राप्ति के क्रमिक सोपान हैं । कर्मयोग साधक के निष्काम कर्तव्य पालन का मार्ग है जो कि अनन्त आत्मा और प्रकृति के भेदज्ञान से प्रकाशित है और जिसमें " मैं " और मेरा " का भाव लुप्त हो जाता है । आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होने पर परमात्मा के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है तथा इस प्रेमपूर्ण ज्ञान का सतत ध्यान ही भक्ति है । यही भक्ति ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन है । इस प्रकार कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्ति के माध्यम से ही मुक्ति के साधन हैं या यह कहा जाय कि आचार्य के अनुसार कर्म और ज्ञान से सहकृत भक्ति ही परम तत्त्व की प्राप्ति का एकमात्र साधन है । इस प्रकार आचार्य के अनुसार भक्ति शब्द का अर्थ कर्मज्ञान और भक्ति का समन्वित रूप है ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति

रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी भक्तिमार्गीय आचार्य हैं । आचार्य वल्लभ भक्ति को ही परमपुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति का अनन्य साधन स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार भक्ति से ही दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है । आचार्य के अनुसार उपनिषदों में जहाँ यह कहा गया है कि ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वहाँ उनका आशय यही है कि ज्ञान द्वारा भक्ति की और भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है । यदि ऐसा न माना जाय तो "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः " {कठ 1/2/23 } आदि श्रुतियों का कोई अर्थ ही न होगा, कहने का

तात्पर्य यह है कि इन श्रुतियों का अर्थ असत्य सिद्ध हो जायेगा ।

भक्ति से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, नारद ने भक्ति से प्राप्त आनन्द को गूँगे के स्वाद के समान बताया है ।[1]

भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् सेवायाम् धातु से होती है जिसका अर्थ है सेवा- " भज सेवायाम " तथा " भज् इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः इत्यादि वाक्य भी "भज्"धातु को सेवार्थक बताते हैं ।

भज् धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न भक्ति शब्द का अर्थ होता है चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न रूप से अपने इष्ट में लगे रहना ।[2]

आचार्य वल्लभ अपने ग्रन्थ त०दी०नि० की व्याख्या " प्रकाश " में कहते हैं कि भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ " प्रेम " तथा धात्वर्थ " सेवा " है । भक्ति शब्द-वाच्य भजन क्रिया सेवात्मिका है । सेवा का प्रेम सहित होना आवश्यक है, क्तिन् प्रत्यय द्वारा द्योतित क्रिया प्रेमपूर्विका है, इसीलिए आचार्य ने भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ तथा धात्वर्थ सेवा स्वीकार किया है । इस-प्रकार भक्ति शब्द का अर्थ हुआ ईश्वर की प्रेम पूर्वक सेवा । भक्ति में प्रेम की अपेक्षा सर्वप्रमुख है । आचार्य वल्लभ के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने भी अपने भक्तिपरक ग्रन्थ भक्तिहंस में कहा है -

- -

1. भक्तिसूत्र, नारद, 52

2. "भक्ति : पाणिनि 4/3/95

"भक्तिपदस्य शक्तिः स्नेह एव ।"

नारद भक्तिसूत्र में भी ईश्वर में परमप्रेम को ही भक्ति कहा गया है।[1] नारद पाँचरात्र के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमपूर्ण मनोवृत्ति का अविच्छिन्न प्रवाह भक्ति है ।[2]

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार भी ईश्वर में निरतिशय अनुराग ही भक्ति है ।[3]

इस प्रकार भक्ति के इन समस्त लक्षणों से स्पष्ट है कि "प्रेम" भक्ति की प्रथम अपेक्षा है । शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक अन्य आचार्य गोपेश्वर महाराज तो कहते हैं - "श्रीकृष्ण स्नेहत्वमेव भक्तित्वम् " अर्थात श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम ही भक्ति है ।

आचार्य को अभीष्ट भक्ति पदवाच्य सेवा तीन प्रकार की है - तनुजा, वित्तजा और मानसी । शरीर के द्वारा की जाने वाली सेवा " तनुजा" है, धनादि के द्वारा की गयी सेवा " वित्तजा " है । ये दोनों प्रकार की सेवाएं क्रियात्मक हैं, "मानसी" सेवा भावरूप है अतः मानसी सेवा ही प्रधान क्रिया है, यही वास्तविक भक्ति है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तमुक्तावली के प्रथम श्लोक में कृष्णसेवा का विधान करते हुए मानसी सेवा को सर्वश्रेष्ठ बताया है - " कृष्णसेवा सदा कार्या सा मानसी परा मता ।"

---

1. " सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा", भक्तिसूत्र, नारद 1/2
2. मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता, अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिः "
   - नारद पाँचरात्र
3. " सा परानुरक्तिरीश्वरे " भक्तिसूत्र शाण्डिल्य 1/2

इस प्रकार मानसीभक्ति, भक्ति सर्वोच्च स्थिति है तथा यही साध्यरूपा भी है किन्तु यह स्थिति को अनायास ही नहीं प्राप्त हो जाती अपितु इसकी प्राप्ति हेतु भी साधना की आवश्यकता होती है। आचार्य ने मानसी भक्ति की सिद्धि हेतु तनुजा और वित्तजा सेवाओं का विधान किया है - " "चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धये तनुवित्तजा।"

इस प्रकार आचार्य ने मानसी सेवा को श्रेष्ठ स्वीकार किया है। ऐसा नहीं है कि उन्होंने कायिक व्यापार का निषेध किया है किन्तु मानसी भक्ति को प्रधान स्वीकार करते हुए तनुजा और वित्तजा सेवाओं को मानसी भक्ति रूप साध्य का साधन स्वीकार किया है। यह मानसी भक्ति अत्यन्त प्रेमरूपा है इसी को आचार्य "रामानुगा" या "प्रेमलक्षणा" भक्ति भी कहते हैं। श्रीमद्-भागवत के तृतीय स्कन्ध में सगुणा भक्ति और निर्गुणा भक्ति का वर्णन प्राप्त होता है, वहाँ निर्गुणा भक्ति से जिस सिद्धान्त का कथन किया गया है उसका स्वरूप वल्लभ को स्वीकृत मानसी सेवा का ही है। भक्ति के प्रमुख ग्रन्थों नारद भक्ति सूत्र, पाँचरात्र आगम तथा शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में भी भक्ति शब्द द्वारा जिस भाव का कथन किया गया है वल्लभ को स्वीकृत मानसी सेवा का वही स्वरूप है और यही भक्ति शब्द के मुख्यार्थ के रूप में आचार्य को अभीष्ट है। यह भक्ति स्वयं ही फलरूपा है तथा यही भक्तों का परम साध्य है। इसीलिए आचार्य ने इसकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए इसकी सिद्धि हेतु तनुजा और वित्तजा सेवाओं का विधान किया है।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में भक्ति ही साधन भी है और यही साध्य भी है । यद्यपि आचार्य ने इसके साधन पक्ष का विस्तृत विवेचन नहीं किया, तथापि साधन भक्ति की स्थिति सामान्य रूप से सभी वैष्णवाचार्य स्वीकार करते हैं अतः वल्लभ ने भी साधनों का उल्लेख किया है । आचार्य वल्लभ मानसी भक्ति को ही "परा भक्ति " अथवा " साध्य भक्ति " मानते हैं तथा तनुजा, वित्तजा और भक्ति के अन्य श्रवणादि अंगों को पराभक्ति का साधन स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत मत में "भक्ति " शब्द से साधन भक्ति और साध्य भक्ति दोनों का ग्रहण होता है ।

भक्ति के उदय के लिए ईश्वर की महिमा का ज्ञान होना आवश्यक है । आचार्य त०दी०नि० में कहते हैं -"ईश्वर के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सर्वतोऽधिक स्नेह ही भक्ति है ।"

- माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक: ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।।

- त०दी०नि०शा०प्र० 42

ईश्वर के माहात्म्यज्ञान के अभाव में उनके प्रति भक्ति होना सम्भव नहीं है, अतएव उनकी महिमा के ज्ञान से उत्पन्न जो स्नेहपूर्वक सेवा है, वही भक्ति शब्द का अर्थ है ।

वल्लभ भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल व सुगम मार्ग स्वीकार करते हैं । आचार्य के अनुसार केवल भक्ति द्वारा ही भगवत्प्राप्ति संभव है। ज्ञानमार्ग

द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है जो कि परब्रह्म पुरूषोत्तम की ही एक अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार मंत्र, जप, पूजादि के द्वारा लौकिक विषयों से लेकर स्वर्गादि अनेक फलों की प्राप्ति होती है , किन्तु ईश्वरप्राप्ति उनके द्वारा भी सम्भव नहीं है , यह तो एकमात्र भक्ति द्वारा ही प्राप्य है । गीता में भगवान अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं कहते हैं -

> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
> शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।
> {11/53-54}

अन्य साधनों से जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह सब कुछ भक्ति द्वारा प्राप्य है किन्तु भक्ति से जिस साध्य की सिद्धि होती है वह अन्य किसी साधन से सम्भव नहीं है ।[1] इसीलिए भक्तिमार्ग पुरूषोत्तम प्राप्ति के अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

---

1. 1. {1} यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ।। श्रीमद्भा० 11/20/32/33

{2} "यत्कर्मभिः······मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा" इति तु भक्तिसाध्यं नाऽन्येन सिद्ध्यन्त्यसाध्यं भक्तेरानुषङ्गिकमिति कथना·····। कल्पतरूस्वभावत्व-ज्ञापनाय चोक्तम् । - भक्तिहंस, पृ0- 27

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वरप्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधनभूत इस भक्तिमार्ग में जीव को क्या अनायास ही प्रवेश प्राप्त हो जाता है अथवा इसमें प्रवेश पाने के लिए जीव के द्वारा कोई कर्म आपेक्षित है ? आचार्य कहते हैं कि भक्तिमार्ग में प्रवेश के लिए केवल ईश्वर का अनुग्रहभाजन होना ही अपेक्षित है । ईश्वर की जिस पर कृपा होती है उसे ही वे स्वीकार करते हैं, इसके लिए जीव को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती । शुद्धाद्वैत मत में ईश्वर का यह अनुग्रह "पुष्टि" कहलाता है । पुष्टिमार्ग का सविस्तार निरूपण इसी अध्याय में आगे किया जायेगा

नवधा भक्ति :

समस्त भक्ति सम्प्रदायों में नवधा भक्ति की चर्चा साध्य भक्ति के साधन रूप में की गयी है । प्रायः इसे ही साधन भक्ति का नाम दिया जाता है। सांसारिकता में फंसे व्यक्ति के हृदय में अनायास ही भक्ति का उदय नहीं होता । नवधा भक्ति के अनुष्ठान से साधक का चित्त शुद्ध होता है तभी उसके हृदय में ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान उदित होता है । श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में भक्त प्रह्लाद द्वारा नवधा भक्ति[1] का वर्णन किया गया है, जिसका संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । नवधा भक्ति के नौ अंग इस प्रकार हैं -

---

1. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
   इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
   क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।।

   - श्रीमद् भा० 7/5/23-24

श्रवण :

ईश्वर के नाम, रूप, गुण तथा उनके दिव्य कर्मों को श्रद्धापूर्वक सुनना "श्रवण" कहलाता है । श्रवण चित्तशुद्धि में विशेष सहायक होता है इसीलिए नवधा भक्ति में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है । भगवान की कथादि सुनने से भगवान के प्रति श्रद्धा व आदर उत्पन्न होता है फलत: जीव के हृदय में भक्ति की भावना उत्पन्न होती है ।

कीर्तन :

ईश्वर के रूप, नाम और गुणों का गायन "कीर्तन" कहलाता है । ईश्वर के नाम, रूप का गायन तो होता ही है कृष्णलीला का भी गायन होता है । गायन के साथ ही साथ इसमें वाद्य व नृत्य का भी समावेश रहता है ।

स्मरण :

भगवच्चरित्र की स्मृति ही " स्मरण " है । यह स्मरण भगवन्नाम भी होता है तथा भगवल्लीला का भी । ईश्वर के स्मरण से उनके प्रति अनुराग दृढ़ होता है ।

पादसेवन :

भगवच्चरणों में अनुराग ही "पादसेवन " है । श्रवण, कीर्तन और स्मरण से ईश्वर का माहात्म्य ज्ञात होता है, इसी के साथ ही साथ जीव को अपने अहंकार का बोध भी होता है यह जीव के अहंकार को नष्ट करता है । इस प्रकार पादसेवन का तात्पर्य केवल ईश्वरचरणों की सेवा ही नहीं है अपितु अहंकार का त्याग भी है ।

अर्चन :

श्रद्धापूर्वक भगवान के स्वरूप की पूजा "अर्चन" है । साधन की प्रारम्भिक अवस्था में भगवान के मात्र श्रवण, कीर्तनादि से भगवद्भक्ति को स्थिर रखना एक साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः कठिन होता है । ध्यान के दृढ़ीकरण के लिए उसे एक मूर्त आलम्बन की आवश्यकता होती है और उसी के लिए मूर्तिपूजा का विधान भी है । धूपदीपादि के द्वारा ईश्वर के स्वरूप की पूजा अर्चन कहलाता है । अर्चन के द्वारा साधक को अपनी भक्ति भावना को स्थिर रखने में सहायता प्राप्त होती है ।

वन्दन :

सामान्यतः वन्दन का अर्थ होता है स्वयं से श्रेष्ठ किसी के गुणों का गान करना । अतः वन्दन का अर्थ है अपने आराध्य भगवान की विनम्रतापूर्वक स्तुति । वन्दन का अर्थ केवल आराध्य की महिमा का गायन ही नहीं है अपितु उसके माहात्म्य का अनुभव भी है । वन्दन भक्ति में आराधना और आत्मसमर्पण की भावना निहित होती है ।

दास्य :

भगवान को स्वामी तथा स्वयं को उसका सेवक मानकर उसकी आराधना करना "दास्य" भक्ति है । जीव ईश्वर का अंश है फलतः उससे न्यून है अतः आचार्य रामानुज तथा वल्लभ दोनों को ही ब्रह्म जीव के मध्य स्वामी-सेवक-भाव ही अभीष्ट है । सेव्य सेवक भाव से भक्ति करने पर दैन्य उत्पन्न होता है तथा ईश्वर प्रसन्न होते हैं । दीनतापूर्वक एकबार ईश्वर को पुकार लेने पर ही ईश्वर उसे

स्वीकार कर लेते है । इस प्रकार "दैन्य " भक्ति की प्रथम और सर्वमहत्त्वपूर्ण अपेक्षा है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो बिना दैन्य के मुक्ति को असम्भव ही बताया है ।

सख्य :
----   ईश्वर को सखा मानकर जो भक्ति की जाती है वह "सख्य" भक्ति कहलाती है । अर्जुन और श्रीकृष्ण के मध्य इसी प्रकार की भक्ति थी ।

आत्मनिवेदन :
----------   आत्मनिवेदन नवधा भक्ति की चरम परिणति है । भक्ति के उ उपर्युक्त आठों साधनों के अनुष्ठान से ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान पूर्णत: हो जाता है तथा साधक का चित्त भी भक्ति में स्थिर हो जाता है तब उसके हृदय में जो समर्पण की भावना का जन्म होता है वही " आत्मनिवेदन " है । यही भक्ति का प्राण है । इस अवस्था में भक्त अपना सर्वस्व ईश्वर अर्पित कर देता है,उसके अहंकार का पूर्णत: विनाश हो जाता है ।

इस प्रकार ये भक्ति के नौ अंग है । यद्यपि आचार्य ने इनको मान्यता प्रदान की है तथापि उनके ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता आचार्य यह स्वीकार करते है कि नवधा भक्ति द्वारा चित्तशुद्धि होने पर भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है त०दी०नि० में तो वे इसे प्रेमोत्पत्ति का कारण स्वीकार करते है -

विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम् ।
तत्साधनं नवधा भक्ति ·······।। 2/218

इस प्रकार आचार्य ने नवधा भक्ति के अनुष्ठान का विधान किया है किन्तु ये इसे मर्यादाभक्ति के लिए ही स्वीकार करते हैं । पुष्टिभक्ति हेतु इसके अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है । पुष्टिभक्तों को तो स्वयं ही ईश्वर की कृपा प्राप्त रहती है अत: उन्हें इसके सम्पादन की आवश्यकता नहीं है । मर्यादा भक्तों के लिए ही आचार्य ने नवधा भक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है । नवधा भक्ति द्वारा ही प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होती है इसीलिए आचार्य ने इसे प्रेमोत्पत्ति का साधन कहा है - (विशिष्टरूपे .....त0दी0नि02/218)

नवधा भक्ति की अपेक्षा भक्त को तभी तक रहती है जब तक उसके हृदय में भगवत्प्रेम उत्पन्न नहीं होता । आचार्य भागवत की सुबोधिनी टीका में कहते हैं - अचतुराणामेव षड्विधा भक्तिरुक्ता । " अचतुराणाम् से यहाँ मर्यादा-मार्गीय भक्तों का ग्रहण है । कीर्तन, स्मरण, ईक्षण, वन्दन, श्रवण और अर्हण - यह षड्विधा भक्ति है । यहाँ ईक्षण से पादसेवन तथा अर्हण से अर्चन अर्थ अभिप्रेत है । आचार्य कहते हैं कि षड्विधा भक्ति का संसारी व्यक्तियों हेतु विधान किया गया है । षड्विधा भक्ति से व्यक्ति आसक्ति से मुक्ति पाता है तथा उसका चित्त भगवत्प्रेम में अनुरक्त होने लगता है किन्तु कुछ भक्त ऐसे भी होते हैं जिनका भगवान में सहज ही प्रेम होता है, उन पर ईश्वर की कृपा स्वयं ही होती है, ऐसे भक्त पुष्टिमार्गीय भक्त कहलाते हैं । प्रेमा भक्ति के लिए इन्हें नवधा भक्ति या अन्य किसी साधनानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती । सर्वसाधननिरपेक्ष प्रेम ही इस मार्ग में सर्वोपरि है । प्रेम की ही इसमें अपेक्षा होती है किन्तु इसका तात्पर्य

यह भी नहीं है कि पुष्टिमार्ग में नवधा के लिए कोई अवकाश नहीं है । पुष्टि - मार्गीय भक्तों की भी श्रवण, कीर्तन, अर्चन और वन्दन में प्रवृत्ति देखी जाती है। अन्तर मात्र इतना ही है कि इसमें श्रवणादि का साधन रूपत्व नहीं होता और न ही ये भक्ति के अंग कहे जाते हैं । पुष्टिमार्गीय भक्तों में तो स्वत: ही भगवदनुराग रहता है, श्रवणादि तो ईश्वरप्रेम की अभिव्यक्तिमात्र होते हैं ।

पुष्टिमार्ग :

श्रीमद्वल्लभाचार्य का सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत " कहलाता है तथा उन्होंने जिस साधना-पद्धति का प्रवर्तन किया है वह " पुष्टिमार्ग " कहलाता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य का मत सैद्धान्तिक रूप से शुद्धाद्वैतवाद या ब्रह्मवाद तथा व्यावहारिक रूप से पुष्टिमार्ग कहलाता है ।

पुष्टिमार्ग में आचार्य ने साधनहीन जीवों के हितार्थ मार्गदर्शन किया है । भगवत्प्राप्ति के ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों मार्गों में आचार्य ने भक्ति मार्ग को ही श्रेष्ठ बताया है । आचार्य द्वारा निर्धारित भक्तिमार्ग ही पुष्टिमार्ग कहलाता है ।

पुष्टि का अर्थ है " पोषण या " अनुग्रह " ।

श्रीमद्भागवत का " पोषणं तदनुग्रह : " वाक्य आचार्य के पुष्टिसिद्धान्त का आधार है अत: उन्हें भी पुष्टि का वही अर्थ स्वीकार है जो भागवत में वर्णित है, तदनुसार पुष्टि का अर्थ है- भगवदनुग्रह । पोषण दो प्रकार का होता है -

शारीरिक पोषण :

इसका तात्पर्य शरीर की रक्षा तथा उसकी पुष्टि हेतु लौकिक प्रयत्न करना है ।

आध्यात्मिक पोषण :

इसका अर्थ है आत्मा का पोषण । यही पुष्टि का वास्तविक अर्थ है । यह ईश्वर की कृपा द्वारा ही प्राप्त होता है ।

आचार्य के मत में पुष्टि स्वतन्त्र भगवद्धर्म है जो कृपा, अनुकम्पा आदि शब्दों द्वारा वाच्य है - अनुग्रहश्च धर्मान्तरमेव न तु फलदित्सा कृपानुकम्पादिशब्दाना स वाच्यः ।[1] यह ईश्वर की फलदित्सा ॥ फल प्रदान करने की इच्छा ॥ है फलतः जीवकर्मसापेक्ष नहीं है । इस मार्ग में भगवदनुग्रह ही नियामक है - " अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामकं इति स्थिति : ।"[2] पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद नामक अपने प्रकरण-ग्रन्थ में आचार्य कहते हैं कि पुष्टि का अनुमान उसके भक्तिरूपी कार्य से होता है, इसका स्वरूप व्यक्त नहीं होता - " भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ।"[3]

भक्तिमार्ग का अधिकारी वही होता है जिस पर भगवान की कृपा होती है । भगवत्कृपा के अभाव में पुष्टिमार्ग में रुचि उत्पन्न ही नहीं होती।

आचार्य ने जीव के कल्याण के लिए तीन मार्गों का विधान किया है- प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि । कर्म, ज्ञान और भक्ति इनके प्राप्यतत्त्व हैं ।

॥1॥ प्रवाह मार्ग : इस मार्ग में जीव संसार के प्रवाह में पड़कर सुखदुःखादि द्वन्द्वों में फँसने पर भी ईश्वरप्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है ।

---

1. 3/3/29 अणुभाष्य पर भा0प्र0 2. सिद्धान्तमुक्तावली 18

3. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, 2

(2) मर्यादा मार्ग :

वेदविहित कर्मों का अनुसरण करते हुए ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना " मर्यादा " है, मर्यादा मार्ग साधनमार्ग है । मर्यादामार्गीय साधक अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति कर सकते हैं । ये ज्ञान और कर्म के सम्पादन से मोक्ष प्राप्त करने में ही सुख मानते हैं ।[1]

(3) पुष्टिमार्ग :

पुष्टिमार्ग इन दोनों से विलक्षण मार्ग है । यह भगवान के अनुग्रह-मात्र से ही साध्य होता है । इस मार्ग में ज्ञान और कर्म के सम्पादन की आवश्यकता नहीं होती अपितु ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेमभाव से भगवान को आत्मसमर्पण करके अनुग्रह प्राप्त करना ही मुख्य लक्ष्य रहता है । हरिराय ने अपने ग्रन्थ पुष्टिमार्ग-लक्षणानि में कहा है - " जिस मार्ग में लौकिक,अलौकिक समस्त साधनों का अभाव ही ईश्वर प्राप्ति में साधन होता है,जिसमें स्वयं साध्य ही साधन भी होता है वह पुष्टिमार्ग कहलाता है ।"[2] इसमें समस्त सिद्धियों का हेतु भगवदनुग्रह ही होता है अतः यह जीवप्रयत्नसापेक्ष नहीं है । यह आश्रयरहित,दीन-हीन सबके उद्धार का एकमात्र मार्ग है । इस मार्ग में भगवान अपनी कृपा से मन,कर्म तथा वचन से आत्म-समर्पण करने वाले जीवों का उद्धार करते हैं । समस्त विषयों का परित्याग करके देहादि का सर्वथा समर्पण ही पुष्टिमार्ग में अपेक्षित है ।[3]

---

1. अतएव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादा ।
2. पुष्टिमार्गलक्षणानि, हरिरायवाग्मुक्तावली ,भाग -1
3. समस्तविषयत्यागः सर्वभावेनयत्र हि । समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः कथ्यते ।।
   पुष्टिमार्गलक्षणानि, हरिरायवाङ् - मुक्तावली ,19

ये तीनों मार्ग साधक के सौकर्य हेतु ही निर्धारित किये गये है। इनके सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि -

" सर्गपरम्परा की अविच्छिन्नता प्रवाह है तथा इसकी उत्पत्ति भगवान के मन से हुई है, यह व्यामोह बहुल है। मर्यादा की उत्पत्ति उनकी वाणी से हुई है और यह वेदपरक है तथा पुष्टि की सृष्टि भगवद्शरीर से हुई है, वह रसपूर्ण व प्रेमात्मक है।"[1] आचार्य ने सुबोधिनी में स्पष्टत: पुष्टिमार्ग को लौकिक, वैदिक मार्गों से श्रेष्ठ बताया है- " लौकिकवैदिकमार्गापेक्षया पुष्टिमार्ग: उत्कृष्ट: {सुबोधिनी}

ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति भी आचार्य के अनुसार दो प्रकार की होती है - मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति।

जिस जीव का वरण भगवान मर्यादा मार्ग में करते हैं उसे मर्यादाभक्ति तथा जिसका वरण पुष्टिमार्ग में करते है उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है। भगवान सृष्टि के पूर्वकाल में ही यह निश्चित कर लेते है कि इस जीव से ऐसा कर्म कराकर ऐसा फल दूँगा अत: जिसे जिस मार्ग में स्वीकार करते हैं उसे तदनुसारी फल भी प्रदान करते है।[2] इस वरण में भगवान की इच्छा ही नियामिका है। दोनों प्रकार की भक्ति में जो प्रमुख अन्तर है वह यह कि मर्यादा भक्ति साधनसापेक्ष है तथा पुष्टि भक्ति साधन निरपेक्ष।

---

1. आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन,
डा0 राजलक्ष्मी वर्मा

2. अणुभाष्य 3/3/29

1· मर्यादा भक्ति :

इसमें साधनों के अनुष्ठान से पाप कर्मों का क्षय होता है तथा ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और फलतः मुक्ति प्राप्त होती है।[1] इसमें साधक वेदोक्त समस्त नियमों का पालन पूर्वक विहित साधनों के अनुष्ठान द्वारा ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करता है । मर्यादामार्गीय जीवों की श्रवणादि साधनों में प्रवृत्ति मोक्ष की इच्छा के कारण होती है । इस प्रकार इस मार्ग में जीवों में फलाकांक्षा बनी रहती है । इस भक्ति से चतुर्फलों की प्राप्ति होती है ।

2· पुष्टिभक्ति : ईश्वरानुग्रह द्वारा प्राप्त होने वाली दूसरी भक्ति पुष्टि भक्ति है । यह सर्वसाधननिरपेक्ष है । इसमें साधक की इहलौकिक और पारलौकिक किसी भी प्रकार के फल के प्रति कोई रुचि नहीं रहती । इस प्रकार पुष्टि भक्ति फलाकांक्षा शून्य रहती है । इस मार्ग में साधन की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है । भगवान श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्तों के कार्यों का नियामक है[2] अर्थात् इस पुष्टि भक्ति का अधिकारी वही होता है जिस पर भगवान की कृपा हो। इसी भक्ति को आचार्य ने "पराभक्ति " की संज्ञा प्रदान की है ।

उपनिषदों में भी भगवदनुग्रह द्वारा ब्रह्मज्ञान होने का उल्लेख प्राप्त होता है -

---

1· "मर्यादायां हि श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिः ततो मुक्तिः "
भक्ति मार्तण्ड, गोपेश्वर, पृ०- 152

2· अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः- सिद्धान्तमुक्तावली, 18

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ।।

(कठ० 1/2/23)

इससे भी यह पुष्ट होता है कि भगवद्भक्ति तथा भगवत् स्वरूप के ज्ञान का अधिकारी वही होता है जिसे स्वयं भगवान वरण करते हैं । यही बात आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में भी दिखाई देती है ।

पुष्टि भक्ति चार प्रकार की होती है -

(1) प्रवाहपुष्टिभक्ति :

यह प्रवाह जीवों की भक्ति होती है । इसमें जीव संसार के चक्र में पड़कर अहंता और ममतात्मक भाव से युक्त होकर भी भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है ।

(2) मर्यादापुष्टिभक्ति : इस भक्ति में साधक सांसारिक विषयों से मन को हटाकर इन्द्रिय निग्रह करके भगवान की लीला के श्रवणादि के द्वारा मन को ईश्वर में लगाने का प्रयत्न करता है ।

(3) पुष्टिपुष्टि भक्ति :

पुष्टिपुष्टिभक्ति में जीव को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है । इसमें जीव पुष्टिपुष्टिभक्ति में उपयोगी ज्ञान द्वारा तत्त्व-चिन्तन करता हुआ भगवान के नानाविधानों का ज्ञान प्राप्त करता है।[1]

(4) शुद्धपुष्टिभक्ति : इस भक्ति में जीव ईश्वर के प्रेम में ही निमग्न रहता है। भगवद्भजन जीव का व्यसन हो जाता । यह भक्ति दुर्लभ है तथा सभी प्रकार की

1. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, राधारानी मुख्याम, पृ०-168.

भक्तियों में सर्वश्रेष्ठ कही गयी है इसी को आचार्य पराभक्ति भी कहते हैं अपने भक्तिवर्द्धिनी ग्रन्थ में आचार्य कहते हैं भगवदनुकम्पा से चित्त में पुष्टिभक्तिरूप बीज स्थिर होता है तथा भगवान के नामोच्चारण, यश, लीला आदि के श्रवणादि द्वारा दृढ़ता को प्राप्त होता है ।[1]

इस प्रकार भगवदनुग्रह रूप पुष्टि के परिणामस्वरूप जब भक्त भगवदुन्मुख हो जाता है तो वही स्थिति प्रेमा भक्ति कहलाती है । इस स्थिति में भक्तिरूप बीज "प्रेम" या स्नेहरूप हो जाता है । यह स्नेह भगवान के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों के प्रति आसक्ति का नाश करता है, फिर निरन्तर सेवा तथा भगवत्कथा के श्रवणादि से यह स्नेह ही " आसक्ति"रूप धारण कर लेता है । आसक्ति होने पर भक्त को सांसारिक विषयों तथा गृहकार्यों के सम्पादन में अरुचि हो जाती है तथा भगवदसम्बन्धी सभी कर्म भगवत्प्राप्ति में बाधक से प्रतीत होने लगते हैं । क्रमशः वृद्धि द्वारा प्राप्त करती हुई यही आसक्ति "व्यसन" रूप धारण कर लेती है । व्यसन अवस्था को प्राप्त करने पर भक्त कृतार्थ हो जाता है ।[2] यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, यही मानसी सेवा भी कहलाती है ।

1· लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

x x x x

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।। भक्तिवर्द्धिनी 7,9

2· स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनंकृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ।।

भक्तिवर्द्धिनी 4-5

इस प्रकार भक्ति के विकास की स्नेह, आसक्ति और व्यसन - ये तीन स्थितियाँ हैं जिनमें से व्यसन स्थिति ही साध्यरूपा है ।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति का सर्वोच्च प्राप्य श्रीकृष्ण को स्वीकार किया है । उनके अनुसार साधना का आधार शुद्ध प्रेम है । अपने आराध्य के प्रति जैसे -जैसे प्रेम बढ़ता है, वैसे ही वैसे लौकिक विषयों के प्रति आसक्ति क्षीण होती जाती है। जब प्रेम अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त होता है तब भक्त स्वयं को सर्वात्मना ईश्वर को अर्पित कर देता है । अपना सर्वस्व भगवान के श्रीचरणों में अर्पित करके वह अपने अहं पर विजय प्राप्त कर "भगवदीय " हो जाता है, इसके पश्चात् वह जो कुछ भी करता है " भगवदीय बुद्धि " से ही करता है , समस्त पदार्थों में उसकी "स्वीय बुद्धि " समाप्त हो जाती है ।

भगवदीयता के साथ ही साथ आचार्य वल्लभ भी रामानुजाचार्य की तरह शरणागति को विशेष महत्त्व देते हैं । पुष्टिभक्ति शरणागति से ही आरम्भ होती है । आत्मनिवेदन जो नवधा भक्ति का अन्तिम सोपान है वही पुष्टिभक्ति का प्रारम्भ है तथा आत्मनिवेदन तो शरणागतिपूर्वक होता ही है ।

शरणागति :-

शरणागति का वही अर्थ वल्लभ को भी अभीष्ट है जो रामानुजाचार्य को है अर्थात् अपनी अकिंचनता का अनुभव करते हुए स्वयं को पूर्णतः ईश्वरकृपा पर छोड़ देना । भक्त अपनी समस्त दीनता-हीनता के साथ स्वयं को भगवान की शरण में छोड़ देता है तब कृपानिधान श्रीकृष्ण अपनी अनुकम्पा से उसका उद्धार करते हैं । एकबार ईश्वर की शरण में चले जाने पर जीव के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

गीता में भगवान स्वयं कहते हैं कि जो भक्त अनन्यभाव से मेरी उपासना करते हैं तथा जिनका चित्त सदैव मुझमें लगा रहता है उनके योगक्षेम को मैं वहन करता हूँ।[1]

आचार्य वल्लभ भाव की अनन्यता पर विशेष बल देते हैं । अनन्यता के बिना शरणागति पूर्ण ही नहीं होती । इसी प्रकार दैन्य तथा निःसहायभावना की भी पुष्टि मार्ग में अत्यन्त अपेक्षा है । एकमात्र श्रीकृष्ण में ही समर्पणकर उन्हीं के प्रति अनन्य भक्ति करनी चाहिए तभी भक्ति फलवती होती है । आचार्य ने अपने प्रकरण ग्रन्थ विवेकधैर्याश्रयनिरूपणम् में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की भक्ति का सर्वथा निषेध किया है । भगवद्भक्ति तभी सार्थक है जब अनन्यभाव से केवल उन्हीं का चिन्तन भजनादि किया जाय ।

तुलनात्मक समीक्षा :

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ही भक्तिमार्गीय वैष्णव आचार्य हैं । वैष्णव परम्परा के आचार्य होने के कारण ये दोनों ही ब्रह्म के सगुण रूप के उपासक हैं अतः दोनों ने ही भक्ति को भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया है । प्रस्तुत अध्याय में दोनों को स्वीकृत भक्तिविषयक संधारणा को स्पष्ट किया गया है । इनके भक्तिसिद्धान्त में पर्याप्त समानता होने पर भी कहीं-कहीं पर अत्यन्त सूक्ष्म सा अन्तर भी दिखाई पड़ता है जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता । अतः सम्प्रति कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर दोनों आचार्यों के भक्ति-विषयक विचारों की तुलना प्रस्तुत की जा रही है-

---

1 गीता 9/22

भक्ति का स्वरूप :

सर्वप्रथम दोनों आचार्यों को स्वीकृत भक्तिस्वरूप की विवेचना की जा रही है -

आचार्य रामानुज को मान्य भक्ति उपासनात्मिका है । ये भक्त और भगवान में स्वामी और सेवक का भाव स्वीकार करते हैं । अनेक श्रुतियों में जहाँ ज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्ति का निर्देश है उसके सम्बन्धमें आचार्य का मत है कि वहाँ ज्ञान से तात्पर्य उपासना और वेदन आदि है अतः इन्होंने उपासना पर अधिक बल दिया है । जबकि आचार्य वल्लभ को अभिमत भक्ति रागानुगा है । उनकी भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की अभिव्यंजना अधिक है ।

प्रेम :

व्यक्ति की मूलभूत प्रवृत्तियों में प्रेम की भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । भक्ति का तो वह प्राण है, बिना प्रेम के भक्ति भावना तो पूर्ण ही नहीं होती । सभी वैष्णव आचार्य मूलतः ब्रह्म के सगुण रूप के उपासक है अतः वे सभी भगवान से किसी न किसी प्रकार का प्रेम सम्बन्ध स्थापित करके ही भक्ति की प्रक्रिया में प्रवृत्त हुए हैं ।

रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्यों ने भक्ति के लिए प्रेम की आवश्यकता को स्वीकार किया है । आचार्य रामानुज ने ज्ञानी भक्त द्वारा की गयी उपासना को भक्ति कहा है और उपासना प्रेम के अभाव में सम्भव ही नहीं है । इस प्रकार आचार्य ने प्रेम की अपेक्षा स्वीकार की है किन्तु आचार्य वल्लभ की तो पूरी भक्ति प्रक्रिया ही प्रेम पर आधारित है। उनके अनुसार भक्ति में प्रेम की अपेक्षा सर्वप्रमुख

है उनका अभिमत रागानुगा भक्ति में प्रेम भाव की प्रधानता है । उन्होंने भक्ति शब्द में संयुक्त " क्तिन् " प्रत्यय का अर्थ ही प्रेम किया है । उनके अनुसार क्तिन् प्रत्यय द्वारा जो क्रिया द्योतित होती हैवह प्रेमपूर्विका है अतः उन्होंने भक्ति शब्द का अर्थ किया है - " प्रेमपूर्विका सेवा " ।

साधन और साध्य दोनों ही प्रकार की भक्तियों में प्रेम परमावश्यक है यह प्रेम भक्ति का स्वरूपाधायक तत्त्व है ।

इस प्रकार यद्यपि दोनों ही आचार्यों ने प्रेम को भक्ति का अनिवार्य अंग स्वीकार किया है किन्तु रामानुज की भक्ति में ज्ञान पर अधिक आग्रह है जबकि वल्लभ की भक्ति प्रेमलक्षणा या रागानुगा है । इन्होंने प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया है ।

भगवत्कृपा :

आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ही भक्ति की सिद्धि-हेतु भगवत्कृपा की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं । आचार्य रामानुज स्पष्टतः इसका उल्लेख करते हैं कि जिस जीव पर भगवान की कृपा होती है उसे ही भक्ति प्राप्त होती है । आचार्य वल्लभ का तो सम्पूर्ण भक्तिसिद्धान्त ही भगवत्कृपा पर आधारित है । इस प्रकार भक्तिसिद्धि में भगवत्कृपा की प्राप्ति कैसे होती है, इस विषय में दोनों में मतभेद है ।

आचार्य रामानुज भगवत्कृपा में जीव पुरुषार्थ के लिए भी अवकाश रखते हैं । आचार्य के अनुसार जीव को यह भगवत्कृपा अनायास ही नहीं प्राप्त हो

जाती, बल्कि ईश्वर-चरणों में जीव के सर्वात्मना समर्पित होने पर उसे ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है, इस प्रकार आचार्य मत में भगवत्कृपा हेतु जीव-पुरुषार्थ अपेक्षित है किन्तु वल्लभाचार्य का मत इसके विपरीत है । भक्तिहेतु भगवत्कृपा को तो वे भी स्वीकार करते हैं किन्तु इस कृपा हेतु उनके मत में जीव पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं है । भगवत्कृपा के लिए उन्होंने "पुष्टि" शब्द का प्रयोग किया है । पुष्टि स्वतन्त्र भगवद्धर्म है, यह जीवकृतसाध्य नहीं है । ईश्वर सृष्टि के पहले ही यह निश्चय कर लेते हैं कि इस जीव से ऐसा कर्म कराकर ऐसा फल दूंगा । इस प्रकार वाल्लभ मत में भगवत्कृपा अथवा पुष्टि का अधिकारी वही जीव है जिसका भगवान स्वयं आत्मीय रूप से वरण करते हैं -

नायमात्मा प्रवचेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा तनूं स्वाम् ।।

इस प्रकार भक्ति के लिए भगवत्कृपा दोनों आचार्यों को अभीष्ट है किन्तु रामानुजमत में यह भगवत्कृपा जीवप्रयत्नसापेक्ष है जबकि वाल्लभ मत में जीवकर्मनिरपेक्ष है । ईश्वर स्वयं जिसे चाहता है उसे ही पुष्टि अथवा भगवदनुग्रह प्राप्त होता है।

शरणागति : सर्वात्मना स्वयं को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना "शरणागति" कहलाता है । आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य दोनों ने ही शरणागति को भक्ति हेतु आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है । आचार्य रामानुज ने तो शरणागति या प्रपत्ति को भक्ति की एक पृथक् शाखा ही मान लिया है । किसी भी साधनानुष्ठान के बिना तथा ईश्वर-ज्ञान के अभाव में भी ईश्वर की शरण में चले जाने पर ईश्वर

जीव को स्वीकार कर लेते हैं। उसके बाद जीव के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, ईश्वर स्वयं उसकी मुक्ति की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार आचार्य के अनुसार प्रपत्ति या शरणागति भक्ति की एक स्वतन्त्र शाखा है।

आचार्य वल्लभ ने भी शरणागति को अत्यन्त महत्त्व दिया है। इनके अनुसार भक्ति का प्रारम्भ ही शरणागति के बाद होता है। वल्लभसम्प्रदाय में तो व्यक्तित्व के स्थूलतम अंगों का भी समर्पण किया जाता है। ईश्वर शरणागत का त्याग फिर कभी भी नहीं करते हैं।

इस प्रकार दोनों ही आचार्य यद्यपि शरणागति को अपने - अपने सिद्धान्त में व्याख्यायित करते हैं तथापि दोनों की मान्यताओं में अत्यन्त सूक्ष्म सा अन्तर भी है जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। आचार्य रामानुज तो भक्ति की व्याख्या करके प्रपत्ति को भक्ति की एक शाखा के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। उनके अनुसार भक्तिमार्ग के लिए निर्धारित योग्यताओं की प्रपत्ति हेतु अपेक्षा नहीं है, अपेक्षा है तो मात्र अहंकार त्याग सहित पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण की, शरण में जाने पर ईश्वर की कृपा स्वयमेव जीव को प्राप्त हो जाती है जो भगवत्प्राप्ति का कारण बनती है किन्तु आचार्य वल्लभ की भक्ति प्रक्रिया शरणागति के बाद ही आरम्भ होती है। इस प्रकार दोनों ही आचार्यों ने शरणागति को भक्ति की अपेक्षा के रूप में मान्यता प्रदान की है।

सेवा :

1. आचार्य वल्लभ तथा रामानुज दोनों ने ही सेवा को भी भक्ति का अंग

स्वीकार किया है । भक्ति शब्द की निष्पत्ति "भज सेवायाम् धातु से होती है इस प्रकार सेवा तो भक्ति शब्द का धात्वर्थ है किन्तु रामानुज की अपेक्षा आचार्य वल्लभ ने सेवा पर अधिक बल दिया है । उनके अनुसार चित्त का कृष्ण प्रवण होना "सेवा " है तथा सेवा ही भक्ति है। आचार्य ने भगवान की अष्टप्रहर सेवा का विधान किया है । पुष्टिमार्ग में सेवा का विशेष महत्त्व है, भक्ति स्वयं सेवारूप है, पुष्टिमार्ग में दीक्षित व्यक्ति का एकमात्र धर्म भगवत्सेवा ही है । इस प्रकार सेवा भक्ति का आवश्यकअंग ही नहीं अपितु भक्ति का स्वरूप भी है, भक्ति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ ही सेवा है । आचार्य वल्लभ ने तीन प्रकार की सेवाएं स्वीकार की हैं- तनुजा, वित्तजा और मानसी । इनमें मानसी सेवा सर्वश्रेष्ठ है तथा आचार्य को भक्ति के अर्थरूप में यही अभीष्ट है । आचार्य कृष्णसेवा का विधान करते हुए मानसी सेवा को श्रेष्ठ बताते है - " कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।"

आचार्य रामानुज भी भक्ति हेतु सेवा की अनिवार्यता को स्वीकृति प्रदान करते हैं । आचार्य को दास्यभाव की भक्ति ,अभीष्ट होने के कारण भक्ति में सेवा का अन्तर्भाव स्वयं ही हो जाता है क्योंकि उपासना सेवाभावना के बिना सम्भव ही नहीं है । आचार्य ने भी तन, मन और धन से भगवान तथा भागवतों की निर्हेतुक सेवा को भक्ति कहा है । इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य सेवा को भक्ति का स्वरूप मानते हैं तथा दोनों ने ही तनुजा, वित्तजा तथा मानसी सेवाओं का विधान किया है किन्तु वल्लभ ने मानसी सेवा की बड़ी विशिष्ट व विस्तृत व्याख्या की है । मानसी सेवा को ही इन्होंने साध्य भक्ति तथा फलरूपा माना है ।

दैन्य :

दैन्य भक्ति की प्रथम अपेक्षा है । अहंकारी व्यक्ति को भक्ति की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती । अत: दोनों ही आचार्य दैन्यभाव की प्रमुखता को समान रूप से स्वीकार करते हैं । रामानुज भी सर्वप्रथम अहंकार त्याग का निर्देश करते हैं। जब तक जीव में अहंभाव विद्यमान है तब तक उसमें भगवत्प्रेम की उत्पत्ति होना असम्भव है तथा प्रेम के बिना भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । जब अहंकार का त्याग करके जीव दीन-हीन भाव से भगवान की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान उसे अपनी शरण में लेकर उसके उद्धार का पूरा दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं अत: दैन्यभाव ही भगवान की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र एवं सर्वाधिक आवश्यक अंग है इसके अभाव में भगवत्कृपा नहीं प्राप्त हो सकती ।

इस विषय पर आचार्य वल्लभ भी रामानुज से पूर्णत: सहमत हैं । आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि अहंकार त्याग करके यदि जीव दैन्यभाव से ईश्वर को पुकारे तो कोई कारण नहीं है कि ईश्वर उसकी पुकार पर दौड़ न पड़ें । भगवन्महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि भगवान का व्यक्तित्व ही ऐसा है कि उनके समक्ष आत्मसमर्पण स्वयं ही हो जाता है और आत्मसमर्पण होते ही अहंकार का पूर्णत: नाश हो जाता है । फलत: व्यक्ति अपनी असहायता का अनुभव कर कातर भाव से ईश्वर के समक्ष प्रणत हो जाता है तो ईश्वर स्वयं ही उसे अपनी शरण में स्वीकार कर लेते हैं ।

इसप्रकार भक्ति हेतु जीव में दैन्यभाव की अनिवार्यता दोनों आचार्य समानरूप से स्वीकार करते हैं । जीव जब तक स्वयं को दीन-हीन समझकर ईश्वर के समक्ष

आत्मसमर्पण नहीं करता तब तक वह भगवत्कृपा का अधिकारी नहीं बनता ।

कर्मज्ञानभक्ति समन्वय :

रामानुज और वल्लभ दोनों आचार्यों ने भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति का उपाय स्वीकार किया है । शंकर की भाँति न तो इन्होंने केवल ज्ञान को मुक्ति का साधन माना है और न ही जैमिनि की तरह केवल कर्म को, फिर भी ऐसा नहीं है कि इन्होंने कर्म और ज्ञान की उपेक्षा की हो, भक्ति की प्रमुखता स्वीकार करते हुए इन्होंने कर्म और ज्ञान की महत्ता भी अंगीकार की है । आचार्य रामानुज ने तो ज्ञान और कर्म से युक्त भक्ति को ही मोक्ष का साधन माना है । उनके अनुसार शरीरनिर्वाह हेतु कर्म सम्पादन अनिवार्य है अतः कर्म की तो उपेक्षा की ही नहीं जा सकती तथा भक्ति को इन्होंने "ज्ञान विशेष " कहा है । आचार्य के अनुसार निष्काम कर्मों के सम्पादन से अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा शुद्ध अन्तःकरण में ही जीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होता है अतः रामानुज को कर्म और ज्ञान से सहकृत भक्ति ही मोक्ष के साधनरूप से अभीष्ट है ।

आचार्य वल्लभ भी यद्यपि कर्म और ज्ञान को अस्वीकार नहीं करते किन्तु वे भगवान के प्रति जीव की अहेतुकी प्रेमलक्षणा भक्ति को ही मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं । मर्यादा मार्ग में वे ज्ञान और कर्म का समावेश अवश्य करते हैं। ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ प्रेम को वे भक्ति कहते हैं । इस प्रकार वल्लभ मर्यादा मार्ग में कर्म और ज्ञान की महत्ता स्वीकार करते है किन्तु उनका अधिक आग्रह प्रेमा भक्ति पर है । वल्लभाचार्य ने जो सर्वात्मभाव की स्थिति बतायी है

उसमें तो कर्म और ज्ञान के लिए कोई अवकाश ही नहीं है अत: रामानुज की भक्ति को जहाँ "ज्ञानात्मिका भक्ति " कहा जा सकता है वहीं वल्लभ की भक्ति "प्रेमा भक्ति " कहलाती है फिर भी कर्म और ज्ञान का महत्त्व सभी वैष्णव आचार्य स्वीकार करते हैं।

भक्ति के भेद :

रामानुज और वल्लभ दोनों आचार्य भक्ति को ही साधन भी मानते हैं तथा साध्य भी । इस प्रकार भक्ति शब्द से साधन और साध्य दोनों का ग्रहण होता है । दोनों ही आचार्य साध्य भक्ति को श्रेष्ठ मानते है तथापि साधनानुष्ठान की भी आवश्यकता अंगीकार करते हैं । साधनानुष्ठान के बिना साध्य प्राप्ति सम्भव नहीं है । वल्लभ की अपेक्षा रामानुज के ग्रन्थों में साधन पक्ष का अधिक वर्णन प्राप्त होता है । वल्लभ भी साधन पक्ष स्वीकार तो करते हैं किन्तु उन्होंने कहीं साधनों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है । रामानुज ने कर्मयोग और ज्ञानयोग के अतिरिक्त साधन सप्तक जिसके अन्तर्गत विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष ये सात साधन हैं, का भी वर्णन किया है । आचार्य वल्लभ साधन भक्ति में श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधा भक्ति का उल्लेख तो करते हैं किन्तु बहुत विस्तार से कहीं इसका वर्णन उनके ग्रन्थों में नहीं मिलता । इनका विशेष आग्रह तो पुष्टि भक्ति पर है, यही परमपुरुषार्थरूपा है तथा जीव का सर्वोच्च साध्य है ।

भक्ति एवं बाह्याचार :

दोनों आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप के उपासक हैं अतः साधन मार्ग में दोनों ही आचार्यों ने कुछ बाह्याचारों का निर्देश किया है । आचार्य रामानुज ने षोडश उपचारों का विधान किया है जिसके अन्तर्गत कुछ तो नवधा भक्ति के अंग हैं, इसके अतिरिक्त शरीर पर हरि आयुधों तथा मंत्रों का अंकन, मस्तक पर लम्बी रेखा, समय -समय से मंत्रजाप, भगवान के चरणामृत का पान, भगवदभक्तों की सेवा, दोनों पक्षों की एकादशी का व्रत, भगवत्प्रतिमा पर तुलसीदल का अर्पण । इसी प्रकार आचार्य वल्लभ शरणमंत्रोपदेश तथा आत्मनिवेदन का विधान करते हैं । वाल्लभ मत में भी साधक के लिए तुलसी की माला धारण करने तथा एकादशी व्रत का विधान है । इस प्रकार किंचिद् भेद के साथ बाह्याचारों के विधान में दोनों आचार्य एकमत हैं ।

xxxxxx

अष्टम अध्याय

आलोच्य दर्शनों में साध्य का स्वरूप

दार्शनिक विचारणा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग 'साध्य' की स्थापना है तथा उसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति ही जीव का परम प्रयोजन है । अतः साध्य प्राप्ति के समस्त साधन चाहे वह ज्ञान हो, कर्म हो या भक्ति हो, की सार्थकता साधक को साध्य की अनुभूति के योग्य बनाने में है ।

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय अपने स्वरूप और मान्यताओं में भले ही परस्पर भिन्न हों किन्तु उस परम लक्ष्य की अवधारणा में सभी एकमत है जो शाश्वत, अपरिच्छिन्न तथा अतिशय सुखस्वरूप है । यही मोक्ष है , जिसका अर्थ है संसार चक्र से सर्वथा मुक्ति ।

दुःख से सर्वथा अतीत इस मोक्ष की परिकल्पना में वेदान्त ने "आनन्द" तत्त्व और जोड़ दिया है जिससे मोक्ष केवल दुःखाभाव न होकर अतिशय आनन्दस्वरूप भी हो गया है । अद्वैत वेदान्त के अमूर्त आकारहीन "आनन्द" को वैष्णव वेदान्तियों ने आकार प्रदान कर मानवीय सम्वेदना के और समीप ला दिया जिससे जीव के लिए आनन्दानुभूति अधिक ग्राह्य बनगयी तथा इस तरह धर्म और दर्शन के मध्य जो अन्तर था वह भी समाप्त हो गया । दर्शन का परम सत्य ही धर्म के आराध्य के रूप में अवतरित हुआ ।

इस आराध्य की प्राप्ति ही वैष्णवों का परम साध्य है । यही आचार्य रामानुज को अभीष्ट है और यही वल्लभाचार्य को भी । दोनों आचार्यों के साध्य सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन ही यहाँ प्रकृत विषय है अतः पहले

रामानुजाचार्य और तदनन्तर वल्लभाचार्य के विचारों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जाएगा -

आचार्य रामानुज के अनुसार साध्य की अवधारणा -

समस्त भारतीय दर्शनों में जन्म और मृत्यु के चक्र को "बन्ध" कहा गया है । अतः जन्म और मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाना ही "मोक्ष" है । आचार्य रामानुज के अनुसार जीव का बन्धन अविद्या और तज्जन्य कर्म के कारण होता है । अनादि अविद्या के कारण जीव स्वयं को ईश्वर से भिन्न तथा प्रकृति से अभिन्न मान बैठता है और भवचक्र में आवर्तित होता रहता है । यह चक्र ही त्रिविध तापों का जनक है । जब वह तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तब समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

आचार्य शंकर मुक्ति की अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म की ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है, उसके अतिरिक्त प्रतीयमान सम्पूर्ण सृष्टि रज्जु में अज्ञानवशात् कल्पित सर्प की भाँति मिथ्या है । जिस प्रकार रज्जु का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर सर्पविषयक अज्ञान बाधित हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर प्रपंचविषयक समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है और एकमात्र निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता अवशिष्ट रहती है । इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्त्वज्ञान ही

मुक्ति का एकमात्र साधन है । निष्काम कर्म तो चित्त को शुद्ध करता है तथा ज्ञानप्राप्ति के योग्य बनाता है । निष्काम कर्म पितृलोक तथा सत्यलोक की प्राप्ति अवश्य कराता है किन्तु दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति कर्म द्वारा सम्भव नहीं है । इसी प्रकार भक्ति भी परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है, भक्ति द्वारा अपर ब्रह्म की प्राप्ति होती है । इस प्रकार निष्काम कर्म और भक्ति मुक्ति के साक्षात्साधन नहीं है । दुःखों से मुक्ति तो तत्त्वज्ञान द्वारा ही होती है ।

आचार्य रामानुज को शंकराचार्य का यह मत मान्य नहीं है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व - ये दोनों गुण वास्तविक नहीं है अपितु अविद्या के कारण जीव में, कल्पित किए जाते हैं, अतः जीवस्वरूप का वास्तविक ज्ञान अविद्या द्वारा उत्पन्न मिथ्या कर्तृत्व और भोक्तृत्व की भावना को नष्ट करता है । इसके विपरीत आचार्य रामानुज के अनुसार जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही सत्य है ।

आचार्य कहते हैं कि मुक्ति के लिए इन दोनों गुणों का नाश आवश्यक नहीं है अपितु मुक्ति का तात्पर्य है जीव का प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होना । निष्काम कर्म नित्य जीवात्मा और अनित्य शरीर का भेदज्ञान कराता है इसीलिए आचार्य निष्काम कर्मों का सम्पादन मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं । निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । रामानुज के अनुसार पूर्ण आत्मसमर्पण, जो कि भक्ति का मूल है, तभी उत्पन्न होता है जबकि जीव अपने वास्तविक स्वरूप,

भगवत्स्वरूप तथा अपने और भगवान के सम्बन्ध को जान लेता है । ज्ञान शुद्ध अन्तः -करण में ही उत्पन्न होता है इसलिए आचार्य कर्म और ज्ञान दोनों को ही भक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं । ये दोनों भक्ति की पूर्वापेक्षाएं हैं, कर्म और ज्ञान से संस्कृत चित्त में ही भक्ति का उदय होता है ।

मोक्ष का स्वरूप :

आचार्य रामानुज को मोक्ष का अर्थ " जीव और ब्रह्म का ऐक्य " स्वीकार नहीं है अपितु उनके मत में जीव का " ब्रह्मभाव " को प्राप्त होना मोक्ष है ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता में आचार्य कहते हैं कि जीव की ब्रह्म के साथ "साधर्म्यता " मोक्ष है । यहाँ साधर्म्यता का अर्थ जीव का ब्रह्मगुणों से युक्त होना है । आचार्य कहते हैं कि मोक्ष दशा में जीव ब्रह्म में लीन नहीं हो जाता अपितु उस अवस्था में भी उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है, अद्वैत मत से वैष्णव मत का यही प्रमुख अन्तर है । समस्त वैष्णवाचार्य मुक्तावस्था में जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं ।

यहाँ यह शंका होती है कि मोक्ष का अर्थ यदि जीव-ब्रह्मैक्य नहीं है तो रामानुजाभिमत मोक्ष का -" ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " तथा " निरंजनः परमं साम्यमुपैति " आदि श्रुतियों से विरोध होगा, इस पर आचार्य कहते हैं कि " " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " श्रुति में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन

- -

1. " ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम् "

- श्रीभाष्य - 1/1/1

नही है अपितु मोक्षकालिक जीव के "असंकुचित धर्मभूत ज्ञानाश्रयत्व" का प्रतिपादन है। इसीप्रकार " परमं साम्यमुपैति" में भी ब्रह्म के साथ जीव की सर्वज्ञत्वादि रूप की समता कही गयी है। जीवात्मा मोक्षावस्था में ब्रह्म के समान गुणों से युक्त हो जाता है अतः इन श्रुतियों में ब्रह्म के गुणों से जीवकी समता का ही निर्देश किया गया है। जिस प्रकार चुम्बक अपने समीप स्थित लोहे को अपनी ओर खींचता है, उससे स्वरूपतः एक नहीं हो जाता उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भक्तों के साथ "गुणाष्टक"[1] रूप से एक नही हो जाता है। जीव तो ब्रह्म का शरीर है, शरीर और शरीरी कभी एक नहीं हो सकते अतः मुक्ति का अर्थ जीव ब्रह्मैक्य तो हो ही नहीं सकता। विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के स्वभाव को प्राप्त करके "अभेदी" हो जाता है। जीव का ब्रह्म से भेद अज्ञान के कारण होता है।[2] आचार्य रामानुज यहाँ "अभेदी" का अर्थ भेदरहित करते है, तादात्म्य नहीं। अतः जहाँ कही भी ब्रह्म के साथ जीव का अभेद कहा गया है, वहाँ अभेद का अर्थ "तादात्म्य" नही अपितु "भेदरहितत्व" है तथा जहाँ ब्रह्म-साम्य का कथन है वहाँ पर केवल ब्रह्म के गुणों का साम्य विवक्षित है, स्वरूप-साम्य नहीं। अतः उक्त श्रुतियों से किसी भी प्रकार का

---

1. "अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" ब्रह्म के ये आठ गुण मुक्तात्मा में भी आ जाते हैं।

2. " विष्णु पुराण 6/7/95

विरोध नहीं होता । इस प्रकार जीव की "स्वरूपप्राप्ति " ही मोक्ष है । श्रीभाष्य में आचार्य कहते हैं कि यह स्वरूपप्राप्ति अपने ही यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति है, यह किसी नवीन आकार की उत्पत्ति नहीं है ।[1] वस्तुतः जीव ब्रह्म का अंश है अतः उससे भिन्न नहीं है किन्तु अविद्या के कारण वह स्वयं को ब्रह्म से भिन्न तथा प्रकृति से अभिन्न समझने लगता है, यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह अनेक कर्मों को करता हुआ संसार - बंधन में पड़ता है तथा अनेक दुःखों का भागी बनता है ।

मुक्तात्मा में ब्रह्म के " अपहतपाप्मत्वादि " गुण आ जाते हैं । ये आत्मा के स्वाभाविक गुण है जो अज्ञान के कारण आवृत रहते हैं । जिस प्रकार ज्योत्स्ना अपने प्रकाश द्वारा मणि को प्रकाशितमात्र करती है, उसके मल का प्रक्षालन नहीं करती उसी प्रकार बन्धन के नष्ट हो जाने पर ब्रह्मसाक्षात्कारानुभव से मुक्त जीव में उन गुणों का विकास होता है ।[2]

मुक्तात्मा में जीव के संकल्प मात्र से समस्त भोग उपस्थित हो जाते हैं किन्तु ये भोग और ऐश्वर्य ईश्वर के ही अधीन होते हैं । सत्यसंकल्पता के कारण ही जीव को अनन्याधिपति " तथा "स्वराट " भी कहा जाता है ।[3]

- -

1· स्वरूपाविर्भावरूपः नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः

2· श्रीभाष्य , 4/4/3

3· यतो मुक्तः सत्यसंकल्पः अतएवानन्याधिपतिश्च "

- श्रीभाष्य 4/4/9

मुक्त हो जाने के उपरान्त जीव का इस लोक में पुनरावर्तन नहीं होता । वह जन्म और मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे प्राप्त करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता ।

अभी तक के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि अविद्याजन्यकर्म और शरीर के प्रभावों से सर्वथा मुक्ति और तदनन्तर ब्रह्मानुभव की प्राप्ति ही जीव का परम साध्य है तथा यह स्थिति ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा प्राप्त होती है । मोक्ष प्राप्ति के साधन की चर्चा पिछले अध्याय में सविस्तार की गयी है, किन्तु साधन अवस्था में ब्रह्मानन्द का क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है या यह कहा जाय कि आनन्द की झलक मात्र प्राप्त होती है, उसमें स्थायित्व नहीं होता । पूर्णानन्द की प्राप्ति तो परमपद प्राप्ति के अनन्तर ही होती है । परमपद जीव का सर्वोच्च निवास है जिसे आचार्य " वैकुण्ठ " कहते हैं, यह ब्रह्मलोक का हृदय माना जाता है । अतः वैकुण्ठ में पहुँचकर आत्मा शाश्वत आनन्द का उपभोग करता है । वैकुण्ठ तक पहुँचने की भी आचार्य ने विभिन्न स्थितियाँ स्वीकार की हैं -

श्रुतियों में अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है कि हृदय से संलग्न एक सौ एक नाड़ियों में से एक मूर्धा की ओर जाती है, उसी के द्वारा जीव का निष्क्रमण होता है । आचार्य रामानुज कहते हैं कि भौतिक शरीर के नष्ट होने पर इन्द्रियाँ मन में, मन प्राण में और प्राण जीव में समाहित होता है तथा जीव स्थूल शरीर का त्यागकर सूक्ष्मावस्था में आ जाता है और अर्चिरादि के सीधे और प्रकाशित मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक तक पहुँचता है । ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश के पूर्व दो मार्ग हो जाते हैं -अर्चिरादि

या देवमार्ग तथा धूमयान या धुएं का मार्ग। बद्ध जीव, जिसने ब्रह्मानुभव नहीं किया है, धूमयान का अनुसरण करता है तथा इनकी गति पितृलोक या स्वर्गलोक तक ही रहती है , अल्पकाल तक पितृलोक या स्वर्गलोक के सुखों को भोगकर ये पुनः संसार में लौट आते हैं किन्तु जिसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है वह अर्चिरादि मार्ग से अपने वास्तविक निवास 'बैकुण्ठ' को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द का अनन्तकाल तक अनुभव करता है। इस अर्चिमार्ग से वह सीधे बैकुण्ठ नहीं पहुंचता अपितु इस मार्ग पर आरूढ़ होकर वह पहिले अग्निलोक पहुंचता है फिर क्रमशः वरुणलोक, आदित्यलोक इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक होते हुए ब्रह्मलोक पहुंचता है। ब्रह्मलोक पहुंचकर वह ब्रह्म की सन्निधि में उसके आनन्द का शाश्वत उपभोग करता है। ब्रह्मलोक से उसका इस संसार में पुनरावर्तन नहीं होता।

<u>मोक्ष के अवस्थाभेद :</u>

विशिष्टाद्वैत मत में मोक्ष की चार अवस्थाएं स्वीकार की गयी है-

(1) सालोक्य मुक्ति - ईश्वर के दिव्य धाम गोलोकादि की प्राप्ति करना।

(2) सामीप्य मुक्ति - ईश्वर के दिव्य पार्षदों का रूप धारण करके उनकी सेवा में रहना।

(3) सारूप्य मुक्ति - " ईश्वर जैसा ही रूप धारण करना।

(4) सायुज्य मुक्ति - ईश्वर सन्निधि की प्राप्ति कर उसके समस्त भोगों का उपभोग करना। यही मुक्ति की चरमावस्था है तथा आचार्य को मोक्ष रूप से यही स्थिति

स्वीकार है । इस अवस्था में प्रथम तीन स्थितियों के गुण भी आ जाते हैं । अतः यही जीव का परम साध्य है ।

जीवन्मुक्ति का खण्डन :

साधक जब भगवद्भक्ति द्वारा ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेता है तब वह अपने दैवी स्वरूप को जानकर शरीर भाव से मुक्त हो जाता है तथा ब्रह्म के समान गुणों को प्राप्त कर लेता है । मुक्तात्मा वस्तुतः ईश्वर में लीन नहीं हो जाता अपितु ईश्वर की सन्निधि में रहकर उसके आनन्द का उपभोग करता है । यह स्थिति शरीरपात के अनन्तर ही प्राप्त होती है अतः आचार्य रामानुज शंकराभिमत जीवन्मुक्ति की कल्पना को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार शरीर रहते मुक्ति की संभावना भी नहीं की जा सकती , यदि शरीर रहने पर भी मुक्ति स्वीकार की जाय तो यह विचार " मेरी माता वन्ध्या है " इस वाक्य के सदृश स्वतः ही असंगत सिद्ध हो जायेगा । श्रुतियों में भी अनेकशः शरीर-सम्बन्ध को 'बन्धन' तथा शरीरसंयोगमुक्ति को 'मोक्ष' कहा गया है ।

आचार्य के अनुसार शरीर और आत्मा में अध्यासजन्य तादात्म्य नहीं होता अपितु उनमें " अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध " होता है । आचार्य शंकर शरीर -भाव को मिथ्या मानते हैं । उनके अनुसार " शरीर प्रतीति मिथ्या है " - इस प्रकार प्रकार का ज्ञान हो जाने पर शरीर के रहने पर भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी अवस्था को वे जीवन्मुक्ति कहते हैं, किन्तु आचार्य रामानुज को यह मान्य नहीं

है । ये कहते हैं कि जीवात्मा जब तक शरीरयुक्त रहता है तब तक उसका शरीर के साथ सम्बन्ध भी सत्य होता है अतः शरीर के रहते मुक्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है ।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि जीव को मुक्त होने में तभी तक देर है जब तक कि शरीरपात नहीं हो जाता ।[2] शरीर का सम्बन्ध छूटते ही जीव मुक्त हो जाता है । जीवन्मुक्ति का खण्डन महर्षि आपस्तम्ब ने भी किया है । उनके अनुसार वाक्यार्थ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने मात्र से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, यदि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से मुक्ति मिल जाती तो इस लोक में जीवन्मुक्त को दुखोपलब्धि न होती । जब तक शरीर है तब तक कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता और कर्म ही बन्धन का कारण है अतः शरीर के रहते मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । इस प्रकार यह सिद्ध ही है कि जीवन्मुक्ति की कल्पना तर्कसंगत नहीं है । मोक्षप्राप्ति देहपात के अनन्तर ही होती है। इस स्थिति को ही "विदेह-मुक्ति " कहते हैं और यही वास्तविक मुक्ति है ।

जिस स्थिति को आचार्य शंकर जीवन्मुक्ति की संज्ञा देते हैं आचार्य उसे "स्थितप्रज्ञता " कहते हैं । आचार्य के अनुसार जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह स्थितप्रज्ञ " कहलाता है । जीवनकाल में यह स्थिति

---

1. A Critical Study of the Philosophy of Ramanuja
   - Anima Sen Gupta P. 132

2. "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये " छा० 6/14

जीव की सर्वोच्च स्थिति होती है । इस स्थिति को प्राप्त कर वह शरीर के रहने पर भी सुख - दुःख, हर्ष - विषाद आदि द्वन्द्वों से अप्रभावित रहता है । उसका चित्त सदैव ईश्वर में ही लगा रहता है तथा ईश्वर के अतिरिक्त अन्य समस्त मनोगत कामनाओं का वह पूर्णतः त्याग कर देता है [1] किन्तु यह अवस्था वास्तव में मुक्ति की अवस्था नहीं है, आचार्य ने इसे "स्थितप्रज्ञ" की अवस्था कहा है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य कहते हैं कि अविद्या और कर्म ही बन्धन के कारण हैं अतः मुक्ति तब तक नहीं प्राप्त हो सकती जब तक कि अविद्या और कर्म का पूर्णतः नाश न हो जाय, जीवन्मुक्ति की अवस्था में जीव के केवल सञ्चित और क्रियमाण कर्मों का ही नाश होता है, प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता अतः कर्म-प्रभाव से सर्वथा मुक्त न होने के कारण मोक्षप्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता इस तरह भी जीवन्मुक्ति की कल्पना तर्कविरुद्ध ही सिद्ध होती है ।

इसप्रकार आचार्य के मत में विदेहमुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है, जीवन्मुक्ति की कल्पना सर्वथा अतार्किक है ।

मुक्तात्मा का स्वरूप :- जीव जब भक्ति और ईश्वरीय कृपा के द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है तब प्राकृत शरीर का त्यागकर अपने दैवी स्वरूप को प्राप्त करता है ।

---

1. आत्मैकावलम्बनेन तुष्टः तेन तोषेण तद्व्यतिरिक्तान् सर्वान् मनोगतान् कामान् यदा प्रकर्षेण जहाति तदा अयं स्थितप्रज्ञ इति उच्यते"

-गीताभाष्य 2/55

मुक्तात्मा इस संसार का त्याग करने पर सर्वप्रथम अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोकों से होता हुआ अन्त में वैकुण्ठ लोक में पहुंचता है वस्तुत: ये विभिन्न लोक नहीं है अपितु वैकुण्ठ तक पहुंचने की विभिन्न स्थितियां हैं । इस अवस्था में वह समस्त गुणों व कर्मों के प्रभाव से मुक्त होकर परब्रह्म की समता प्राप्त करता है।[1] "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते वाक्य में 'स्वेन' शब्द से यही भाव निरूपित किया गया है । मुक्तावस्था प्राप्त होते ही जीव अपने प्राकृत शरीर, जिसे वह बन्धन दशा में अपना समझता है, से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । ब्रह्म की समता प्राप्त होने पर उसमें ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि गुण भी आ जाते हैं । यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि जब ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि समस्त गुणों को प्राप्त कर जीव ब्रह्म की समता प्राप्त कर लेता है तब उन दोनों में अन्तर ही क्या रह जाता है, फिर जीव - ब्रह्मैक्य से विरोध ही क्या ? इस पर आचार्य कहते हैं कि " जगद्व्यापारवर्जं ...... निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवं मुक्तैश्वर्यम् "[2] अर्थात् जगद्व्यापार से मुक्त जीवात्मा का ऐश्वर्य होता है । जगत् के सृष्टिकर्तृत्व की सामर्थ्य जीव में नहीं है, समस्त जगत् के नियमन की प्रवृत्ति केवल ईश्वर की ही है ।

इसके अतिरिक्त जीव का परिमाण अणु होता है जबकि परमात्मा का परिमाण विभु है । इस प्रकार विभु परिमाण तथा जगत्सृष्टि को छोड़कर ईश्वर के अन्य समस्त गुणों से मुक्तात्मा समता प्राप्त कर लेता है ।

---

1. " तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन परमसाम्यमुपैति " -मुण्डक 3/1/3
2. श्रीभाष्य 4/4/17

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि आचार्य के अनुसार मोक्ष का अर्थ है जीव का प्रकृति व अविद्याजन्य कर्मों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होना । आचार्य मोक्ष दशा में जीव और ब्रह्म का ऐक्य न मानकर जीव का ब्रह्मगुणों से साम्य स्वीकार करते हैं । आचार्य के अनुसार मोक्ष में ब्रह्म और जीव की स्थिति उन दो समकेन्द्री वृत्तों के समान है जो एक के ऊपर एक रखने से एकाकार से प्रतीत तो होते हैं किन्तु वस्तुत: एक हो नहीं जाते उसी प्रकार रामानुज को स्वीकृत जीव और ब्रह्म का अद्वैत भक्ति समन्वित अद्वैत है जिसमें अद्वैत दशा में भी उतना द्वैत बना रहता है जिससे भक्त और भगवान में उपासक - उपास्य भाव सम्भव हो सके । जीव मोक्ष - दशा में भगवान से एक नहीं होना चाहता ।[1] वह भगवान से भिन्न रहकर उसके आनन्द का उपभोग करना चाहता है । यदि शंकर की तरह जीव-ब्रह्मैक्य स्वीकार कर लिया जाय तब तो सिद्धान्त ही बाधित हो जाएगा । रामानुज भक्तिमार्गीय आचार्य हैं, जीव ब्रह्मैक्य मानने पर तो भक्ति के लिए अवकाश ही नहीं रह जाएगा, इसके अतिरिक्त चित् अचित् तो ईश्वर के नित्य सहवर्ती विशेषण हैं जो कि प्रत्येक दशा में ईश्वर में अविभाज्य रूप से विद्यमान रहते हैं अत: जीव का अस्तित्व तो आचार्य सदैव स्वीकार करते हैं ।

यह तो रही मुक्ति की बात; इस मुक्ति की प्राप्ति भगवद्भक्ति द्वारा ही संभव है । वैष्णव चिन्तन की यह विशेषता रही है कि उसमें भक्ति को मोक्ष से भी श्रेष्ठ समझा गया है । आचार्य रामानुज वैष्णव चिन्तन के प्रतिनिधि आचार्य हैं

---

1. ऐसा ही भाव हिन्दी कवि जगन्नाथ दास रत्नाकर की इन पंक्तियों में अंकित है - जैहैं बनि बिगरि न वारिधिता वारिधि की बूंदता बिलैहै बूंद विवस बिचारी की समुद्र में मिलकर बूंद का अस्तित्व समाप्त हो जाता है अत: जीव ब्रह्म से एक होकर अस्तित्व विहीन

अतः वैष्णवों को इस प्रवृत्ति से अछूते वे भी नहीं हैं । उनके अनुसार भी भक्ति ही साधन है तथा भक्ति हीसाध्य है । यद्यपि आचार्यश्रीभाष्य में साध्य भक्ति का वर्णन प्राप्त नही होता तथापि आचार्य द्वारा प्रणीत वेदार्थ संग्रह के प्रसिद्ध टीकाकार श्री सुदर्शन सूरि ने साधन और साध्य भक्ति का उपाय और उपेय भक्ति रूप से वर्णन किया है । भक्ति के उपाय होने उस पर उसे "पराभक्ति" तथा उपेय होने पर उसे ही "परमाभक्ति" कहते हैं । परमा भक्ति की प्राप्ति ही विशिष्टाद्वैती साधकों का परम लक्ष्य है, इसके समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है । गीता में भगवान कीप्राप्ति स्वतः ही हो जाती है । भगवान तो भक्त के वशीगत होते हैं । इसीलिए भक्त भक्ति की ही कामना करता है । भक्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त उसे अन्य किसी वस्तु की कामना नही रहती । हिन्दी कवि गोस्वामी तुलसीदास जी तो यहाँ तक कहते हैं -

"अर्थ न धर्म न कामरुचि, गति न चहौं निर्वाण ।
जन्म-जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन ।।"

<u>आचार्य वल्लभ के अनुसार साध्य की अवधारणा -:</u> रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी परब्रह्म के प्रति जीव की भक्ति को ही परम पुरुषार्थ अथवा जीव का सर्वोच्च साध्य स्वीकार करते हैं ।

साध्य भक्ति प्रेमलक्षणा है यहपरब्रह्म में अतिशयप्रेमरूपा है । आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति शब्द में धात्वर्थ "सेवा" तथा प्रत्ययार्थ "प्रेम" है । अतः भक्ति शब्द का अर्थ है "प्रेमपूर्वक सेवा" । सेवा तीन प्रकार की होती है । तनुजा, वित्तजा और मानसी । इनका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका

है । इनमें से मानसी सेवा ही आचार्य को भक्ति शब्द के अर्थ रूप में अभीष्ट है । मानसी सेवा का स्वरूप है - चित्त का ब्रह्ममय हो जाना ।

इस प्रेमलक्षणा भक्ति के आश्रय श्रीकृष्ण हैं । जीव की समस्त मानसिक, कायिक गतियों के वे ही एकमात्र आश्रय हैं । अतिशय आनन्द से युक्त होने के कारण श्रीकृष्ण की अहेतुकी भक्ति ही जीव का सर्वोच्च साध्य है, किन्तु इस भक्ति के अधिकारी बिरले ही होते हैं । यह भक्ति उन्हीं को प्राप्त होती है जिन पर भगवान की कृपा होती है तथा भगवान स्वयं जिनका वरण करते हैं ।

आचार्य ने इस साध्य स्वरूपा भक्ति के विकास की तीन स्थितियाँ मानी हैं - प्रेम, आसक्ति और व्यसन । श्रीकृष्ण के प्रति उत्पन्न जो बीजभावरूप भक्ति है वह श्रवणादि साधनों से दृढ़ होकर स्नेह अथवा " प्रेमरूप " को प्राप्त होती है । श्रीकृष्ण के प्रति यह प्रेम ईश्वरातिरिक्त अन्य समस्त विषयों के प्रति जीव की आसक्ति को नष्ट करता है । सेवा तथा श्रवणादि साधनों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ यही स्नेह " आसक्ति " रूप में परिणत हो जाता है । इस अवस्था में जीव को भगवद्भिन्न समस्त पदार्थ त्याज्य व बाधारूप लगने लगते हैं । यही आसक्ति निरन्तर बृद होती हुई "व्यसन " रूप को प्राप्त होती है । व्यसन प्रेम की परिपक्वावस्था है । यह व्यसन श्रीकृष्ण में अतिशय प्रेमरूप है । इस अवस्था- में चित्त की समस्त वृत्तियाँ कृष्णमय हो जाती हैं । व्यसनदशा को प्राप्त भक्ति को ही आचार्य सर्वश्रेष्ठ भक्ति कहते हैं , इस स्थिति को प्राप्त होने पर भक्त

कृतार्थ हो जाता है ।[1] भक्ति का व्यसन हो जाने पर भक्त को गृहकार्यों का सम्पादन करना, भगवत्प्राप्ति में बाधक प्रतीत होने लगता है । यही वह "निर्गुणभक्तियोग" है जो भागवत के तृतीय स्कन्ध में वर्णित है ।

साधकों के स्वभाव के अनुसार सगुण और निर्गुण दो प्रकार के भक्ति-योग का वर्णन किया गया है । सगुणा भक्ति के 81 भेद बताये गये हैं । सात्त्विक राजस और तामस रूप से भक्ति के तीन - तीन भेद तथा नवधा भक्ति में भी प्रत्येक के तीन - तीन भेद । इस प्रकार कुल मिलाकर सगुण भक्ति के 81 प्रकार हैं किन्तु आचार्य को स्वसिद्धान्तरूप से निर्गुण भक्ति ही अभीष्ट है -"अस्मद् प्रतिपादितं च नैर्गुण्यं ।" निर्गुण भक्तियोग की व्याख्या करते हुए महर्षि कपिल कहते हैं -

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये,
>
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाऽम्भसोऽम्बुधौ ।
>
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्
>
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।
>
> (भागवत 3/29/11/12)

भगवान के गुणों के श्रवणमात्र से सागर में गंगा के निरन्तर प्रवाह के समान चित्त की भगवान में अविच्छिन्न गतिरूप जो अहैतुकी और अव्यवहिता भक्ति है, वही निर्गुण भक्ति योग है ।

---

1. यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव हि - भक्तिवर्द्धिनी पृ0- 5

आचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका में इन श्लोकों की विस्तृत व्याख्या की है । आचार्य कहते हैं कि प्रकृति के सत्वादि गुण बन्धन कारक होते हैं किन्तु भगवान के गुण बन्धन कारक नहीं है, अतः भगवान के गुणों के श्रवणमात्र से चित्त की भगवत्स्वरूप में जो अविच्छिन्न गति है, वही भक्ति है । जिस प्रकार गंगा का जल समस्त प्रतिबन्धों का भेदन करता हुआ सागर की ओर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है उसीप्रकार समस्त प्रतिबन्धों को दूर कर ईश्वर के प्रति चित्त की जो एकतानता है, वही भक्ति है ।

इस भक्ति की दो प्रमुख विशेषताएं हैं - अहेतुकी और अव्यवहिता । अहेतुकी का अर्थ है फलाकांक्षारहित, इसी को "अनिमित्ता" भी कहते हैं अर्थात जिसका ईश्वर से भिन्न कोई निमित्त न हो । फलाकांक्षा से रहित और स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा होने के कारण यह "स्वतन्त्रा" भी कहलाती है ।

इसकी दूसरी विशेषता है अव्यवहित होना । अव्यवहिता का अर्थ है नैरन्तर्ययुक्त, जिसमें काल कर्म का व्यवधान न हो । इस प्रकार समस्त कामनाओं से रहित पुरुषोत्तम में चित्तवृत्ति का सतत प्रवाह ही निर्गुण भक्तियोग है ।[1]

यहाँ एक प्रश्न सहज ही मन में उठता है कि इसे निर्गुण भक्तियोग क्यों कहा गया है ?

---

1. श्रीमद्भागवत 3/29/11-12 सुबो०

निर्गुण का अर्थ आचार्य के अनुसार त्रिगुणसेरहित है । ईश्वर समस्त प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण 'निर्गुण ब्रह्म' कहलाते हैं अत: निर्गुण ब्रह्म को विषय बनाने के कारण यह भक्ति 'निर्गुण भक्ति' कहलाती है ।

इसके अतिरिक्त निर्गुण का अर्थ है - निष्काम । कामनाएं गुणों का कार्य हैं । जो भक्ति सत्त्वादि प्राकृत गुणों से अपरिच्छिन्न होने के कारण समस्त कामनाओं से शून्य है, वह निष्काम भक्ति कहलाती है । निर्गुण शब्द का यह अर्थ भक्ति स्वरूप के अधिक निकट है अत: यही अधिक उपयुक्त व उचित है । यह निर्गुणा भक्ति स्वयं फलरूपा भी है, इसे प्राप्तकर भक्त के हृदय में अन्य किसी आकांक्षा के लिए स्थान ही नहीं रहता , इसके समक्ष तो उसके लिए सालोक्यादि मुक्ति भी हेय है ।[1]

यह भक्ति ही जीव का परमपुरुषार्थ है किन्तु यह सभी को प्राप्त नहीं हो जाती इसके अधिकारी केवल पुष्टिमार्गीय भक्त ही होते हैं । इस भक्ति के द्वारा ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति सम्भव है ।

आचार्य भक्ति की प्रेम, आसक्ति और व्यसन अवस्थाओं के बाद " सर्वात्मभाव " की स्थिति स्वीकार करते हैं । सर्वात्मभाव साध्यभक्ति

- -

1. सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना: ।। श्रीमद् भा0 3/29/13 श्लो0

की सर्वोच्च अवस्था है । इसकी सिद्धि होने पर भक्त के हृदय में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का नित्य आविर्भाव होता रहता है । यही भक्ति की फलावस्था मानी गयी है । व्यसनात्मिका भक्ति जब अत्यन्त प्रगाढ़ रूप धारण कर लेती है तब उसका यह सान्द्रभाव ही " सर्वात्मभाव " कहलाता है ।[1] अणुभाष्य में आचार्य कहते हैं कि भगवत्स्वरूप की प्राप्ति में विलम्ब सहन करने में असमर्थ होने के कारण अत्यन्त करुणभाव से सर्वत्र ईश्वर की ही अनुभूति "सर्वात्मभाव" है ।[2]

भक्तिमार्ग में ईश्वर ही सर्वाधिक स्नेह के विषय हैं अतः " सर्वात्मभाव, में आत्म शब्द का प्रयोग पुरुषोत्तम के लिए ही किया गया है ।[3] सर्वात्मभाव पद से सदैव पुरुषोत्तम की अनुभूति ही विवक्षित है । सृष्टि में अप्रियत्व की प्रतीति तो मात्र अज्ञानी को ही होती है। भक्तों के लिए सर्वस्व कृष्णमय होने के कारण कृष्ण-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भाव की प्रतीति ही नहीं होती।

- -

1· आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन -
डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० - 326

2· " प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिविप्रलम्भासहिष्णुत्वेनात्यार्त्या स्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या ·······" अणुभा० 3/3/43

3· "आत्मशब्देन पुरुषोत्तम उच्यते भक्तिमार्गे तु निरूपधिस्नेहविषयः स एव यतः," अणु भा० - 3/3/47

सर्वात्मभाव की प्राप्ति जीव को स्वतः नहीं होती अपितु ईश्वर से अनुग्रह से होती है - " यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" भगवान् स्वयं जिसका आत्मीय रूप से वरण करते हैं उसे ही यह प्राप्त होती है ।

इस सर्वात्मभाव की सम्यग् अनुभूति भगवद् विरहदशा में ही होती है किन्तु यह विरहताप भी पुरुषोत्तम का धर्म होने के कारण दुःखात्मक नहीं अपितु आनन्दपूर्ण है । ऐसे सर्वात्मभाव से युक्त भक्त के हृदय में ही पुरुषोत्तम का आविर्भाव होता है, इसी स्थिति को भक्त का भगवद्भाव होना कहते हैं ।

इस प्रकार यह भक्ति ही जीव का सर्वोच्च साध्य है । इसी को देहपात के अनन्तर पुष्टिमार्गीयों का "अलौकिकसामर्थ्य " कहा जाता है । पुष्टिमार्ग में तो यही एकमात्र और सर्वोत्कृष्ट फल है किन्तु यह भक्ति पुष्टि-मार्गीयों को ही प्राप्त होती है अन्य भक्तों तथा ज्ञानियों को मुक्ति प्राप्त होती है ।

आचार्य वल्लभ ने अपने प्रकरण ग्रन्थ " सेवाफलम् " में भक्ति के तीन फलोंका निर्देश किया है - (1) अलौकिक सामर्थ्य (2) सायुज्य और (3) वैकुण्ठ में सेवापयोगी देह । इनमें से प्रथम केवल पुष्टिमार्गीयों को प्राप्त होता है तथा शेष दो मर्यादामार्गीयों को । अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ है भगवान की नित्यलीला में प्रवेश । सायुज्य से अक्षर सायुज्य तथा कृष्ण सायुज्य दोनों

का ग्रहण है । इनमें से अक्षर सायुज्य ज्ञानियों को तथा कृष्ण सायुज्य भक्तों को प्राप्त होता है ।

यद्यपि आचार्य का अभिमत मार्ग भक्तिमार्ग ही है तथापि उन्होंने ज्ञानमार्ग की स्थिति भी स्वीकार की है । ज्ञानियों का उपास्य ब्रह्म का अक्षर रूप है । " परमसत्ता का स्वरूप " अध्याय के अन्तर्गत ब्रह्म के इस रूप का वर्णन किया जा चुका है । यह ब्रह्म का सृष्टीच्छाव्यापृत रूप है तथा ब्रह्म की अपेक्षा अल्प आनन्द वाला होने के कारण " गणितानन्द " कहलाता है । ज्ञानी जन आत्म रूप से इसकी उपासना करते हैं । " ज्ञानादेव तु कैवल्यम् " आदि अनेक श्रुतियाँ ज्ञान के मोक्षसाधकत्व का निर्देश करती हैं । यहाँ आचार्य का मत है कि ये समस्त श्रुतियाँ अक्षरपरक ही हैं । ज्ञानियों के लिए अक्षर प्राप्ति ही परम लक्ष्य है, वे आत्मरूप से अक्षर स्वरूप की उपासना करते हैं, अभ्यास से उनके हृदय में अक्षरब्रह्म का स्फुरण होता है इसे ही जीव का "ब्रह्मभाव" कहते हैं । ब्रह्मभाव को प्राप्त ज्ञानियों की अविद्या नष्ट हो जाती है और उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है । तब आनन्दांश का आविर्भाव हो जाने पर जीव को ब्रह्मरूप की अनुभूति होती है तथा प्रारब्ध कर्मों के क्षय के पश्चात् वे उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं ।[1]

1· ज्ञानिनो हि भगवन्तमात्मत्वेनैवोपासते तस्या नैरन्तर्येणानेक जन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति । तदा स्वानन्दांशस्याप्याविर्भावाद् ब्रह्मभूतः सन्नात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरति इति तदानन्दात्मकः संस्तमनुभवति । एवं स्थितः प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति ।

– अणुभा० 4/1/3

इस प्रकार ज्ञानियों को परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, परब्रह्म की प्राप्ति का अधिकार तो केवल उन भक्तों को है जिनका भगवान स्वयं वरण करते हैं। भक्तिमार्ग में आचार्य जीवों का वरण दो प्रकार से करते हैं - मर्यादाभक्तिमार्ग में और पुष्टिभक्तिमार्ग में। मर्यादामार्ग साधन मार्ग है अत: इसमें भक्ति भी ज्ञानकर्म से युक्त होती है। इसमें भी उपास्य पुरूषोत्तम ही हैं किन्तु मर्यादा भक्तों की भक्ति निर्हेतुक नहीं होती अपितु मोक्षेच्छाविशिष्ट होती है। उनकी भक्ति भगवान में मोचकत्वबुद्धिपूर्वक होती है। लौकिक और वैदिक साधनानुष्ठान तथा भगवद्विषयक श्रवणादि के द्वारा जब मर्यादा भक्तों के हृदय में पुरूषोत्तम के प्रति प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होती है तब ईश्वर, भक्त के हृदय में भगवद्धाम "व्यापि वैकुण्ठ" का आविर्भाव करते हैं और तदनन्तर स्वयं उसमें आविर्भूत होते हैं, इस स्थिति को भक्तों का "कृष्ण सायुज्य" कहते हैं। इस प्रकार ज्ञानियों को "अक्षर सायुज्य" तथा मर्यादाभक्तिमार्गियों को "कृष्ण सायुज्य" की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यातव्य है कि सायुज्यावस्था में जीव ब्रह्म में लीन अवश्य होता है किन्तु उससे अभिन्न नहीं होता। अभिन्न मानने पर तो सिद्धान्त ही बाधित हो जायेगा। वल्लभ भक्तिसमन्वित अद्वैत स्वीकार करते हैं भक्ति किंचिद्द्वैतसापेक्ष होती है क्योंकि द्वैत के अभाव में उपास्योपासक भाव ही सम्भव नहीं होगा। अत: आचार्य जीव और ब्रह्म के मध्य किंचिद् द्वैत की स्थिति सदैव स्वीकार करते हैं।

पुष्टिभक्तिमार्गीयों को किसी भी प्रकार के साधनानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती और न ही किसी प्रकार के फल में उनकी रुचि होती है। उनके लिए तो ईश्वर की निर्हेतुक भक्ति ही काम्य है । इस भक्ति के समक्ष सालोक्यादि मुक्ति भी उनके लिए हेय है । यह भक्ति ही दृढ़ होकर अलौकिक सामर्थ्य में पर्यवसित होती है । यही पुष्टिमार्गीयों का एकमात्र फल है और यह गोलोक में पुरुषोत्तम की नित्यलीला में प्रवेश रूप का है । इस प्रकार सामान्यत: ज्ञानियों का फल अक्षरसायुज्य, मर्यादाभक्तों का कृष्णसायुज्य तथा पुष्टिभक्तों का लीलान्त प्रवेश है किन्तु यदि भगवान की कृपा हो तो ज्ञानियों को कृष्णसायुज्य तथा " मर्यादा भक्तों को लीलाप्रवेश की प्राप्ति भी हो सकती है किन्तु इसमें ईश्वरेच्छा ही एकमात्र नियामिका है अन्यथा यह फलव्यवस्था अनतिक्रमणीय है ।

वल्लभ ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों की मुक्ति भी दो प्रकार से कहते हैं - क्रम मुक्ति और सद्योमुक्ति । पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति होती है किन्तु इनकी सद्योमुक्ति तथा ज्ञानी और मर्यादाभक्तों की सद्योमुक्ति में भी अन्तर है । पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति होने पर उनके वागादि पुरुषोत्तम में लीन हो जाते हैं जबकि ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों के वागादि का लय महाभूतों में होता है ।[1] जिन ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों की सद्योमुक्ति होती है उनके वागादि का लय तो महाभूतों में होता है तथा जिनकी क्रममुक्ति होती

- -

1. अणुभाष्य - 4/2/5

है उनके प्राणादि उनके साथ ही उत्क्रमण करते हैं । मर्यादामार्गीयों की सद्यो-मुक्ति भी द्विविधा होती है । कुछ तो मात्र नुष्ठान के कारण ह्दय में आविर्भूत ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर वहीं मुक्त हो जाते हैं किन्तु साधनादि विरही भक्त ब्रह्माण्ड स्थित दशम द्वार को पार करने के बाद विभिन्न लोकों में संचरण करते हुए प्रारब्ध समाप्ति के बाद मुक्त हो पाते हैं । जिनके प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है उनकी सद्योमुक्ति होती है तथा जिनका प्रारब्ध शेष रहता है उनकी क्रममुक्ति होती है । क्रममुक्ति में जीव का उत्क्रमण ह्दय सम्बन्धी नाड़ियों से होता है । इसका क्रम सामान्यत: इस प्रकार है - पहले अर्चिलोक फिर क्रमश: अह: लोक, सितपक्ष, उदगयन, संवत्सरलोक, वायुलोक, देवलोक, आदित्यलोक चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरूण लोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक में भ्रमण करते हुए तल्लोकसम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हुए जीव को अमानवपुरूष ब्रह्मप्राप्ति करा देता है ।[1] यह आवश्यक नहीं है कि इन समस्त लोकों में सभी को संचरण करना पड़े, जहाँ ही जीव का प्रारब्ध समाप्त हो जाता है वहीं से अमानव पुरूष उसे ब्रह्मप्राप्ति करा देता है । यह ब्रह्मप्राप्ति भी ज्ञानियों व मर्यादा-भक्तों के भेद से द्विविध होती है । भक्तों को वह वैकुण्ठलोक ले जाता है, जहाँ उसे हृदयाकाश में आविर्भूत पुरूषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानियों को अक्षरब्रह्मको प्राप्ति कराता है ।

---

1. आचार्य वल्लभ के शिद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन, डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० - 339

इस प्रकार ज्ञानियों व मर्यादाभक्तों के फलों पर विचार कर लेने के अनन्तर अब पुष्टि भक्तों के फल तथा भोग पर विचार किया जायेगा। आचार्य ने इसका अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । "सर्वान्कामानश्नुते सह ब्रह्मणा " श्रुति पुष्टिमार्गीयों के ब्रह्म के साथ भोग का कथन करती है भगवान की लीला में प्रवेश भगवद्सायुज्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है और इसके अधिकारी ईश्वर के अतिशय कृपापात्र पुष्टिभक्त ही हैं । पुष्टिभक्ति ही जीव का सर्वोच्च साध्य है इसे ही आचार्य ने " निर्गुणभक्तियोग " कहा है । इसकी सर्वोच्च अवस्था सर्वात्मभावरूपा होती है । इस अवस्था में अपने हृदय में तथा बाहर समस्त सृष्टि में एकमात्र भगवान की अनुभूति होती है, किसी अन्य प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता, यही जीव का "भगवद्भाव " कहलाता है किन्तु तब तक भगवान उसके समक्ष अपने लीलाविशिष्ट रूप से प्रकट नहीं होते । भगवद्-विरह से व्याकुल हो अपनी अकिंचनता जानकर जब अत्यन्त दीनभाव से वह उनका शरणागत होता है, तब भगवान उसके समक्ष अपना रूप प्रकटकर दर्शनादि के द्वारा उसके विरहताप को दूर कर आनन्दपूर्ण कर देते हैं ।[1] भगवत्प्राकट्य होने पर जीव की उसी क्षण मुक्ति हो जाती है , प्रारब्ध कर्मों का भोग उसमें बाधक नहीं बनता । पुष्टिभक्तों के प्रारब्ध और संचित कर्मों का क्षय

---

1. तदनन्तरं प्रकटीभूय तदन्यः को प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शालिंगनभाषणादिभिः स्वरूपानन्ददानेनान्यात् पूर्वतापनिवृत्ति पूर्वकमानन्दपूर्णं कुर्यादित्यर्थः ।
- अणुभाष्य 4/2/13

भोग के बिना ही हो जाता है । यह अधिकार केवल पुष्टिभक्तों को ही प्राप्त है । पुष्टिमार्ग भगवत्कृपाश्रयी होने के कारण विधि- निषेध की सीमा से परे है । पुष्टिमार्गीयों के वागादि का लय भी भगवान में होता है, मर्यादामार्गीयों की भाँति महाभूतों में नहीं ।[1] पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति होती है, उनका उत्क्रमण नहीं होता अत: क्रममुक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता " आप्तकाम आत्मकामो भवति. न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति " श्रुति भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है ।

मुक्ति के उपरान्त पुष्टिभक्तों को अलौकिक देहादि की प्राप्ति होती है जिससे उनका दिव्यभोग सम्पन्न होता है और वे लीलारस का अनुभव करते हैं । ये देहादि भगवदभिन्न ही होते हैं इसीलिए श्रुति में "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति " कहा गया है । सायुज्यप्राप्त भक्तों को देहादि की प्राप्ति नहीं होती अत: वे स्वरूपमात्र से भगवदानन्द का अनुभव कर पाते हैं देहेन्द्रिय के अभाव में उन्हें " भजनानन्द " या " लीलारस " का अनुभव नहीं होता अत: पुष्टिभक्त मर्यादाभक्तों से श्रेष्ठ माने जाते हैं । त0दी0नि0 में आचार्य कहते हैं -

- -

1. ब्रह्मसूत्र - 4/2/4

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनेव सुखप्रमा ।

संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ।।

§ त0 दी0 नि0 1/53 §

आचार्य पुष्टिभक्तों को भी द्विविध मानते हैं । एक तो भगवान के अतिशय अनुग्रहभाजन होते हैं उन्हें भगवान में वागादि लय के पश्चात तत्क्षण ही अलौकिक देहादि प्राप्त हो जाते हैं तथा दूसरे वे जो अल्पकृपाश्रयी होते हैं - इनका वागादि लय के अनन्तर " संपद्याविर्भाव " अधिकरण में निर्दिष्ट प्रक्रियानुसारेण पुनः आविर्भाव होता है और फिर भगवदात्मक देहादि की प्राप्ति होने पर भोग सम्पन्न होता है ।

पुष्टिमार्गीयों का आनन्दभोग लीलाप्रवेशरूप होता है । ईश्वर लीला-विशिष्ट ही सिद्ध है । इनकी लीला दिव्य और नित्य है , इस लीला में जीव का प्रवेश ही परममुक्ति है । लीलाप्रवेश के अनन्तर भक्तों का इससे विरह कभी नहीं होता और न ही उनका इस संसार में पुनरावर्तन होता है ।

इस प्रकार आचार्य अक्षर सायुज्य, कृष्ण सायुज्य तथा लीलाप्रवेश ये तीन फल स्वीकार करते हैं, इनमें लीला प्रवेश ही सर्वश्रेष्ठ फल है तथा यही जीव की परममुक्ति है ।

आचार्य ने अक्षर सायुज्य तथा कृष्ण सायुज्य को मोक्ष कहा है किन्तु इस मोक्ष का अर्थ शंकराभिमत जीव और ब्रह्म का ऐक्य नहीं है अपितु वल्लभ को

भी रामानुज की भाँति जीव का प्रकृति और अविद्या के प्रभाव से मुक्त आत्म-स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष के अर्थ रूप में अभीष्ट है । त0दी0नि0 में आचार्य कहते हैं -

विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।

देहेन्द्रियासव: सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि ।। ﴾ 1/37﴿

विद्या के द्वारा अविद्या निवृत्त होने पर अविद्या कार्य "संसार " का नाश हो जाता है । ध्यातव्य है कि आचार्य ने संसार और जगत् की कल्पना पृथक् - पृथक् स्वीकार की है । जगत् भगवत्कार्य है फलत: सत्य है किन्तु संसार अहंताममतात्मक है तथा जीव की अविद्या द्वारा जन्य है अत: विद्या द्वारा इसकी निवृत्ति हो जाती है।इस प्रकार यहाँ मोक्ष का अर्थ है " जीव की अविद्या का नाश " क्योंकि अविद्या के नष्ट हो जाने पर संसार का नाश हो जाता है और जीव मुक्त हो जाता है । इसे ही जीव का "स्वरूपलाभ " भी कहते हैं ।

सायुज्य से आचार्य को अभेद अर्थ स्वीकार नहीं है । सायुज्य में जीव ब्रह्म में लीन तो होता है फिर भी उससे एक नहीं हो जाता क्योंकि वल्लभ भी रामानुज की भाँति भक्तिमार्गीय आचार्य हैं अत: इन्हें भी भक्तिसमन्वित अद्वैत ही अभीष्ट है । फलत: आचार्य वल्लभ भी जीव और ब्रह्म में पूर्णैक्य नहीं स्वीकार करते । ये भी प्रत्येक दशा में जीव की स्थिति को मान्यता प्रदान करते हैं । यहाँ तक कि लीला में प्रवेश करने पर अद्वैत की पूर्ण अभिव्यक्ति होने

पर भी दोनों के मध्य एक सूक्ष्म सा अन्तर बना रहता है । परम मुक्ति दशा में भी जीव ब्रह्म से न्यून ही रहता है । आचार्य प्रत्येक स्थिति में जीवों की भगवन्नियम्यता स्वीकार करते हैं ।[1] भक्त को भगवान की अनुभूति सदैव आराध्य अथवा उपास्य रूप में होती है । भगवान की नित्य लीला में प्रवेश प्राप्त करने के पश्चात भी वह भगवान की आराधना आराध्यरूप से ही करता है ।

दोनों आचार्यों के साध्य सम्बन्धी मतों की तुलनात्मक समीक्षा :

समस्त वैष्णव आचार्य भक्ति के साधन और साध्य दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं । यद्यपि साध्य पक्ष अधिक श्रेष्ठ है तथापि साधनों का अनुष्ठान भी आवश्यक है, क्योंकि साधनानुष्ठान से साधक का चित्त निर्मल होता है तथा साध्य प्राप्ति के उपयुक्त बनता है । अनेकानेक विकारों से मलिन जीव का संस्कार साधनानुष्ठान द्वारा ही संभव है । इस प्रकार साधन भक्ति साध्य भक्ति की पूर्वापेक्षा है ।

दोनों आचार्य वैष्णव चिन्तन के प्रतिनिधि आचार्य हैं । दोनों ने ही भगवान की भक्ति को ही जीव का सर्वोच्च साध्य स्वीकार किया है, भगवद्भक्ति के समक्ष स्वर्ग और अपवर्ग, भी तुच्छ है । रामानुज और वल्लभ के साध्य सम्बन्धी विचारों में जो न्यूनाधिक वैषम्य प्रतीत होता है वह इस प्रकार है -

---

1. ....तेन परममुक्तिदशायामेवाभिव्यक्तार्थापि पुरुषस्य स्वामीभूतस्य भगवतो जीवेषु नियम्यता न विरुध्यते । - अणुभाष्य 2/3/53 पर भा0 पृ0

मोक्ष का स्वरूप :

मोक्ष - स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों में मतसाम्य दृष्टिगोचर होता है । दोनों ने ही मोक्ष को दु:खाभावमात्र न मानकर अतिशय सुखस्वरूप स्वीकार किया है । रामानुज के अनुसार अविद्या और अविद्याजन्य कर्म के प्रभाव से जीव का मुक्त होना मोक्ष है । आचार्य वल्लभ भी जीव की अविद्या का नाश मोक्षरूप से स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार यही जीव का अन्तिम लक्ष्य नहीं है । जीव का परम प्राप्य तो लीलान्त:प्रवेश है जो कि उन्हीं को प्राप्त होता है जिनका स्वयं भगवान पुष्टिमार्ग में वरण करते हैं । इस प्रकार आचार्य वल्लभ ने भक्तों की दो प्रकार की कोटि निर्धारित की - मर्यादा भक्त और पुष्टि भक्त । मर्यादा भक्तों को मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा पुष्टि भक्तों को लीलाप्रवेश की प्राप्ति होती है । वल्लभ के ग्रन्थों में मोक्ष का बहुत स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता है जबकि रामानुज के ग्रन्थों में मोक्ष का अधिक वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य रामानुज के अनुसार जीव मोक्षावस्था में कर्म और अविद्या के प्रभाव से मुक्त होकर ब्रह्म की समता को प्राप्त करता है। ब्रह्म-साम्य का अर्थ यहाँ ब्रह्म की स्वरूपसमता नहीं है अपितु ब्रह्म - गुणों से साम्य है । बन्धन के नष्ट हो जाने पर ब्रह्मसाक्षात्कारानुभव से मुक्त जीव में ब्रह्म के अपहत-पाप्मत्वादि गुण आ जाते हैं तथा वह ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर ब्रह्म की सन्निधि में ब्रह्मानन्द का उपभोग करता रहता है । इस प्रकार रामानुज ने वल्लभ की तरह भक्तों का कोई विभाजन नहीं किया । इतना अवश्य है कि रामानुज के

मत में भक्ति का अधिकार त्रैवर्णिक शासन सम्पन्न जीवों के लिए ही है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाज का अधिकांश वर्ग भगवदानन्द से वंचित रह जाता है, उनके लिए उन्होंने प्रपत्ति का मार्ग प्रशस्त किया है । इस मार्ग में किसी प्रकार का जाति, वर्ण, लिंगादि का बन्धन नहीं है, जो ही अपनी अकिंचनता का अनुभव कर स्वयं को भगवान की शरण में छोड़ देता है उसे ही भगवान स्वीकार कर मोक्ष प्रदान करते हैं । रामानुज के प्रपत्ति मार्ग की तरह ही वल्लभ का पुष्टिमार्ग है । इसमें भी प्रपत्ति की तरह किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है । दोनों में वैषम्य मात्र इतना है कि रामानुज के प्रपत्ति मार्ग में जीव को स्वयं भगवान की शरण में जाना पड़ता है तब भगवान उसे अंगीकार करते हैं जबकि पुष्टिभक्तों को स्वयं ही भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है, भगवदनुग्रह के लिए उन्हें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता ।

<u>जीवन्मुक्ति की कल्पना :</u>

समस्त वैष्णवाचार्यों ने " विदेह मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति स्वीकार किया है । आचार्य रामानुज ने अपने ग्रन्थों में विशेषतः श्रीभाष्य में जीवन्मुक्ति की कल्पना का खण्डन किया है । उनके अनुसार शरीर -संयोग बन्धन का कारण है - अतः शरीर के रहते मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती । मुक्ति तो देहपात के अनन्तर ही होती है ।

वल्लभाचार्य ने अपने अणुभाष्य में क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति का विवेचन तो विस्तार से किया है किन्तु जीवन्मुक्ति के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा ।

त०दी०नि० में जरूर उसका उल्लेखमात्र किया है वह भी मायावाद के निराकरण के प्रसंग में । रामानुज ने क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति जैसा कोई विभाजन नहीं किया है । यद्यपि मोक्ष के अवस्था भेद रूप से उन्होंने सालोक्यादि मुक्तियों की चर्चा अवश्य की है किन्तु मोक्ष से उनका अभिप्राय सायुज्य रूप से ही है । वल्लभाचार्य ने सामीप्यादि मुक्तियों का उल्लेखमात्र किया है, उसकी चर्चा विस्तार से कहीं नहीं की है । उनके मत में तो कृष्ण की अहैतुकी भक्ति ही जीव का सर्वोच्च लक्ष्य है। यह प्रेम, आसक्ति और व्यसन अवस्थाओं को प्राप्त होती हुई सर्वात्मभाव की स्थिति को प्राप्त होती है । सर्वात्मभावापन्न भक्ति ही साध्य भक्ति है, यही निर्गुणभक्तियोग है, इसी को प्रेमा भक्ति भी कहते हैं । इस स्थिति में समस्त पदार्थों में जीव की भगवदीय् बुद्धि हो जाती है, सर्वत्र उसे भगवदनुभूति ही होती है । वह भगवान की लीला में प्रवेश कर उनके आनन्द का उपभोग करता है, इस आनन्द के समक्ष प्रत्येक सुख तुच्छ है ।

आचार्य रामानुज भी भक्ति से प्राप्त आनन्द को सर्वोच्च मानते हैं तथा उनके लिए भी इस सुख के समक्ष सर्वस्व तुच्छ तथा हेय है किन्तु रामानुज ने लीलाप्रवेश की बात नहीं की है । उनके मत में भगवान की सन्निधि में रहकर उनके आनन्द का उपभोग करना तथा भगवान की सेवा में निरन्तर लगे रहना ही जीव के लिए सबसेअधिक आह्लादक है । इस आनन्द के समक्ष वह समस्त सुखों को त्याज्य समझता है ।

आचार्य रामानुज प्रत्येक जीव का उत्क्रमण मानते हैं, उनके अनुसार हृदय से संश्लिष्ट एक सौ एक नाडियों में से मूर्धा की ओर जाने वाली नाड़ी से जीव का उत्क्रमण होता है और वह विभिन्न लोकों में होता हुआ वैकुण्ठ लोक में पहुँचता है। जबकि वल्लभ ने मुक्तिके "क्रम मुक्ति " और सद्योमुक्ति " - ये दो प्रकार के बतायें हैं। जिनका प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाता है उनकी सद्योमुक्ति तथा जिनका प्रारब्ध शेष रहता है उनकी क्रममुक्ति होती है। जीव का उत्क्रमण तो वे भी स्वीकार करते हैं किन्तु केवल क्रममुक्ति में। सद्योमुक्ति में वे उत्क्रमण नहीं मानते अपितु उनके अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्तों की सद्योमुक्ति होती है, उन्हें प्रारब्ध भोग के सम्पन्न करने तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती अतः उनकी मुक्ति तुरन्त हो जाती है, उन्हें विभिन्न लोकों में संचरण नहीं करना पड़ता। वल्लभ मर्यादामार्गीयों की भी सद्योमुक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु मर्यादामार्गीयों की सद्योमुक्ति तथा पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति में भी अन्तर है। मर्यादामार्गीयों की सद्योमुक्ति होने पर उनके वागादि का लय महाभूतों में होता है जबकि पुष्टिमार्गीय की सद्योमुक्ति होने पर उनके वागादि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में लीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य मर्यादामार्गीयों की सद्योमुक्ति भी द्विविधा स्वीकार करते हैं। जो साधनानुष्ठान के द्वारा हृदय में आविर्भूत ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं उनके वागादिका लय उसी समय महाभूतों में हो जाता है किन्तु जो अल्प साधन वाले भक्त हैं उनके वागादि का उनके साथ उत्क्रमण होता है।

सत्यादि लोकों में संचरण करते हुए जहाँ उनका प्रारब्ध समाप्त हो जाता है वहीं उनकी मुक्ति हो जाती है तथा उनके वागादि का लय महाभूतों में हो जाता है । इसके अतिरिक्त वल्लभ विभिन्न लोकों में जीव का तत्तल्लोकसम्बन्धी भोग भी स्वीकार करते हैं ॥

रामानुज का मत इनके विपरीत है । विभिन्न लोकों में जीव का संचरण तो उन्हें भी अभीष्ट है किन्तु वे क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति जैसा कोई विभाजन नहीं करते हैं । रामानुज एक ही प्रकार की मुक्ति समस्त मुक्त जीवों के लिए स्वीकार करते हैं । उनके मत में प्रारब्ध भोग प्रत्येक जीव के लिए अनिवार्य है । प्रारब्ध भोग के अनन्तर ही उसे " परमपद " की प्राप्ति होती है । रामानुज विभिन्न लोकों में जीव के किसी भी प्रकार के भोग को मान्यता नहीं देते । वस्तुतः तो उनके मत में यह विभिन्न लोक नहीं है अपितु परम पद तक पहुँचने के मार्ग की विभिन्न स्थितियाँ हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह परम पद की प्राप्ति हेतु विभिन्न मार्ग चिन्हस्वरूप हैं जो क्रमशः आगे-आगे का मार्ग मुक्तात्मा के लिए प्रशस्त करते हैं ।

निष्कर्ष :

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रामानुज और वल्लभ दोनों आचार्यों ने भगवत्सायुज्य की प्राप्ति को ही जीव का सर्वोच्च साध्य स्वीकार किया है । इनके अनुसार मोक्ष दुःखाभावमात्र नहीं है अपितु अतिशय सुखस्वरूप है । दोनों आचार्यों ने जीव-ब्रह्मैक्य को मोक्ष न मानकर जीव का

अविद्या और तज्जन्य कर्म के प्रभाव से मुक्त होना मोक्ष रूप से स्वीकार किया है ।

आचार्य रामानुज कहते हैं कि जीव का ब्रह्मगुणों की समता प्राप्त करना मोक्ष है । मोक्षावस्था में जीव में जगत्सृष्टि और विभु परिमाण को छोड़कर ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि समस्त गुण आ जाते हैं ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार जीव का सर्वोच्च साध्य जीव का भगवल्लीला में प्रवेश है किन्तु यह सभी को प्राप्त नहीं हो जाता, इसकी प्राप्ति केवल उन्हीं को होती है जिनका ईश्वर स्वयं वरण करते हैं । आचार्य के अनुसार साध्य भक्ति प्रेमलक्षणा है । आचार्य के अनुसार यह भक्ति प्रेम,आसक्ति और व्यसन दशा को प्राप्त होती हुई सर्वात्मभाव दशा में पर्यवसित होती है । सर्वात्मभावापन्न भक्ति ही सर्वोच्च स्थिति है , यही निर्गुण भक्तियोग है । सर्वात्मभाव की सम्यगनुभूति भगवद्विरहदशा में ही होती है । यह विरह ताप भी भगवद्धर्म होने के कारण सुखात्मक ही है । सर्वात्मभाव से युक्त भक्त-हृदय में भगवान का आविर्भाव होता है, इसी स्थिति को जीव का भगवद्भाव होना कहते हैं । देहपात के अनन्तर इसी अवस्था को पुष्टिमार्गीयों का अलौकिक सामर्थ्य कहा जाता है यही सर्वोत्कृष्ट फल है किन्तु इसकी प्राप्ति केवल पुष्टिमार्गीयों को होती है।

ज्ञानियों को अक्षर सायुज्य तथा मर्यादा भक्तों को कृष्ण सायुज्य की प्राप्ति होती है । इस प्रकार वल्लभ ने साधकों की योग्यतानुसार इन फलों का विभाजन किया है ।

रामानुज ने भी भक्तों के अनुसार सामीप्यादि मुक्तियों की चर्चा की है किन्तु उनका अभिनिवेश सायुज्य रूप में ही है ।

आचार्य रामानुज ने शंकर को स्वीकृत जीवन्मुक्ति का अत्यन्त विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है । उनके अनुसार जीव का शरीर-संयोग ही बन्धन का मूल कारण है अतः शरीर रहते मुक्ति की सम्भावना ही नहीं है । शंकर को स्वीकृत जीवन्मुक्ति दशा को उन्होंने " स्थितप्रज्ञता " की संज्ञा दी है । रामानुज ही नहीं समस्त वैष्णवाचार्य विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं अतः वल्लभ भी शरीरपात के अनन्तर ही मुक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु जीवन्मुक्ति के खण्डन के प्रति वे उदासीन से दिखाई देते हैं ।

रामानुज और वल्लभ में सबसे बड़ा वैषम्य है प्रारब्ध भोग के सम्बन्ध में रामानुज प्रारब्ध भोग को प्रत्येक जीव के लिए अनिवार्य मानते हैं जबकि वल्लभ के अनुसार पुष्टि प्रारब्ध का भी क्षय करने में समर्थ है, पुष्टिमार्गीयों को प्रारब्ध भोग नहीं करना पड़ता, उनकी सद्योमुक्ति हो जाती है । इस प्रकार वल्लभ भक्तों की क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति - ये दो प्रकार की मुक्तियाँ मानते हैं । क्रममुक्ति मर्यादामार्गीयों की होती है और उन्हें विभिन्न लोकों में संचरण करना पड़ता है । जबकि पुष्टि भक्तों का संचरण नहीं करना पड़ता, उनकी सद्योमुक्ति हो जाती है । रामानुज क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति जैसा कोई विभाजन नहीं करते, उनके मत में प्रत्येक जीव विभिन्न लोकों में संचरण करता हुआ प्रारब्ध क्षय

के अनन्तर भगवान के परम धाम बैकुण्ठ में पहुँचकर भगवान की सन्निधि प्राप्त कर उनके आनन्द का उपभोग करता रहता है ।

दोनों आचार्यों में सबसे बड़ा व प्रमुख साम्य यह है कि दोनों आचार्य अखण्ड अद्वैतदशा में भी जीव का अस्तित्व सुरक्षित रखते हैं । रामानुज के अनुसार उस स्थिति में जीव ब्रह्म के " प्रकार " रूप से रहता हुआ " प्रकारी " की सेवापूर्वक उसके आनन्द का उपभोग करता है, इसी प्रकार आचार्य वल्लभ के अनुसार भी परम अद्वैत की स्थिति में भी जीव की अंश रूप से सत्ता बनी रहती है और वह दास्यभाव से भगवदाराधन करता हुआ आनन्दोपभोग करता है । उस स्थिति में भी दोनों ही आचार्यों को जीव ब्रह्मैक्य भाव अभिप्रेत नहीं है । जीव को " अहं ब्रह्मास्मि " की अनुभूति नहीं होती अपितु " दासोऽहम " की अनुभूति होती है ।

इस प्रकार दोनों आचार्य भक्ति को ही जीव का परम साध्य स्वीकार करते हैं, भक्ति प्राप्त होने पर भगवान की प्राप्ति तो स्वयमेव हो जाती है । भगवान तो स्वयं भक्त के वशगत होते हैं - अहं भक्त पराधीनः ।

नवम अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत मतों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की गयी है ।

विशिष्टाद्वैत मत को स्पष्ट रूपाकार प्रदान करने वाले आचार्य रामानुज तथा शुद्धाद्वैत मत का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत करने वाले आचार्य वल्लभ के विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन ही इसमें प्रमुख विवेच्य विषय रहा है । ये दोनों ही आचार्य वैष्णव चिन्तन धारा के प्रमुख आचार्य हैं ।

वैष्णव दर्शन की सर्वप्रमुख विशेषता है ब्रह्म का सविशेषत्व, प्रपंच की सत्यता और भक्ति की सर्वप्रमुखता । अतएव वैष्णव चिन्तन धारा के प्रतिनिधि आचार्य होने के कारण दोनों ही आचार्यों के मतों में यह वैशिष्ट्य विद्यमान है ।

श्रुतियों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का वर्णन प्राप्त होता है, इन्हीं के आधार पर समस्त दार्शनिकों ने अपने-अपने मतों का प्रवर्तन किया है।

आचार्य शंकर उनमें से निर्गुण श्रुतियों को ब्रह्मस्वरूप की प्रतिपादिका बताते हुए ब्रह्म के निर्गुण, निर्विशेषरूप का प्रतिपादन करते हैं । उनके अनुसार निर्गुण श्रुतियाँ वस्तुपरक हैं तथा ये परब्रह्म की साक्षात्प्रतिपादिका हैं, सगुण श्रुतियाँ उपासनापरक हैं और ये अपरब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं जो कि परब्रह्म की ही मायिक अभिव्यक्ति है । इस प्रकार आचार्य शंकर निर्गुण श्रुतियों को श्रेष्ठ तथा सगुण श्रुतियों को गौण या यह कहा जाय कि अर्थवादमात्र मानते हैं । शंकर ब्रह्म और ईश्वर में भी भेद करते हैं । उनके अनुसार ईश्वर ब्रह्म का मायोपहित रूप है ।

समस्त वैष्णवाचार्यों ने आचार्य शंकर के मत का खण्डन किया है । आचार्य रामानुज कहते हैं कि निर्गुण और सगुण श्रुतियों का ब्रह्म के विषय में समान प्रामाण्य है । ब्रह्म अनेक दिव्य और कल्याणकर गुणों के आगार हैं । निर्गुण श्रुतियाँ उनमें प्राकृत गुणों का निषेध करती हैं अत: उन्हें निर्गुण कहने का अभिप्राय मात्र यही है कि वे लौकिक गुणों से रहित है । अत: आचार्य रामानुज शंकर की तरह श्रुतियों में मुख्य और गौण जैसा विभाजन न करके दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का ब्रह्म-स्वरूप के विषय में समान प्रामाण्य स्वीकार करते हैं । आचार्य रामानुज ने शंकर के निर्विशेषवाद का प्रत्याख्यान अत्यन्त विस्तार से किया है । उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु गुणविशिष्ट ही होती है । निर्विशेष वस्तु की सिद्धि किसी प्रमाण द्वारा न हो सकने के कारण परमसत्ता सविशेष ही सिद्ध होती है ।

रामानुज तीन तत्त्व मानते हैं - चित् अचित् और ईश्वर । चित् तत्त्व जीवात्मा है, यह देहादि से विलक्षण स्वयंप्रकाश नित्य और अणु है । ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु अचित् कहलाती है । ईश्वर समस्त दिव्य गुणों के आगार तथा चिदचिद् के आश्रयस्वरूप हैं । चित्,अचित् ईश्वर के विशेषण या प्रकारभूत हैं । जिस प्रकार विशेषण की अपने विशेष्य से पृथक् सत्ता नहीं होती उसी प्रकार चिदचिद् की भी अपने विशेष्यईश्वर से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । इस प्रकार चिदचिद् से विशिष्ट "ईश्वर " की एकमात्र सत्ता मानने के कारण रामानुज का मतवाद "विशिष्टाद्वैतवाद" कहलाता है ।

आचार्य चिदचिद को ईश्वर का नित्यसहवर्ती विशेषण स्वीकार करते हैं। प्रलय दशा में ये चिदचिद ईश्वर में नामरूपविभागरहित सूक्ष्मदशा में अवस्थित रहते हैं तथा सृष्टिकाल में यही स्थूलरूप में व्यक्त होकर नामरूप के भेद से युक्त हो जाते हैं।

आचार्य चिदचिद को ईश्वर का "शरीर" मानते हैं किन्तु शरीर मानने पर भी शरीरी ईश्वर शरीरगत दोषों से असम्पृक्त ही रहता है। ईश्वर का शरीर होने के कारण चिदचिद ईश्वर द्वारा "धार्य" अतएव ईश्वर का "शेष" है और फलतः ईश्वराधीन है। आचार्य चिदचिद और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या अंशांशिभाव, प्रकारप्रकारिभाव, शरीरशरीरि भाव, विशेषणविशेष्यभाव, शेषशेषिभाव द्वारा करते है। ब्रह्म का अंश, प्रकार, शरीर, विशेषण और शेष होने के कारण चिदचित् को भी आचार्य सत्य स्वीकार करते हैं।

चिदचित् ईश्वराधीन हैं अतः ये ईश्वर से अपृथक् हैं, तथापि ये परस्पर भिन्न भी हैं, अतएव आचार्य चिदचिद् युक्त ईश्वर में "स्वगत भेद" मानते हैं।

आचार्य शंकर माया को ब्रह्म की उपाधि स्वीकार करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर उनका सम्पूर्ण सिद्धान्त ही माया पर आधारित है किन्तु स्वयं माया का अस्तित्व उनके मत में विचित्र सा है, वे माया को न सत् मानते हैं और न ही असत्। माया को वे सदसत् से विलक्षण अतएव "अनिर्वचनीया" कहते हैं, किन्तु रामानुज को शंकर का माया - सिद्धान्त मान्य नहीं है। रामानुज के अनुसार कोई वस्तु या तो सत् हो सकती है या असत्, इन दोनों से विलक्षण किसी वस्तु का

अनुभव सम्भव ही नहीं है । वे माया को ईश्वर की शक्ति मानते है, शक्ति और शक्तिमान में अभेद सम्बन्ध होता है, फलत: ब्रह्मशक्ति होने के कारण माया भी सत्य है ।

रामानुजाचार्य ने आचार्य शंकर के मायावाद का अत्यन्त विस्तार व तर्कपूर्ण खण्डन किया है, इसके खण्डन में आचार्य ने सात अनुपपत्तियाँ प्रस्तुत की है जिन्हें सप्तविधानुपपत्ति कहते हैं, ये इस प्रकार है - आश्रयानुपपत्ति ,तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति और निवृत्यनुपपत्ति ।

आचार्य रामानुज बन्धन का कारण अविद्या और तज्जन्य कर्म को मानते हैं । अविद्या के कारण जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न तथा प्रकृति से अभिन्न समझने लगता है और फलत: अनेक कर्मों को करता हुआ भवचक्र में आवर्तित होकर नाना दु:खों का भागी बनता है । इस भवचक्र से मुक्ति भक्ति द्वारा ही प्राप्त होती है । आचार्य को अभिमत भक्ति ज्ञान और कर्म से सहकृत है "भक्ति ज्ञानकर्मानुगृहीतं" रामानुज ने स्मरण, ध्यान, उपासना, और वेदन को भक्ति का पर्याय माना है । इन्होंने भक्ति के सात साधनों का भी विधान किया है । जो इस प्रकार है - विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष किन्तु इस भक्ति का विधान आचार्य के अनुसार केवल त्रैवर्णिक व्यक्तियों हेतु ही है । जो साधनसम्पन्न नहीं है अथवा जिन्हें वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड का अधिकार नहीं है, ऐसे

द्विजेतर प्राणियों हेतु उन्होंने प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की है । अपनी अकिंचनता का अनुभव कर अत्यन्त दीनभाव से भगवान की शरण में चले आना 'प्रपत्ति' अथवा 'शरणागति' है । प्रपत्ति मार्ग, लिंग और जाति के बन्धन से रहित है । किसी भी वर्ण और जाति का व्यक्ति इसका अधिकारी हो सकता है ।

शरणागति से भगवत्कृपा प्राप्त होती है तथा भगवत्कृपा से स्वयं भगवान की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार एकबार ईश्वर की शरण ग्रहण कर लेने के बाद जीव के लिए किसी पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती, उसके उद्धार का पूर्ण दायित्व भगवान पर रहता है ।

आचार्य ने शरणागति के छः अंग स्वीकार किये है - ईश्वर के अनुकूल व्यवहार का संकल्प, प्रतिकूल व्यवहार का वर्जन, " प्रभु रक्षा करेंगे "- यह विश्वास रक्षक रूप में वरण, दीनता और आत्मनिवेदन ।

परवर्तीकाल में इस प्रपत्तिमार्ग के अनुयायियों में दो मत हो गये - एक तिंगले-मत और दूसरा वडगले मत । तिंगले मत के मुख्य आचार्य लोकाचार्य हैं ये प्रपत्ति में जीव पुरुषार्थ की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते । ये अपने मत की पुष्टि "मार्जार-किशोरन्याय" से करते हैं तथा वडगले मत के प्रमुख आचार्य वेदान्तदेशिक हैं, ये प्रपत्ति में जीव पुरुषार्थ को अनिवार्य मानते हैं तथा अपने मत का समर्थन" मर्कटकिशोरन्याय" से करते हैं ।

आचार्य रामानुज शंकराचार्य की तरह मोक्ष दशा में ब्रह्म और जीव का ऐक्य स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार जीव का "ब्रह्मभाव" को प्राप्त करना ही मोक्ष है , इसे ही भगवदसायुज्य भी कहते हैं । आचार्य ने सालोक्य, सामीप्य, सारूप्यादि मुक्तियों की भी चर्चा की है किन्तु सायुज्य मुक्ति ही उन्हें मोक्षरूप से अभीष्ट है । आचार्य कहते हैं कि मोक्षदशा में जीव, जगत्सृष्टि तथा ईश्वर का महत् परिमाण, इन दो गुणों के अतिरिक्त ब्रह्म के समस्त गुणों से समता प्राप्त कर लेता है । आचार्य रामानुज ने शंकराभिमत जीवन्मुक्ति का खण्डन अत्यन्त विस्तार से किया है । उनके अनुसार जीव का शरीर-संयोग ही बन्धन है अतः शरीर के रहते तो मुक्ति संभव ही नहीं है । मोक्षप्राप्ति देहपात के अनन्तर ही होती है। जीव आदित्यादि लोकों में संचरण करता हुआ वैकुण्ठ लोक पहुँचता है तथा ईश्वर के असीम आनन्द का उपभोग करता है । सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह , कि वह ईश्वर के शरीररूप से स्थित रहता हुआ भगवत्सेवा पूर्वक उसके आनन्द का उपभोग करता है । अद्वैत की चरम स्थिति में भी आचार्य उतने द्वैत को स्वीकृति प्रदान करते हैं जितना कि भक्ति के लिए अपेक्षित है । भक्ति में किंचिद् द्वैत बना ही रहता है, पूर्णाद्वैत की स्थिति में तो उपास्योपासक भाव ही संभव न होगा अतः आचार्य रामानुज जीव की ब्रह्म-शरीर रूप से स्थिति प्रत्येक दशा में स्वीकार करते हैं ।

रामानुजाचार्य की तरह आचार्य वल्लभ भी भक्तिमार्गीय आचार्य हैं अतः वे भी ब्रह्म के सविशेष रूप का ही प्रतिपादन करते हैं । उनके अनुसार भी उसे निर्गुण इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह समस्त प्राकृत गुणों से रहित है। सगुण

श्रुतियाँ उसमें दिव्य व कल्याणकर गुणों का अवबोध कराती हैं। इस प्रकार सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की श्रुतियों का ब्रह्म के विषय में समान प्रामाण्य है।

आचार्य शंकर के अनुसार सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है किन्तु आचार्य वल्लभ के अनुसार ये ब्रह्म का स्वरूप नहीं अपितु ये उसके गुण हैं। इन्हीं गुणों के आविर्भाव -तिरोभाव द्वारा वह जगत् की सृष्टि करता है। आचार्य वल्लभ ने भी शांकर मायावाद का खण्डन करते हुए उसे "प्रतारणाशास्त्र" कहा है।

शुद्धाद्वैत मत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व। ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, वह अणु से भी अणु और महान् से भी महान है। आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप इतना विराट् है कि उसमें समस्त विरुद्ध धर्मों के लिए अवकाश है - "विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् " {त०दी०नि० 1/73}

ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण में यद्यपि रामानुजाचार्य ने भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण , अणु से अणु तथा महान से महान्, कूटस्थ,और गतिमान् इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त माना है, तथापि उन्होंने ब्रह्म के लिए "विरुद्धधर्माश्रयी" संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं किया है। ब्रह्म को यह संज्ञा प्रदान की आचार्य वल्लभ ने तथा प्रतिपक्षियों द्वारा की जाने वाली समस्त अनुपपत्तियों का ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रयी बताकर निराकरण कर दिया।

आचार्य वल्लभ भी रामानुज की तरह जीव और जगत् को सत्य स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीव और जगत् ब्रह्म से आविर्भूत होने के कारण ब्रह्मवत् ही सत्य है। "एकोऽहंबहुस्याम् " इस प्रकार की इच्छा होने पर अक्षर ब्रह्म ही

आनन्दांश का तिरोभाव करके सच्चित् प्रधान जीव रूप में आविर्भूत होता है तथा वही चित् और आनन्दांश का तिरोभाव करके सदंश से जगद्रूप में आविर्भूत होता है।

जीव और जगद्रूप से परिणमित होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई विकार नहीं आता उसी प्रकार जीवजगदादि विभिन्न रूपों में परिणमित होने पर भी ब्रह्म-स्वरूप अविकारी ही रहता है।उसमें विकार तो तब आता, जबकि वह परिच्छिन्न होता, वह सृष्टि से परिच्छिन्न नहीं अपितु सृष्टि उससे परिच्छिन्न है, सृष्टि उसकी आंशिक अभिव्यक्तिमात्र है, अतः सम्पूर्ण सृष्टि में अनुस्यूत होकर भी वह सृष्टि से अतीत और अपरिच्छिन्न है ।

जीव ब्रह्म का सच्चित् प्रधान रूप है । ब्रह्म का अंश होने के कारण वह भी सत्य है । आचार्य जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशिभाव सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । अंशांशिभाव सम्बन्ध आचार्य की जीव सम्बन्धी धारणा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण व आकर्षक सिद्धान्त है । जीव अंश होने के कारण अपने अंशी से तत्त्वतः अभिन्न है । रामानुज की तरह वल्लभ का भी जीव की वैयक्तिक सत्ता के प्रति आग्रह स्पष्ट है क्योंकि ये भी भक्तिमार्गीय आचार्य है और भक्ति किंचित् द्वैतसापेक्ष होती है। आचार्य के अंशांशिभाव सिद्धान्त में यह द्वैत सुरक्षित है । जीव ब्रह्म से न्यून है तथा यह न्यूनता अखण्ड अद्वयता की स्थिति में भी बनी रहती है। मोक्षदशा में भी जीव की भगवन्निम्यमयता अक्षुण्ण रहती है । मोक्षदशा में अभिव्यक्त होने वाले आनन्दादि धर्म भगवद्धर्मों से न्यून ही रहते हैं । जीव ब्रह्म से अभिन्न अद्वय है किन्तु किसी भी निश्चय अथवा

क्रिया में वह स्वाधीन नहीं है, उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व सब भगवदधीन ही है ।

आचार्य के सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जगत् और संसार में भेद । आचार्य शंकर व रामानुज जगत् और संसार को समानार्थक स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत् और संसार भिन्न-भिन्न हैं । जगत् भगवत्कार्य है, फलतः सत्य है किन्तु संसार जीव की अविद्या से जन्य है, फलतः असत्य है । अविद्या के कारण जीव की जागतिक पदार्थों में जो "अहन्ता ममतात्मक बुद्धि" है, वही संसार कहलाती है । इस प्रकार संसार विषयासक्तिरूप है । यही जीव के बन्धन का कारण है, इसी के कारण वह जन्ममृत्युचक्र में फँसकर अनेक दुःखों का भागी बनता है ।

बन्धन से निवृत्ति का एकमात्र उपाय भक्ति है । आचार्य भक्ति शब्द से साधन भक्ति और साध्य भक्ति दोनों का ग्रहण करते हैं । साधन भक्ति को इन्होंने मर्यादाभक्ति की संज्ञा दी है तथा साध्य भक्ति को पुष्टि भक्ति की । मर्यादा भक्ति में उन्होंने ज्ञान और कर्म की महत्ता भी स्वीकार की है तथा श्रवणादि नवधा भक्ति का भी विधान किया है । पुष्टि भक्ति समस्त साधनों से निरपेक्ष, समस्त बन्धनों से अतीत है ।

आचार्य की भक्ति का आधार श्रीमद्भागवत है। पुष्टि का अर्थ है अनुग्रह, भागवत का "पोषणं तदनुग्रहः" वाक्य ही पुष्टि सिद्धान्त का आधार है । आचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति प्रेमलक्षणा है। भागवत में जिस निर्गुण भक्तियोग का वर्णन प्राप्त होता है, आचार्य को अभीष्ट साध्य भक्ति का वही स्वरूप है । आचार्य

शंकर भी निर्गुण भक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी भक्ति ज्ञानमिश्रा है, वह निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है । इस प्रकार शंकर को अभिमत निर्गुण भक्ति साधनमात्र है, जबकि आचार्य वल्लभ ने जिस निर्गुणभक्तियोग का वर्णन किया है वह साधन नहीं अपितु साध्यस्वरूप है, वह निर्गुण रूपात्मक ज्ञान से शून्य अतिशय अनुराग से ओत-प्रोत तथा "शुद्धा" और " स्वतन्त्रता" संज्ञाओं से अभिहित है । प्राकृत गुणों से रहित अतएव निर्गुण ब्रह्म को विषय बनाने के कारण तथा निराकांक्ष होने के कारण यह 'निर्गुणा' भक्ति कहलाती है । यह भक्ति उन्हें ही प्राप्त होती है जिनका स्वयं भगवान वरण करते हैं अथवा जिन्हें भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है ।

वल्लभ को स्वीकृत भक्ति सेवारूप है, मानसी सेवा को ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ भक्ति कहा है । यही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है । मर्यादा भक्ति से अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति होती है जो कि परब्रह्म का ही एक विशिष्ट रूप है। परब्रह्म की प्राप्ति इसी निर्गुणा भक्ति अथवा पुष्टिभक्ति द्वारा होती है ।

यह भक्ति ही आचार्य-मत में जीव का सर्वोच्च साध्य है । आचार्य ने श्रीकृष्ण की अहेतुकी भक्ति के अतिरिक्त अधिकारी भेद के आधार पर कुछ अन्य फल भी बताये हैं - अक्षर सायुज्य, कृष्ण सायुज्य और वैकुण्ठ में सेवोपयोगी देह । ये तीनों ही फल मर्यादामार्गियों को प्राप्त होते हैं । पुष्टिमार्गीय को लीलाप्रवेश की प्राप्ति होती है, इसे ही अलौकिक सामर्थ्य भी कहा जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर आचार्य रामानुज तथा वल्लभ के दर्शन की जो प्रमुख विशेषताएं स्पष्ट होती हैं वे हैं - ब्रह्म का सविशेषत्व, सृष्टि

की सत्यता, जीव और ब्रह्म का अंशांशिसम्बन्ध अतएव ब्रह्म- जीव में पूर्णैक्य का अभाव तथा भक्ति की सर्वातिशायिता ।

आचार्य रामानुज और वल्लभ दोनों ही ब्रह्म के सविशेष रूप का प्रतिपादन करते हैं, ब्रह्म समस्त दिव्य गुणों का आश्रय है, ब्रह्म के निर्गुणत्व का अर्थ केवल ब्रह्म को प्राकृत गुणों से शून्य बताना ही है । ब्रह्म के सविशेषत्व के प्रतिपादन के कारण ही इनकी दृष्टि में शंकर से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । ब्रह्म को परमार्थतः सविशेष और सधर्मक स्वीकार करने के कारण इन दोनों आचार्यों के मत में शंकर को मान्य पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर स्वीकृत पर और अपर अथवा शुद्ध और शबल ब्रह्म जैसा कोई विभाजन नहीं है । उनके मत में ब्रह्म एक ही है तथा वह सविशेष अर्थात् दिव्यगुण-धर्म और दिव्यशक्तियों से सम्पन्न है।

इस प्रकार ब्रह्म के सविशेषत्व के सन्दर्भ में रामानुज और वल्लभ की मान्यताएं एक सी ही हैं ।

ब्रह्म को सविशेष स्वीकार करने पर माया की स्थिति भी शंकराभिमत माया से पर्याप्त भिन्न हो जाती है। आचार्य रामानुज और वल्लभ शंकर की तरह माया को ब्रह्म की उपाधि स्वीकार न कर, उसकी शक्ति मानते हैं । शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने के कारण ये दोनों ही माया को ब्रह्मवत् सत्य तथा ब्रह्माधीन मानते हैं । सत् ब्रह्म से असत् माया का सम्बन्ध सर्वथा अकल्पनीय है । सत् ब्रह्म से असत् माया के सम्बन्ध की समस्या आचार्य शंकर के समक्ष भी थी अतः उन्होंने एक ही सत्य की दो श्रेणियाँ निर्धारित कीं - व्यवहार और परमार्थ और इस प्रकार

सम्पूर्ण सृष्टि और सृष्टिकर्ता को व्यावहारिक रूप देकर वे पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को बनाये रखने में समर्थ हो सके ।

किन्तु आचार्य रामानुज तथा वल्लभ शंकर के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं । आचार्य रामानुज ने शंकर के मायासिद्धान्त का खण्डन अत्यन्त विस्तार से किया है । आचार्य वल्लभ को भी शंकर का मायावाद स्वीकार नहीं है किन्तु उन्होंने इसका खण्डन कहीं सुनियोजित रूप से नहीं किया है । सम्भवतः इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्य रामानुज के खण्डन को ही प्रामाणिक स्वीकार कर पुनः उसके खण्डन - खण्डन का कोई प्रयास नहीं किया है । वैसे भी आचार्य वल्लभ की प्रवृत्ति परमत खण्डन की अपेक्षा स्वमत स्थापना की ही अधिक है ।

इस प्रकार आचार्य रामानुज और वल्लभ माया को ब्रह्म की शक्तिरूप से सत्य स्वीकार करते हैं । शंकर के अनुसार माया का अर्थ "दृष्टनष्टस्वरूपत्व " है, रामानुज के अनुसार यह ईश्वर की "कार्यकरणात्मिका " शक्ति है । और वल्लभ के अनुसार ईश्वर की "सर्वभवनसामर्थ्य " है ।

परमसत्ता को सविशेष स्वीकार करने पर उसके कर्तृत्व को मायिक अथवा आरोपित समझना सर्वथा असंगत है । कर्तृत्व तो ब्रह्म का स्वभाव है । ब्रह्म ही समस्त प्रपंच का कर्ता है, वही इसका नियन्ता और संहारक भी है । इस प्रकार प्रपंच के ब्रह्मकर्तृक होने के कारण उसका सत्य होना स्वाभाविक ही है । रामानुज और वल्लभ दोनों ही आचार्य सत्कार्यवाद के पोषक हैं । सत्कार्यवाद यह सिद्ध करता है कि कार्य कारण की ही अवस्थाविशेष है फलतः कारण से अभिन्न है अतः उसका सत्य होना स्वतः सिद्ध है ।

इसके अतिरिक्त दोनों ही परिणामवादी हैं और ब्रह्म का अविकृत परिणाम मानते हैं। दोनों आचार्यों को मान्य अविकृतपरिणामवाद भी सृष्टि की सत्यता को सिद्ध करता है। सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है, स्वयं ब्रह्म ही सृष्टि रूप में परिणमित होता है। यह परिणाम भी सुवर्णकुण्डलवत् परिणाम है अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण कटककुण्डलादि अनेक रूपों में परिणत होने पर भी तत्वतः अविकृत ही रहता है उसी प्रकार सृष्टि रूप में परिणत होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, वह अविकारी ही रहता है। आचार्य वल्लभ को स्वीकृत ब्रह्म अपनी असाधारण शक्तियों के माध्यम से जगद्रूप में परिणमित होता है तथा रामानुज का ब्रह्म अपने चिदचिद्शरीर के माध्यम से परिणमित होता है। इस प्रकार ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने से सृष्टि की सत्यता में सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं है।

इस प्रकार रामानुज और वल्लभ दोनों आचार्य प्रपंच के भगवत्कार्य तथा सत्यत्व के विषय में एकमत हैं। दोनों ही आचार्य स्वीकार करते हैं कि सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है। यहाँ दोनों में मतभेद ब्रह्म की परिणमनक्रिया में है। आचार्य रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण परिणमनक्रिया ब्रह्म के चिदचिदंशों में होती है। इस प्रकार रामानुज चिदचिद् के माध्यम से ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हैं जबकि आचार्य वल्लभ ब्रह्म का साक्षात्परिणाम स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वयं ब्रह्म ही अपने सदंश के आविर्भाव पूर्वक प्रपंचरूप में परिणत होता है। इस प्रकार जहाँ वल्लभ को स्वीकृत परिणाम ब्रह्म का " साक्षात्परिणाम " कहलाता है। वहीं रामानुज को अभिमत परिणाम "द्वारक परिणाम " कहा जाता है। इसकी चर्चा सृष्टिसम्बन्धी अध्याय में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है।

रामानुज और वल्लभ के मतों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है जीव और ब्रह्म का अंशांशिभाव सम्बन्ध । दोनों ही आचार्य जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं । रामानुज ब्रह्म-जीव सम्बन्ध को विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध,शरीरशरीरी-सम्बन्ध,शेषशेषीसम्बन्ध अनेक रूपों से स्पष्ट करते हैं, किन्तु इन सभी सम्बन्धों का निष्कर्ष एक ही है कि जीव ब्रह्म का अंश है क्योंकि उसका ब्रह्म से भेदपूर्वक और अभेदपूर्वक दोनों प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है ।

ब्रह्मांश होने के कारण उसकी सत्यता तथा ब्रह्माधीनता स्वत: ही स्पष्ट है । दोनों आचार्यों में जो साम्य है, वह यह कि दोनों ही आचार्य अंशत्व को सत्य व स्वाभाविक स्वीकार करते हैं,शंकर और भास्कर की भाँति औपाधिक नहीं, किन्तु दोनों के मतों में यह साम्य होने पर भी दोनों को स्वीकृत अंशांशिभाव से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं वे भिन्न - भिन्न हैं । रामानुज विशिष्टाद्वैत की सिद्धि करते हैं तो वल्लभ शुद्धाद्वैत की । रामानुज जीव की ब्रह्मात्मकता स्वीकार करने पर भी जीव की विशेषण अथवा प्रकार रूप से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु वल्लभ को उनका यह मत स्वीकार नहीं है । वे जीव को विशेषण अथवा प्रकार नहीं मानते अत: उसकी ब्रह्म से भिन्न जीवरूप से स्वतन्त्र सत्ता को भी स्वीकृति नहीं देते , उनके अनुसार जीव की सत्ता ब्रह्मरूप से ही है,जीवरूप से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । यही आचार्य रामानुज और वल्लभ में सबसे बड़ा अन्तर है । तथा यह भेद ही दोनों की भिन्न - भिन्न धारणा का प्रमुख आधार है । अंशांशिभाव दोनों को स्वीकार होने पर भी रामानुज अपृथक्सिद्धि

का प्रतिपादन करते हैं तो वल्लभ तथात्मकता का ।

इसके अतिरिक्त दोनों ही भक्तिमार्गीय आचार्य हैं । रामानुज तो भक्ति को शास्त्रीय प्रतिष्ठा दिलाने वाले प्रथम आचार्य हैं । यद्यपि दोनों ही आचार्य भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति का अन्यतम साधन स्वीकार करते हैं किन्तु भक्ति शब्द का अर्थ दोनों के अनुसार भिन्न- भिन्न है । रामानुज वेदन,ध्यान और उपासना को भक्ति का पर्याय मानते हैं तथा वे ज्ञान विशेष को ही भक्ति कहते हैं -" भक्तिः ज्ञानविशेष एव " वल्लभ स्नेहपूर्विका सेवा को भक्ति कहते हैं । इस प्रकार रामानुज का उपासनात्मिका भक्ति पर अधिक आग्रह दृष्टिगोचर होता है और वल्लभ का रागात्मिका भक्ति पर किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रामानुज भक्ति में प्रेम का अभाव मानते हैं, प्रेम तो भक्ति का प्राण तत्त्व है, प्रेम के बिना तो उपासना ही सम्भव नहीं है, किन्तु वे ईश्वर के माहात्म्य ज्ञानादि पर अधिक बल देते हैं और इस तरह रामानुज की भक्ति गीता के अधिक निकट है और वल्लभ की भक्ति भागवत के अधिक निकट है । इसी प्रकार आचार्य वल्लभ भी यद्यपि ज्ञान की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते किन्तु ज्ञान और कर्म से युक्त भक्ति को वे मर्यादा भक्ति की संज्ञा प्रदान करते हैं । मर्यादा भक्ति से मुक्ति तो प्राप्त होती है किन्तु भगवत्प्राप्ति नहीं होती । भगवत्प्राप्ति तो एकमात्र श्रीकृष्ण के प्रति अहैतुकी भक्ति से ही होती है, यही वाल्लभ मत में सर्वोच्च भक्ति है, इसे ही आचार्य पुष्टिभक्ति कहते हैं ।

इस प्रकार प्रपत्तिमार्ग किंचित जीवप्रयत्नसापेक्ष है और पुष्टिमार्ग जीवप्रयत्न निरपेक्ष, वस्तुत: शरणागति और प्रेम तो भक्ति के पूरक तत्व हैं । अत: वाल्लभ मत में भी शरणागति तो आवश्यक ही है किन्तु इनके वाङ्मय का अध्ययन करने से इस प्रकार की धारणा बनती है कि रामानुजीय प्रपत्ति मार्ग में जीवकर्तृत्व के लिए अधिक अवकाश है और वाल्लभ पुष्टिमार्ग में भगवत्कृपा की महत्ता अधिक है, जीवकर्तृत्व गौण है ।

इसके अतिरिक्त दोनों मतों में सबसे महत्वपूर्ण वैषम्य यह है कि आचार्य वल्लभ पुष्टि द्वारा जीव के प्रारब्ध का भी क्षय स्वीकार करते हैं जबकि रामानुज प्रारब्ध-भोग को अनिवार्य मानते हैं । प्रपत्ति जीव के संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश तो करती है किन्तु प्रारब्ध का नाश नहीं करती जबकि वाल्लभ मत के अनुसार पुष्टि जीव के प्रारब्ध कर्मों का भी क्षय करने में समर्थ है । यद्यपि रामानुज सम्प्रदाय के ही एक अन्य आचार्य वेदान्तदेशिक ने भी प्रपत्ति द्वारा प्रारब्धकर्मों का क्षय स्वीकार किया है किन्तु रामानुज के ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता । जीवन्मुक्ति की कल्पना भी दोनों आचार्यों को स्वीकार नहीं है, ये एकविधा मुक्ति ही मानते हैं - इनके अनुसार मुक्ति शरीरपात के अनन्तर ही होती है ।

दोनों आचार्यों में एक और वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है और वह है प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य उपजीव्य स्रोतों की महत्त्वपूर्ण स्थिति । आचार्य रामानुज के विचारों पर आल्वार सन्तों का प्रभाव स्पष्टत: दिखाई पड़ता है, विशेषत: उनके भक्ति सिद्धान्त पर आल्वारों का सर्वातिशायी प्रभाव दृष्टिगोचर

होता है किन्तु उनसे प्रभावित होने पर भी आचार्य ने अपने ग्रन्थों में कहीं उनका उद्धरण नहीं दिया है, यह आश्चर्य का विषय है ।

आचार्य वल्लभ प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत को भी प्रमाण स्वीकार करते हैं और इस प्रकार वे "प्रस्थानचतुष्टय " मानते हैं । आचार्य वल्लभ के भक्ति सिद्धान्त विशेषतः पुष्टिमार्ग का तो उपजीव्य ही श्रीमद्भागवत है । उनकी दृष्टि में भागवत उपनिषदों से भी अधिक महत्वपूर्ण है, कहीं - कहीं तो उन्होंने भागवत के प्रतिपाद्य को उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य भी कह दिया है ।

इस प्रकार कुछ सूक्ष्म अन्तरों के होने पर भी आचार्य रामानुज तथा वल्लभाचार्य के मतों में गहरी समानतायें हैं । भक्ति को शास्त्रीय प्रतिष्ठा दिलाने तथा भक्ति का मोक्षसाधकत्व प्रतिपादित करने वाले आचार्यों की परम्परा में रामानुज प्रथम और वल्लभ अन्तिम आचार्य हैं । सिद्धान्तरूप में रामानुजाचार्य का "विशिष्टाद्वैत" और वल्लभाचार्य का " शुद्धाद्वैत" तथा व्यावहारिक रूप में रामानुज का प्रपत्तिमार्ग और वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग वैष्णव दर्शन की अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ रही हैं । दोनों ही आचार्यों का दर्शन साधनहीन सामान्य व्यक्ति की समस्याओं के प्रति विशेष सहानुभूतिपूर्वक रखता है । वैष्णव धर्म के प्रचारक के रूप में दोनों आचार्यों का योगदान अतुलनीय व अविस्मरणीय है ।

xxxxxx

(भाग एक और दो) श्रीभाष्य - प्रस्तोता निम्बार्काचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, 12 महाजनी टोला, प्रयाग ।

श्रीमद्भगवद्गीता (रामानुजभाष्य) - गीता प्रेस, गोरखपुर

वेदान्तसार - आचार्य रामानुज, विद्याविलास, वाराणसी

वेदार्थसंग्रह - आचार्य रामानुज, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसी ।

श्रीवल्लभ वेदान्त (अणुभाष्य) - प्रस्तोता निम्बार्काचार्य, ललित कृष्ण गोस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, 12 महाजनी टोला, प्रयाग ।

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध - श्री केदारनाथ मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी -।

शुद्धाद्वैतमार्तण्ड - श्री वल्लभाचार्य, गोस्वामी गिरिधर जी महाराज, सम्पूर्णानन्द (वाराणसेय) संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

पुष्टिमार्गलक्षणानि - हरिराय वाङ्मुक्तावली

षोडशग्रन्थ - श्रीवल्लभाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

विद्वन्मण्डनम् - श्रीविट्ठलनाथ, श्री वल्लभ पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद : श्री वल्लभाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

सुबोधिनी (टीका श्रीमद्भागवत) : श्री वल्लभाचार्य, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, बनारस ।

ऐतरेयोपनिषद: : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

कठोपनिषद : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

केनोपनिषद : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

वृहदारण्यकोपनिषद - गीताप्रेस, गोरखपुर ।

भक्ति का विकास : डा० मुंशीराम वर्मा, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी ।

भारतीय दर्शन का इतिहास (तीन भाग एवं चार) : डा० एस०एन०दासगुप्त, राजस्थान ग्रन्थ एकादमी, जयपुर ।

भारतीय दर्शन (भाग एक एवं दो) : डा० राधाकृष्णन, लन्दन जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड

भारतीय दर्शन : पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी ।

भागवत सम्प्रदाय : पं० बलदेवउपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

भारतीय दर्शन : देवराज ।

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण : डा० संगम लाल पाण्डेय ।

कविवर परमानन्ददास और वल्लभ सम्प्रदाय ।	:	डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ।
श्रीभाष्य (1-14 भाग)	:	शिव प्रसाद द्विवेदी
न्याय सिद्धाञ्जन	:	वेदान्तदेशिकाचार्य, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, प्रकाशन वाराणसी ।
सर्वदर्शनसंग्रह	:	माधवाचार्य, चौखम्बा भवन, वाराणसी ।
सांख्यकारिका	:	ईश्वरकृष्ण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
यतीन्द्रमतदीपिका	:	श्रीनिवासाचार्य, रंगनाथप्रेस, वृन्दावन ।
तत्त्वत्रयम् (लोकाचार्य विरचितम्)	:	शिव प्रसाद द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन केन्द्र, बाराबंकी- फैजाबाद ।
भारतीय दर्शन	:	डा० उमेश-मिश्रा
भारतीय चिन्तन परम्परा	:	के० दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली
भारतीय दर्शन	:	डा० बद्रीनाथ सिंह, स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, हिन्दू विश्वविद्यालय मार्ग, वाराणसी ।
श्वेताश्वतरोपनिषद	:	गीताप्रेस, गोरखपुर ।
मुण्डकोपनिषद	:	गीताप्रेस, गोरखपुर ।
माण्डूक्योपनिषद	:	गीताप्रेस, गोरखपुर ।

छान्दोग्योपनिषद : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य : सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम।

पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन : रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

वैष्णव साधना और सिद्धान्त : डा0 भुवनेश्वर नाथ मिश्र "माधव"

वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त: राधारानी अग्रवाल, पं0 राम प्रताप शास्त्री चैरिटेबिल ट्रस्ट ब्यावर राजस्थान।

ब्रजस्थ वल्लभ सम्प्रदाय का इतिहास: प्रभुदयाल मीतल, साहित्य, संस्थान, मथुरा।

ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द फिलासफी आफ रामानुज । : डा0 अणिमा सेन गुप्ता, द चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी ।

द फिलासफी ऑफ विशिष्टाद्वैत : पी0एन0 श्रीनिवासाचारी, द आड्यार लायब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर ।

लाइफ आफ श्रीरामानुज : स्वामी रामकृष्णानन्द, द प्रेसीडेन्ट, श्री रामकृष्ण मठ, माइलापुर (Mylapore) मद्रास ।

आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन । : डा0 राजलक्ष्मी वर्मा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, की डी0फिल0 उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

द फिलासफी ऑफ वल्लभाचार्य : डा० मृदुला मारफतिया, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली ।

ब्रह्मसूत्राज, श्रीभाष्य : स्वामी वीरेश्वरानन्द एण्ड स्वामी अधिदेवानन्द, अद्वैत आश्रम, फाइव देही एण्टेली रोड, कलकत्ता ।

नेचर एण्ड डेस्टिनी ऑफ सोल इन इण्डियन फिलासफी : जी० सुन्दर रमैय्या, आन्ध्रा यूनिवर्सिटी प्रेस, विशाखापत्तनम

श्रीवल्लभाचार्य एण्ड हिज डॉक्ट्रिन्स : प्रो० जी०एच०भट्ट, श्रीवल्लभ पब्लिकेशन्स, बड़ौदा ।

दर्शन -दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद

भारतीय साधना की धारा : महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

वेदान्तसार: (सदानन्दयोगीन्द्र विरचितम्) : डा० सन्त नारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन प्रकाशन, इलाहाबाद

वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् : डा० मलिक मोहम्मद
और हिन्दी कृष्ण काव्य ।

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीन दयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य
(भाग एक एवं दो) सम्मेलन, प्रयाग ।

भारतीयदर्शन : आलोचन और : चक्रधर शर्मा ।
अनुशीलन ।

भक्तिकाव्य की दार्शनिक चेतना : डा० नारायण प्रसाद बाजपेयी

श्री वल्लभाचार्य : एम०सी०पारिख ।

xxxxxxx